VIDYA UNIVERSITY PRESS

TOUCH n PASS

सर्वश्रेष्ठ परीक्षा पथ-प्रदर्शक

B.A.
प्रथम वर्ष
(सर्टिफिकेट कोर्स)
सेमेस्टर-I

गृहविज्ञान

पोषण एवं मानव विकास के आधारभूत सिद्धान्त

SYLLABUS

PART-A

UNIT-I Traditional Home Science and its Relevance in current era Contribution made by Indian Home Scientists i.e. M. Swaminathan, C. V. Gopalan, S. K. Dey & Rabindra Nath Tagore.

UNIT-II Structure and function of Digestive System, Respiratory and Cardiovascular system.

UNIT-III Food and Nutrition

Food-Meaning, Classification and function; Nutrition-Concept of Nutrition; Nutrients-Macro and Micro, sources and deficiency diseases.

UNIT-IV Cooking Methods-Methods, Advantages and Disadvantages Preservation of Nutrients while Cooking.

Methods of enhancing nutritional value of foods by germination, fermentation, Food spoilage, Food preservation, Food adulteration, Food laws and standards.

PART-B

UNIT-V Introduction to Human Development:

- Concept, Definition and need to study of Human Development
- Domains, Stages and contexts of development; Principles of Growth and Development
- Determinants of Development-heredity and environment

UNIT-VI Prenatal Development and Birth Process:

- Conception, Pregnancy and Childbirth Stages of birth
- Types of delivery (natural, c-section, breech, home vs. assisted delivery)
- Physical appearance and capacities of the new-born
- Factors affecting Pre-natal development.

UNIT-VII Infancy:

- Developmental tasks during Infancy and Preschool Stage.
- Physical and Motor Development.
- Social and emotional development.
- Cognitive and language development.

UNIT-VIII Early Childhood (Pre School) years:

- Developmental Tasks during Early childhood.
- Physical and Motor Development.
- Social and emotional development.
- Cognitive and language development.

TOUCH n PASS

VIDYA UNIVERSITY PRESS

पंजीकृत कार्यालय
विद्या लोक, टी०पी० नगर, बागपत रोड,
मेरठ, उत्तर प्रदेश (NCR) 250 002
फोन : 0121-2513177, 2513277
www.vidyauniversitypress.com

© प्रकाशक

सम्पादन एवं लेखन
शोध एवं अनुसन्धान प्रकोष्ठ

मुद्रक
विद्या यूनिवर्सिटी प्रेस

TOUCH n' PASS

विषय-सूची

PART-A

UNIT-I : पारम्परिक गृहविज्ञान एवं वर्तमान काल में इसकी प्रासंगिकता ...3
UNIT-II : पाचन, श्वसन एवं परिसंचरण तन्त्र ...14
UNIT-III : आहार एवं पोषण ...35
UNIT-IV : भोजन पकाने की विधियाँ ...58

PART-B

UNIT-V : मानव विकास का परिचय ...76
UNIT-VI : गर्भकालीन विकास एवं जन्म प्रक्रिया ...100
UNIT-VII : शैशवावस्था ...120
UNIT-VIII : पूर्व बाल्यावस्था ...135
○ मॉडल पेपर ...152

PART–A

UNIT-I

पारम्परिक गृहविज्ञान एवं वर्तमान काल में इसकी प्रासंगिकता

Traditional Home Science and its Relevance in Current Era

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. गृहविज्ञान की प्रकृति से क्या आशय है?

उत्तर गृहविज्ञान की प्रकृति वैज्ञानिक तथा कलात्मक दोनों प्रकार की है। गृहविज्ञान में एक ओर अनेक शुद्ध तथा व्यावहारिक विषयों के अंश सम्मिलित किए जाते हैं, तो दूसरी ओर गृह सुव्यवस्था, साज-सज्जा आदि सम्बन्धित कलात्मक अंश सम्मिलित हैं।

प्र.2. गृहविज्ञान के उद्देश्यों के नाम लिखिए।

उत्तर गृहविज्ञान के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार हैं—

1. कौशलात्मक, 2. ज्ञानात्मक, 3. सृजनात्मक, 4. अवबोधात्मक, 5. क्रियात्मक

प्र.3. हरित क्रान्ति का जनक किसे कहा जाता है?

उत्तर हरित क्रान्ति का जनक एम०एस० स्वामीनाथन को कहा जाता है।

प्र.4. एम०एस० स्वामीनाथन को भारत सरकार द्वारा पद्म श्री, पद्म भूषण और पद्म विभूषण से किन-किन वर्षों में सम्मानित किया गया?

उत्तर एम०एस० स्वामीनाथन को विज्ञान एवं अभियान्त्रिकी के क्षेत्र में भारत सरकार द्वारा सन् 1967 में 'पद्म श्री', 1972 में 'पद्म भूषण' और 1989 में 'पद्म विभूषण' से सम्मानित किया गया था।

प्र.5. एम०एस० स्वामीनाथन ने पीएच०डी० की डिग्री किस वर्ष तथा किस विषय में प्राप्त की थी?

उत्तर सन् 1952 में एम०एस० स्वामीनाथन ने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से आनुवंशिकी में पीएच०डी० की डिग्री प्राप्त की।

प्र.6. नीलोखेड़ी कार्यक्रम के उद्देश्य बताइए।

उत्तर नीलोखेड़ी कार्यक्रम के निम्नलिखित उद्देश्य हैं—

1. पाकिस्तानी नागरिकों को विस्थापित करना।
2. उस बंजर भूमि को विकसित कर खेती योग्य बनाना।
3. लोगों को मूलभूत सुविधाएँ उपलब्ध कराना।
4. लोगों के जीवन यापन हेतु रोजगार का प्रबंध करना।
5. अपनी सहायता स्वयं करो की भावना विकसित करना।
6. कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए लोगों को प्रशिक्षित करना।
7. लोगों में सहयोग व समन्वय की भावना पैदा करना। आत्मनिर्भर होकर सम्मानपूर्वक जीवन जीने के लिए प्रेरित करना।

TOUCH 'n' PASS

प्र.7. नीलोखेड़ी योजना के विकास की गतिविधियों को बताइए।

उत्तर जब पाकिस्तानी विस्थापित भारत आए तब भारत सरकार के समक्ष उन्हें बसाने की एक चुनौती थी। रोजगार उपलब्ध करवाने के लिए औद्योगिक संस्थाओं को सरकारी स्तर पर स्थापित किया गया।

प्रशिक्षण केन्द्र खोले गए जिसमें मुर्गीपालन, पशुपालन, सुअरपालन, डेयरी टेक्नोलॉजी को बढ़ावा दिया गया। लोगों की बागवानी सिखाई गई। फलों सब्जियों की खेती करने लघु व कुटीर उद्योगों को अपनाने के लिए सरकारी तथा अन्य ऋण उपलब्ध करवाए गए। छोटे कुटीर उद्योगों की स्थापना हुई।

नीलोखेड़ी योजना का विकास के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। लोगों में आत्मविश्वास पैदा करना, जंगल में मंगल हुआ। लघु उद्योगों को अपनाकर आत्मनिर्भर बनकर उद्योगपति बन गए। इस योजना की सफलता को देखकर उसे अन्य क्षेत्रों में लागू किया गया।

प्र.8. रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'शांतिनिकेतन विद्यालय' की स्थापना कब और कहाँ की?

उत्तर सन् 1901 में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने बोलपुर में 'शांतिनिकेतन' विद्यालय की स्थापना की।

प्र.9. रवीन्द्रनाथ टैगोर के दार्शनिक विचार क्या हैं?

उत्तर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर में विलक्षण प्रतिभा थी जिसकी अभिव्यक्ति उन्होंने साहित्यकार, नाटककार, कवि, उपन्यासकार, लेखक, कहानीकार, अभिनेता, संगीतकार आदि रूपों में की। रवीन्द्रनाथ टैगोर के दार्शनिक विचार उनके द्वारा लिखी गई रचनाओं से स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। प्रकृतिवादी, आदर्शवादी, मानवतावादी, व्यक्तिवादी, यथार्थवादी, प्रयोजनवादी, समन्वयवादिता, आत्मा की स्वतन्त्रता, आस्तिकता, पूर्णता, स्वतन्त्रता और आनन्द, सौन्दर्योपासना, विश्ववादिता इत्यादि दार्शनिक विचार से ओत-प्रोत रचनाएँ उनके व्यक्तित्व को स्पष्ट करती हैं।

प्र.10. टैगोर के अनुसार शिक्षा का माध्यम कैसा होना चाहिए?

उत्तर टैगोर के अनुसार शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना चाहिए।

प्र.11. टैगोर ने 'नारी भवन' कब स्थापित किया था?

उत्तर सन् 1922 में टैगोर ने 'नारी भवन' स्थापित किया था।

प्र.12. रवीन्द्रनाथ टैगोर को नोबेल पुरस्कार कब मिला था?

उत्तर सन् 1913 में रवीन्द्रनाथ टैगोर को नोबेल पुरस्कार मिला था। इस पुरस्कार को पाने वाले वे प्रथम भारतीय थे।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. गृहविज्ञान की आवश्यकता को समझाइए।

उत्तर

गृहविज्ञान की आवश्यकता
(Need of Home Science)

भारतीय संस्कृति में वंश परिवार व परिवार में गृहिणी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। गृहिणी ही बालकों का पालनपोषण करती है, गृहिणी को घर की प्राणवायु यानि ऑक्सीजन की संज्ञा दी गई है। परिवार की धुरी है, इसलिए उसका शिक्षित होना अत्यावश्यक है। जब आप एक पुरुष को शिक्षित करते हैं तो एक व्यक्ति शिक्षित होता है किन्तु जब आप एक स्त्री को शिक्षित करते हैं तो पूरा परिवार व परिवेश शिक्षित होता है। इसलिए स्त्री शिक्षा को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

गृहविज्ञान विषय कलात्मक विज्ञान का विषय है, जिसमें विज्ञान के साथ-साथ कला की भी शिक्षा सम्मिलित है। कला व विज्ञान का संगम है जिसमें आहार विज्ञान एवं पोषण, उपचारात्मक पोषण, वस्त्रविज्ञान, मानव शरीर-क्रियाविज्ञान वैज्ञानिक विषय है। उसी जगह मातृकला व शिशुकल्याण, वस्त्र सिलाई एवं धुलाई कला, गृहप्रबन्ध व आन्तरिक सज्जा इत्यादि कलात्मक विषय हैं।

प्र.2. जीवन की गुणवत्ता बनाए रखने के लिए गृहविज्ञान की प्रासंगिकता को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

जीवन की गुणवत्ता बनाए रखने के लिए गृहविज्ञान की प्रासंगिकता
(Relevance of Home Science for Maintaining Quality of Life)

गृहविज्ञान शिक्षा की वह विधा है जिसमें पाकशास्त्र, पोषण विज्ञान, गृह अर्थशास्त्र, उपभोक्ता विज्ञान, बालकों की परवरिश, आन्तरिक सज्जा, वस्त्र व परिधान व गृहनिर्माण आदि का अध्ययन किया जाता है।

गृहविज्ञान, गृह + विज्ञान दो शब्दों से बना है जिसमें सभी चीजें शामिल होती हैं। जो व्यक्ति घर, परिवार, समाज व संसाधनों से सम्बन्धित होती हैं। बेहतर जीवनयापन के लिए शिक्षा के रूप में यह पारिस्थितिक तन्त्र है। इसका उद्देश्य वैज्ञानिक तत्त्व पर आधारित मानव पर्यावरण, परिवार, पोषण संसाधनों के प्रबन्धन और बाल विकास में सुधार के लिए विभिन्न विज्ञानों व मानविकी को उपयोग किया गया है।

भारत में स्त्री अधिकारों के लिए सार्वजनिक रूप में अभियान ब्रह्मसमाज के अग्रणी नेता देवेन्द्र नाथ ठाकुर की पुत्री स्वर्ण कुमारी देवी जो श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर की बहन थी, ने आरम्भ किया। उन्होंने सन् 1882 में कलकत्ता में विधवा व गरीब महिलाओं को शिक्षित व आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बनाने के लिए प्रशिक्षण की शुरुआत की। सन् 1910 में स्वर्ण कुमारी देवी की पुत्री सरला देवी चौधरानी ने भारत में स्त्रियों के लिए स्त्रीमण्डल की स्थापना करके शिक्षित करने का अभियान चलाया।

प्र.3. गृहविज्ञान एक कला है, इस बात की पुष्टि कीजिए।

उत्तर

गृहविज्ञान एक कला है
(Home Science is an Art)

1. **गृह की साज-सज्जा व सुव्यवस्था में सहायक है**—इसके लिए गृहविज्ञान के अन्तर्गत एक व्यवस्थित कला के सभी सिद्धान्त अपनाए जाते हैं—
   (i) **सही अनुपात**—कमरे की परिमाप के अनुसार वस्तुओं का छोटा या बड़ा होना।
   (ii) **सन्तुलन**—कमरे में रखी हुई सभी वस्तुओं में प्रभावी सन्तुलन रखा जाता है।
   (iii) **अनुरूपता एवं सामंजस्य**—रंगों की अनुरूपता तथा सामंजस्य आदि का ज्ञान गृहविज्ञान से ही प्राप्त होता है।
   (iv) **भाव**—प्रत्येक कलात्मक वस्तुओं का कोई भाव अवश्य होता है, इस दृष्टि से सजावट तथा सुव्यवस्था में भी कोई-न-कोई भाव होता है।
2. **वस्त्रों की धुलाई**—कपड़ों का चयन तथा उनकी सिलाई कलात्मकता पर आधारित होती है।
3. **भोजन की तैयारी तथा परोसने में कलात्मकता का ध्यान रखना आवश्यक होता है**—गृहविज्ञान का पाक-शास्त्र पर आधारित अंश का एक कलात्मक विषय है।
4. **घरेलू बागवानी**—आदि विज्ञान होने के साथ-साथ कलात्मक भी है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि गृहविज्ञान की प्रकृति वैज्ञानिक तथा कलात्मक दोनों है। इसलिए गृहविज्ञान 'कला एवं विज्ञान' दोनों है।

प्र.4. गृहविज्ञान का व्यावहारिक महत्त्व क्या है? समझाइए।

उत्तर

गृहविज्ञान का व्यावहारिक महत्त्व
(Behavioural Importance of Home Science)

गृहविज्ञान केवल सैद्धान्तिक ज्ञान नहीं देता अपितु यह प्रयोगात्मक रूप से बालिकाओं को व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करके उन्हें उत्तम जीवन के लिए तैयार करता है। गृहविज्ञान का व्यावहारिक महत्त्व इस प्रकार है—

1. **गृह प्रबन्ध**—गृह प्रबन्ध के क्षेत्र में घर की सफाई, घर के फर्नीचर की सफाई तथा पॉलिश, धातु के बर्तनों तथा वस्तुओं की सफाई एवं प्रतिदर्श बजट का लेखा रखने का व्यावहारिक प्रशिक्षण दिया जाता है।
2. **भोजन तथा पोषण विज्ञान**—विभिन्न प्रकार के मॉडल तथा चार्टों का अध्ययन, पाचन अंगों का चित्रांकन, खाद्य तत्त्वों का संकलन, सन्तुलित आहार की तालिकाएँ बनाना, भोजन पकाने की विभिन्न एवं सही विधियाँ, भोजन परोसना, रोगी का भोजन—फटे दूध का पानी, साबूदाने का पानी, खिचड़ी, सूप, सब्जियों का रस, फलों का रस तथा पन्ना बनाना आदि के द्वारा विभिन्न प्रकार के कौशल विकसित होते हैं।
3. **वस्त्र एवं सूत्र विज्ञान**—विभिन्न प्रकार के वस्त्रों के नमूनों का संग्रह, सिलाई किट तैयार करना, बेबी फ्रॉक, कुर्ता-पायजामा या पेटीकोट आदि की सिलाई, विभिन्न प्रकार के फैंसी टाँकों से किसी वस्तु की कढ़ाई, निष्प्रयोजन या बेकार सामान से सजावट या उपयोग की वस्तु बनाना, वस्त्रों की धुलाई, सफाई आदि का व्यावहारिक ज्ञान जीवन की गुणवत्ता में सुधार करता है।
4. **प्राथमिक चिकित्सा और गृह परिचर्या**—गृहिणी की कुशलता तथा धैर्य का परीक्षण प्राथमिक चिकित्सा के समय किया जाता है। इसके लिए गृहिणी से तिकोनी पट्टियाँ, खपच्चियों का प्रयोग, कृत्रिम साँस लेने की विधियाँ, हस्त आसन द्वारा स्थानान्तरण, बिस्तर लगाना तथा चादर बदलना, स्पंज, गर्म सेंक, पुल्टिस, भपारा लेना, बर्फ की थैली, गर्म पानी की थैली का प्रयोग एवं तापक्रम आदि के चार्ट बनाने के कौशल से गृहिणी की गुणवत्ता का विकास होता है।

प्र.5. गृहविज्ञान एक विज्ञान है, इस बात को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

गृहविज्ञान एक विज्ञान है
(Home Science is a Sciene)

1. **यह वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित विषय है**—गृहविज्ञान में स्वास्थ्य, चिकित्सा और शारीरिक सुरक्षा के नियमों का पता लगाने के लिए स्वास्थ्य विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान तथा औषधि विज्ञान से जानकारी प्राप्त की जाती है। इस प्रकार आधुनिक गृहविज्ञान, वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित विषय है।
2. **यह तथ्यों पर आधारित है**—गृहविज्ञान में संकुचित गृह प्रबन्ध, स्वास्थ्य विज्ञान, शरीर विज्ञान, आहार एवं पोषण, गृह परिचर्या, बाल विकास एवं वस्त्र विज्ञान आदि से सम्बन्धित सम्पूर्ण ज्ञान तथ्यात्मक है। अत: गृहविज्ञान तथ्यों पर आधारित विषय है।
3. **गृहविज्ञान के सिद्धान्त सार्वभौमिक हैं**—इस विषय में स्वास्थ्य, पोषण, चिकित्सा, प्राथमिक सहायता, बालकों की देखभाल आदि से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्त विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में सार्वभौमिक रूप से लागू होते हैं।
4. **गृहविज्ञान कार्य-कारण सम्बन्धों की व्याख्या करता है**—गृहविज्ञान के अन्तर्गत यह अध्ययन किया जाता है कि पारिवारिक परिवेश का पारिवारिक बच्चों पर क्या मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है? इस प्रकार कार्य-कारणों से सम्बन्धित प्रभाव की व्याख्या की जाती है।
5. **गृहविज्ञान के सिद्धान्त प्रामाणिक हैं**—गृहविज्ञान के सिद्धान्तों की प्रामाणिकता में कोई संदेह नहीं है, ये विश्वसनीय हैं, सन्तुलित आहार का सिद्धान्त प्रामाणिक सिद्धान्त है।

प्र.6. डॉ० सी०वी० गोपालन जी की प्रमुख देन क्या है? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

सी०वी० गोपालन (C.V. Gopalan)

Father of Indian Research डॉ० गोपालन एक भारतीय पोषण विशेषज्ञ थे उन्होंने भारत में सर्वप्रथम पोषण अनुसंधान की शुरुआत की। समेकित बाल-विकास सेवाएँ, स्कूली बच्चों के लिए दोपहर का भोजन, गणक निवारण-कार्यक्रम इत्यादि। पद्म विभूषण व पद्म श्री 2003 में मिली थी।

हैदराबाद National Institute of Nutrition में 1960 से 1974 तक रहे। 1974 में Director general ICMR में 1979 तक रहे।

NIN (National Institute of Nutrition) के संस्थापक सम्पूर्ण जीवन रहे। इनके द्वारा भारतीय भोजन पर बहुत काम किया गया। पोषण मूल्यों को 500 लोगों पर शोध किया इसका परिणाम हुआ कि अपने देश में विकसित किया दैनिक Recommended dietary allowances.

आज NIN में बहुत सारे पोषण से सम्बन्धित कार्य हो रहे हैं। 1970 में ICDS समन्वित बाल विकास योजना की शुरूआत की जिसमें Vitamin व Iron supplementation को बढ़ावा दिया गया।

डॉ० गोपालन की अवधारणा थी कि मेडिकल व पोषण विज्ञान दोनों का सम्बन्ध है। इसे बहुआयामी व बहुउद्देशीय विषय मानते थे। यह सत्य है कि ICMR के द्वारा पोषण व पोषण विज्ञान में महत्त्वपूर्ण परिणाम व बहुआयामी विकास की योजनाएँ गोपालन महोदय, ने दी। भारतीय चिकित्सा अनुसन्धान परिषद् के भोज्य विशेषज्ञों द्वारा भारतीयों के लिए दैनिक पोषण तत्त्वों की प्रस्तावित मात्रा 1993 Recommnded Dietary allowances for Indian ICMR 1993, C.V. Gopalan महोदय द्वारा प्रारम्भ किया गया प्रस्ताव है। जो पोषण विज्ञान के क्षेत्र में मानक के रूप में प्रस्तावित हैं जिसे किसी भी प्रकार को पोषण से सम्बन्धित शोध का आधार माना जाता है। गृहविज्ञान में पोषण आहार एक महत्त्वपूर्ण शाखा है इसलिए सी०वी० गोपालन के द्वारा दिया गया मानक पोषण व पोषणता से सम्बन्धित किसी भी परिचर्या व आधार के लिए मानक स्थापित है।

प्र.7. एस०के० डे ने किस कार्यक्रम की शुरुआत की थी? उसका परिचय दीजिए।

उत्तर

एस०के० डे (S.K. Dey)

"गृहविज्ञान प्रसार शिक्षा ग्रामीणों तक गृहविज्ञान से सम्बन्धित बातों की जानकारी पहुँचाने का एक तरीका है। जिसके माध्यम से वैज्ञानिकी एवं तकनीकी बातें उन तक पहुँचाई जाती हैं, जिन्हें कार्यकलापों को ठीक ढंग से सम्पन्न करने, उत्पादन बढ़ाने तक उत्तरोत्तर करने की आवश्यकता होती है"

Home Science Extension deals with the means and methodology of scientific and technological information in the areas of Home Science to the people to whom scientific and technological is of great significance in their activities production and improvements. —*S.K. Dey.*

एस०के० डे के निर्देशन में नीलोखेड़ी-विकास कार्यक्रम की शुरुआत हुई।

यह योजना इसलिए शुरू हुई क्योंकि भारत की आजादी के बाद भारत छोड़ने से पूर्व इसे दो टुकड़े में बाँटा गया भारत व पाकिस्तान। इस बँटवारे के पश्चात् हिंसा हुई। भारत के सामने बड़ी चुनौती यह थी कि पाकिस्तानी विस्थापितों को कहाँ बसाया जाए। उस समय सामुदायिक विकास एवं सहकारिता मंत्री एस०के०डे० ने ग्रामीण शहरी लोगों के लिए आवश्यकता की पूर्ति करना तथा उन्हें स्वयं सेवा करने के लिए प्रेरित किया।

पाकिस्तानी विस्थापितों को बसाने के लिए नीलोखेड़ी को चुना गया है। हरियाणा राज्य में कुरुक्षेत्र के पास नीलोखेड़ी स्थान में जो जंगल व दलदल था, स्थानांतरित कर दिया गया। पाकिस्तानी विस्थापितों को यहाँ बसाया गया, यही क्षेत्र नीलोखेड़ी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यहाँ बहुआयामी योजनाएँ चलायी गई।

प्र.8. रवीन्द्रनाथ टैगोर के शिक्षा सम्बन्धी विचारों को बताइए।

उत्तर

शिक्षा सम्बन्धी विचार
(Thought Related to Education)

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर जी की शिक्षा सम्बन्धी विचारधारा उन्हें महान शिक्षाशास्त्री मानती है क्योंकि यशस्वी साहित्यकार, रचनाकार होकर उन्होंने विश्वभारती शान्तिनिकेतन की स्थापना की। जिसे उनके शिक्षा सम्बन्धी विचारों का जीवन्त स्वरूप के रूप में जाना जाता है।

"The highest education is that which does not merely give us information, but makes our life hormonious with all existence"

"सर्वोच्च शिक्षा वह है जो हमें न केवल सूचना प्रदान करती है, वरना हमारे जीवन का सामंजस्य बाह्य सत्ता से जोड़ती है।"

इसी विचारधारा में एकतरफ कहते हैं कि "जीवन में जो भी साहसपूर्ण कदम उठाए जाते हैं शिक्षा उसका स्थायी अंग है। यह जीवन में एकमात्र बालकों की मूल प्रवृत्तियों के उपचार का औषधालय नहीं है।"

"Education is a permanent part of the adventure of life. It is not like a painful hospital treatment of curing students."

दूसरी तरफ कहते हैं कि—

Education has its only freedom from passion and prejudice in our communication with the human world."

शिक्षा का एकमात्र अर्थ एवं लक्ष्य स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता के आन्तरिक संसार तथा जीवन का आनन्द उठाना विद्यार्थी का अधिकार है।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. गृहविज्ञान का परिचय देते हुए गृहविज्ञान का महत्त्व स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

गृहविज्ञान का परिचय
(Introduction to Home Science)

राष्ट्र चाहे जो भी हो उसके सर्वांगीण विकास का मापदण्ड तत्कालीन समाज पर आधारित होता है। समाज की अभिन्न इकाई हैं परिवार व परिवार की धुरी गृहणी होती है। वह गृहस्थी का व्यवस्थापन, घर के प्रत्येक सदस्य की सुख सुविधाओं का प्रबन्ध, भोजन, वस्त्र की आपूर्ति, सुरक्षा, स्नेह एवं सहयोग प्रदान करती रहती है। मूलभूत आवश्यकताओं के साथ व्यक्तित्व विकास के लिए, साथ ही बौद्धिक विकास के लिए घर का अनुकूल वातावरण बनाए रखना भी शामिल है। घर के अन्दर की गतिविधियों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से व्यवस्थित करना ही गृहविज्ञान कहलाता है।

डॉ० रणजीत सिंह के शब्दों में, "Women in all the rural areas of the world, have tremendous impact for the future of familiar, social and economic development of their countries" महिलाएँ सभी जो ग्रामीण

क्षेत्रों में निवास करती हैं, परिवार, समाज व समुदाय का अभिन्न अंग हैं, विश्व के किसी भी देश के भविष्य के लिए सशक्त ढंग से प्रभावित करती है।

एक आदर्श घर की परिकल्पना स्वर्ग से की गई है—घर एक ऐसा संसार है जहाँ बालक बड़े होकर सुयोग्य नागरिक बनते हैं, उसके चरित्र का निर्माण होता है उनमें प्रेम, सहयोग, स्नेह, त्याग इत्यादि गुणों का विकास होता है। उनके आचरण व संस्कार घर में ही बनते हैं।

A Good home is heaven on earth. Home is the world in which the child grows into a man, with citizenship, respect for individual, satisfaction, optimum health, management of the resources.

एक मकान का निर्माण हाथों से होता है लेकिन घर का निर्माण हृदय द्वारा होता है। हृदय की आस्था, परस्पर प्रेम, सौहार्द, त्याग की भावनाओं से ओत-प्रोत परिवार के सदस्य एक छत के नीचे एक साथ रहकर घर बनाते हैं। प्राचीन काल से ही गृहनिर्माण को एक कला माना जाता था। मनु ने लिखा है कि घर बसाने के लिए एक कन्या को चौसठ कलाओं से परिपूर्ण होना आवश्यक है। उसे बाल्यावस्था से पाक कला, अतिथि सत्कार, बच्चों का पालन पोषण, घर के सदस्यों की देखभाल, नृत्य, संगीत, साहित्य, धर्म इत्यादि विषयों का ज्ञान देना चाहिए तभी वह विवाह योग्य मानी जाती थी इस तथ्य से प्रमाणित होता है कि गृह सम्बन्धी शिक्षा को ही आधुनिक समय में गृहविज्ञान की संज्ञा दी गई है।

गृहविज्ञान का महत्त्व
(Importance of Home Science)

जैसा व्यक्ति होता है वैसा ही समाज बनता है फिर राष्ट्र बनता है। उसी प्रकार परिवार में गृहिणी की भूमिका होती है, केन्द्र बिन्दु होती है। जब गृहिणी स्वस्थ मानसिकता वाली होती है तो आत्मनिर्भर, संस्कार-सद्गुणों का हस्तान्तरण पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होता रहेगा। गृहविज्ञान गृह की वैज्ञानिकता से सम्बन्धित है। गृहविज्ञान विषय घर परिवार को सुखी सम्पन्न व समृद्ध बनाने से जुड़ा हुआ है। वैसे घर तो सभी के चलते हैं परन्तु सुव्यवस्थित ढंग से यदि घर को परिवार की आवश्यकता की पूर्ति, गृहसज्जा, पथ्यापथ्य आहार व वस्त्रों की उपयोगिता से परिवार की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती है तथा सुख-शांति व संतोष की अनुभूति होती है। सारांश में गृहविज्ञान शिक्षा द्वारा एक महिला सम्पूर्णता प्रदान करती है जिससे उसे धन के साथ ही आत्म सन्तुष्टि एवं प्रशंसा मिलती है परिणामस्वरूप उसमें आत्मविश्वास जागृत होता है वह स्वयं यह अनुभव करती है। मानवीय गुणों का स्वत: विकास हो जाता है।

गृहविज्ञान विशेषज्ञ डॉ० पी० राजपाल देवदास के शब्दों में, "गृहविज्ञान शिक्षा प्राप्त कर एक लड़की आदर्श पाक विशेषज्ञ, भोजन प्रबन्धक, डॉक्टर, नर्स, मनोवैज्ञानिक, बैंकर, टेलर, माली, गवर्नेंस, शिक्षाविद, अर्थशास्त्री, गृह प्रबन्धक, आन्तरिक सज्जाकार, साथी एवं सामाजिक कार्यकर्ता बनती हैं। इन सबसे ऊपर वह एक स्नेहमयी पत्नी व करुणामयी माँ बनती है। विश्व का कोई भी विषय इतना अधिक बहुआयामी नहीं है, जितना कि गृहविज्ञान।"

No profession in the world is so great as that of a homemaker. She must be, to her family and community, a doctor, nurse, psychologist, banker, tailor, cook, nutritionist, caterer, gardener, child nurse, educationist, economist worker, home manager, decorator, companion, social worker, wife and a mother.

गृहविज्ञान प्राप्त लड़कियों को रोजगार के अनेक अवसर उपलब्ध होते हैं, जैसे—शिक्षिका, व्याख्याता, टी०वी० कलाकार, संगीतज्ञ, नर्सरी स्कूल की शिक्षिका, आन्तरिक सज्जाकार, ड्रेस डिजाइनर, पोषणविद, डायटिशियन महिला, बालविकास अधिकारी आदि।

प्र.2. डॉ० एम०एस० स्वामीनाथन को हरितक्रान्ति का अगुआ क्यों कहा जाता है?

उत्तर

एम०एस० स्वामीनाथन (M.S. Swaminathan)

जन्म—एम०एस० स्वामीनाथन का जन्म 7 अगस्त, 1925 को कुंभकोणम, तमिलनाडु में हुआ था। उनका पूरा नाम मंकोम्बो सम्बासीवन स्वामीनाथन था।

एम०एस० स्वामीनाथन प्रसिद्ध भारतीय कृषि वैज्ञानिक थे जो भारत की हरित क्रान्ति में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका के लिए विख्यात हैं।

स्वामीनाथन ने 1960 में जब भारत अन्न की कमी से जूझ रहा था तो उन्होंने ज्यादा पैदावार वाली गेहूँ की प्रजाति तैयार की। 1972 से 1979 तक वे भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के महानिदेशक रहे।

शिक्षा—1952 में एम०एस० स्वामीनाथन ने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से आनुवंशिकी में पीएच०डी० की। उन्होंने प्राणी विज्ञान और कृषि विज्ञान में स्नातक की डिग्रियाँ लीं।

हरित क्रान्ति के अगुआ—भारत लाखों गाँवों का देश है और यहाँ की अधिकांश जनता कृषि के साथ जुड़ी हुई हैं। इसके बावजूद अनेक वर्षों तक यहाँ कृषि से सम्बन्धित जनता भी भुखमरी के कगार पर अपना जीवन बिताती रही। इसका कारण कुछ भी हो पर यह भी सत्य है कि ब्रिटिश शासनकाल में भी खेती अथवा मजदूरी से जुड़े हुए अनेक लोगों को बड़ी कठिनाई से खाना प्राप्त होता था। कई अकाल भी पड़ चुके थे। भारत के सम्बन्ध में यह भावना बन चुकी थी कि कृषि से जुड़े होने के बावजूद भारत के लिए भुखमरी से निजात पाना कठिन है। इसका कारण यही था कि भारत में कृषि के सदियों से चले आ रहे उपकरण और बीजों का प्रयोग होता रहा था। फसलों की उन्नति के लिए बीजों में सुधार की ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया था।

एम०एस० स्वामीनाथन ही वे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने सबसे पहले गेहूँ की एक बेहतरीन किस्म को पहचाना और स्वीकार किया। इस कार्य के द्वारा भारत को अन्न के मामले में आत्मनिर्भर बनाया जा सकता था। यह मैक्सिकन गेहूँ की एक किस्म थी, जिसे स्वामीनाथन ने भारतीय खाद्यान्न की कमी दूर करने के लिए सबसे पहले अपनाने के लिए स्वीकार किया। इसके कारण भारत के गेहूँ उत्पादन में भारी वृद्धि हुई। इसलिए स्वामीनाथन को "भारत में हरित क्रान्ति का अगुआ" माना जाता है। स्वामीनाथन के प्रयत्न का परिणाम यह है कि भारत की आबादी में प्रतिवर्ष पूरा एक ऑस्ट्रेलिया समा जाने के बाद भी खाद्यान्नों के मामले में वह आत्मनिर्भर बन चुका है। भारत के खाद्यान्नों का निर्यात भी किया है और निरन्तर उसके उत्पादन में वृद्धि होती रही है।

पुरस्कार (Prizes)

1. 1971 में सामुदायिक नेतृत्व के लिए 'मैग्सेसे पुरस्कार' से नवाजा गया।
2. 1986 में उन्हें 'अल्बर्ट आइंस्टीन वर्ल्ड साइंस पुरस्कार'
3. 1987 में एम०एस० स्वामीनाथन को पहला विश्व खाद्य पुरस्कार मिला।
4. एम०एस० स्वामीनाथन को 1991 में अमेरिका में 'टाइलर पुरस्कार' से नवाजा गया।
5. 1994 में पर्यावरण तकनीक के लिए जापान का 'होंडा पुरस्कार' से सम्मानित किया गया।
6. 1997 में फ्रांस का 'ऑर्डर द मेरिट एग्रीकोल' (कृषि में योग्यताक्रम)
7. 1998 में मिसूरी बॉटेनिकल गार्डन (अमेरिका) का 'हेनरी शो पदक'
8. 1999 में 'वॉल्वो इंटरनेशनल एंवायरमेंट पुरस्कार'
9. 1999 में ही 'यूनेस्को गांधी स्वर्ण पदक' से सम्मानित

एम०एस० स्वामीनाथन को विज्ञान एवं अभियान्त्रिकी के क्षेत्र में भारत सरकार द्वारा सन् 1967 में 'पद्म श्री', 1972 में 'पद्म भूषण' और 1989 में 'पद्म विभूषण' से सम्मानित किया गया था।

शोध केन्द्र की स्थापना (Establishment of Research Centre)

विभिन्न पुरस्कारों और सम्मानों के साथ प्राप्त धनराशि से एम०एस० स्वामीनाथन ने वर्ष 1990 के दशक के आरम्भिक वर्षों में 'अवलंबनीय कृषि तथा ग्रामीण विकास' के लिए चेन्नई में एक शोध केन्द्र की स्थापना की।

'एम०एस० स्वामीनाथन रिसर्च फाउंडेशन का मुख्य उद्देश्य भारतीय गाँवों में प्रकृति तथा महिलाओं के अनुकूल प्रौद्योगिकी के विकास और प्रसार पर आधारित रोजगार उपलब्ध कराने वाली आर्थिक विकास की रणनीति को बढ़ावा देना है।

स्वामीनाथन एक ऐसा व्यक्तित्व है जो IPS (Indian Public Service) की नौकरी छोड़कर हरित क्रान्ति में जुट गए थे।

जब लालबहादुर शास्त्री प्रधानमन्त्री पद पर आसन थे तब हमारा भारत गेहूँ के संकट से गुजर रहा था। उस समय शास्त्री जी एक समय भूखे रहते थे। श्रीमती इंदिरा गांधी ने प्रधानमंत्री पदभार ग्रहण किया। उस समय भी संकट का दौर था अमेरिका से गेहूँ मँगाने की शर्त थी कि वो अपनी मुद्रा यानि रुपये का अवमूल्यन करेगा जो इतिहास में पहली बार था। ऐसे में स्वामीनाथन जी ऐसी बुरी स्थिति से बाहर आने के लिए देशी किस्म को विदेशी नस्ल के अनाजों के साथ मिला कर नई किस्में बनाई जो कम समय में बेहतर उत्पादन देती थी। पुराने तरीके से की जाने वाली खेती में नवीन तकनीक का प्रयोग किया जाए इस पर बल दिया। जिसका इस्तेमाल 60 के दशक में किया जाने लगा। 1966 में मैक्सिको के बीजों को पंजाब की घरेलू किस्मों के साथ मिश्रित कर उच्च उत्पादकता वाले गेहूँ के संकर बीज विकसित किए जिससे खाद्यान्न की कमी वाले देश को कम समय में आत्मनिर्भर बना दिया। 1967 में

पद्म श्री 1972 में पद्म भूषण व 1989 में पद्म श्री से सम्मानित किया गया। अप्रैल 1979 में योजना आयोग का सदस्य बनाया गया।

18 नवम्बर, 2004 से राष्ट्रीय किसान आयोग का गठन किया गया। इस आयोग के गठन का मुख्य उद्देश्य किसानों की स्थिति में सुधार लाना था जिसका नाम National Commission of Farmers Commette था। स्वामीनाथन समिति जनसंख्या नीति से भी सम्बन्धित है। 15 फरवरी, 2000 को गठित जनसंख्या नीति की घोषणा की गई।

एम०एस० स्वामीनाथन भारत के आनुवंशिक वैज्ञानिक हैं जिन्हें भारत की हरित क्रान्ति का जनक माना जाता है।

पोषण शास्त्र के प्रारम्भिक इतिहास में निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत विवेचना की जा सकती है—

1. Chemical Nature of Plant Foods and Animal Tissues पादप भोजन और जन्तु ऊतकों की रासायनिक प्रकृति।
2. Observation on respiration and energy output in animal and human subjects. पशु और मानव में श्वसन और ऊर्जा उत्पादन पर निरीक्षण।
3. Early studies on protein nutrition. प्रोटीन पोषण पर प्रारम्भिक अध्ययन।
4. Feeding experiments with Animal on purified diets leading to discovery of vitamins. शुद्ध आहार पर जानवरों के साथ प्रयोग करने से विटामिन की खोज हुई।
5. Observation on the treatment of cetrain disease in human being by changing diet. खानपान के बदलाव करके मनुष्य में कुछ रोग के उपचार पर निरीक्षण।

विभिन्न पुरस्कार व सम्मान प्राप्त धनराशि से स्वामीनाथन ने 1990 के दशक में अवलंबनीय कृषि तथा ग्रामीण विकास के लिए चेन्नई में एक शोध केन्द्र की स्थापना की जिसका उद्देश्य भारतीय गाँवों में प्रकृति तथा महिलाओं को प्रौद्योगिकी विकास और प्रसार पर आधारित रोजगार मिल सके। उनकी आर्थिक स्थिति सुधर सके।

गृहविज्ञान विषय में पोषण आहार से सम्बन्धित पाठ्यक्रम चलाया जाता है जिसमें स्वामीनाथन की किताबें बहुत ही सहयोग देती हैं—

1. Food and Nutrition.
2. Elements of food and nutrition.
3. Fundamental of food nutrition and diet therapy.
4. Nutrition Science.
5. Principles of Nutriton and Dietetics of Swaminathan.
6. Clinical Nutrition.
7. Advance textbooks on food and nutrition.
8. Nutrition and Dietetics.
9. Food science and Nutrition.

प्र.3. रवीन्द्रनाथ टैगोर का परिचय देते हुए उनके जीवनदर्शन पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

रवीन्द्रनाथ टैगोर
(Rabindra Nath Tagore)

रवीन्द्रनाथ टैगोर का जन्म एक प्रतिष्ठित ठाकुर परिवार में 1861 ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम ठाकुर देवेन्द्रनाथ टैगोर था। वे विद्वान, कलाप्रेमी, धर्मप्रिय, समाजसेवक तथा राष्ट्रभक्त थे। टैगोर का परिवार धनी था। परन्तु सादा जीवन उस परिवार की विशेषता थी। टैगोर पर इसका विशेष प्रभाव पड़ा। संस्कृति, साहित्य तथा दर्शन इस परिवार की सम्पत्ति थे। वहाँ सामाजिक और धार्मिक कार्य विधिवत् किए जाते थे। पारिवारिक वातावरण ने ही टैगोर को अपना स्वयं का जीवनदर्शन विकसित करने का अवसर दिया। रवीन्द्रनाथ टैगोर की शिक्षा घर पर ही आरम्भ की गई। उनको विभिन्न विषय पढ़ाने के लिए अलग-अलग शिक्षक नियुक्त किए गए थे। 12 वर्ष की आयु में बालक रवीन्द्र का यज्ञोपवीत संस्कार कर दिया गया। वर्ष 1878 में टैगोर ने इंग्लैण्ड की यात्रा की। वे वहाँ 1880 तक रहे। वहाँ उन्होंने लैटिन भाषा और अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन किया। वर्ष 1880 में टैगोर भारत वापस आ गए। 1881 में टैगोर ने लेखन कार्य आरम्भ किया। इनकी रचनाओं में समाज सुधार तथा राजनीतिक जागृति की प्रवृत्ति होती

थी। टैगोर उस समय की शिक्षा-प्रणाली से सन्तुष्ट न थे। इसी कारण उन्होंने अपने लेखों में शिक्षा-प्रणाली में सुधार की चर्चा की है। वर्ष 1882 में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने जनता को उस समय प्रचलित शिक्षा प्रणाली के दोषों से अपने निबन्ध 'शिक्षा के हेर-फेर' के द्वारा परिचित कराया। वर्ष 1901 में उन्होंने बोलपुर में 'शान्तिनिकेतन' की स्थापना की। इस विद्यालय में 5 छात्र और टैगोर स्वयं अकेले शिक्षक थे। सन् 1910 में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने गीतांजलि की रचना कौसानी में रहकर की। टैगोर की इस पुस्तक पर वर्ष 1913 में उन्हें 'नोबेल पुरस्कार' मिला। इस पुरस्कार को पाने वाले वे प्रथम भारतीय थे। महात्मा गांधी ने रवीन्द्रनाथ टैगोर को गुरुदेव की उपाधि से विभूषित किया। सन् 1921 में शान्तिनिकेतन 'विश्वभारती' विश्वविद्यालय में विकसित हुआ। अब इसमें देश-विदेश के छात्र अध्ययन करने आने लगे।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर की मृत्यु सन् 1941 में हो गई।

टैगोर का जीवन-दर्शन (Thete of Tagore)

रवीन्द्रनाथ टैगोर एक आदर्शवादी व्यक्ति थे। उन्होंने परिवार में रहकर ही वेद तथा उपनिषदों का अध्ययन किया था। टैगोर परम पुरुष (Supreme Man) में आस्था रखते थे। वे विश्व को सर्वोच्च शक्ति के रूप में उसे स्वीकार करते थे। टैगोर का माण्डूक्य उपनिषद् की 'सत्यम, शिवम, अद्वैतम्' की धारणा में दृढ़ विश्वास था एक समय रवीन्द्रनाथ टैगोर परम सत्य को सूक्ष्म स्वीकार करते हैं तो दूसरे समय वे उसे उपास्य एवं प्रिय स्थूल मानते हैं। वे प्रेम के रहस्य को समझकर उसकी सर्वोच्चता को स्वीकार करते हैं। गुरुदेव टैगोर के अनुसार सृष्टि सामंजस्य है। इसी कारण उनके अनुसार व्यक्ति में भी सामंजस्य होना चाहिए। टैगोर को प्रकृति की वस्तुओं से प्रेम था और वे इसी कारण उसकी विजय की स्वीकृति नहीं देते थे। टैगोर इस संसार को स्वर्गीय आनन्द से भर देना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने मनुष्य को एकता और सामंजस्य का पाठ पढ़ाया। वे ईश्वर में विश्वास करते थे। अत: उनका मनुष्य में भी विश्वास था। उनका विश्वास था कि मनुष्य परमात्मा का रूप है वे कहा करते थे कि भगवान की पूजा केवल मन्दिरों या गिरजाघरों में ही नहीं की जा सकती। भगवान की आराधना भूमि को जोतकर तथा पत्थरों को तोड़कर भी की जा सकती है। टैगोर मनुष्य की आत्मा को ऊँचा उठाना चाहते थे। वे मानव की सेवा को मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म मानते थे। गुरुदेव टैगोर के 'मुक्ति' के सम्बन्ध में विचार अत्यन्त व्यापक थे। वे मनुष्य जाति को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक कष्टों से 'मुक्ति' दिलाना चाहते थे। कवि हृदय वाले रवीन्द्रनाथ प्रकृति के सौन्दर्य में ईश्वर के अस्तित्व की अनुभूति करते थे।

टैगोर के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य (Objectives of Education According to Tagore)

शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों का वर्णन हमें उनके विभिन्न लेखों में मिलता है। कभी-कभी उन्होंने परोक्ष रूप से भी शिक्षा के उद्देश्यों की चर्चा की है। टैगोर के अनुसार विभिन्न उद्देश्य इस प्रकार हैं—

1. **शारीरिक विकास**—टैगोर ने अपने एक लेख में छात्रों के अस्वस्थ रहने पर चिन्ता प्रकट की है। टैगोर छात्र जीवन में स्वस्थ शरीर को विशेष महत्त्व देते थे। स्पष्ट है कि टैगोर के अनुसार शिक्षा का प्रथम उद्देश्य शारीरिक विकास है।
2. **बौद्धिक विकास**—टैगोर बालकों के मानसिक विकास को भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते थे। टैगोर केवल पुस्तकीय ज्ञान के विरोधी थे। इसी कारण वे पुस्तकीय शिक्षा को महत्त्व नहीं देते थे। टैगोर ने अपने लेखों में स्वतन्त्र चिन्तन का वर्णन किया है। वे स्वतन्त्र चिन्तन के समर्थक थे। उनके अनुसार बालक की स्मृति पर अधिक भार नहीं डालना चाहिए। इसके विपरीत उनके चिन्तन एवं कल्पना की शक्तियों का विकास किया जाना चाहिए। प्रकृति और जीवन से प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता टैगोर के शिक्षा-दर्शन का प्रमुख आधार है।
3. **नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास**—टैगोर के अनुसार अनेक आध्यात्मिक मूल्य होते हैं। इसमें से एक अनुशासन है। अनुशासन व्यक्ति की नैतिक शिक्षा के लिए आवश्यक है। टैगोर बालकों को अनुशासनप्रिय बनाना चाहते थे। इसी कारण टैगोर बालकों के नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास पर बल देते हैं। वे वास्तविक अनुशासन पर बल देते हैं। वास्तविक अनुशासन से टैगोर का आशय 'आन्तरिक अनुशासन' या 'आत्म-अनुशासन' से है। इस प्रकार का अनुशासन तपस्या तथा साधना का परिणाम होता है। अनुशासन बालकों के पूर्ण विकास में सहायता पहुँचाता है। शिक्षा का उद्देश्य—बालक को स्वतन्त्र बनाना होना चाहिए। उन्होंने लिखा है—"श्रेष्ठ शिक्षा की विशेषता यह है कि वह व्यक्ति को अपना दास न बनाकर स्वतन्त्र बनाती है।"
4. **अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास**—टैगोर शिक्षा का उद्देश्य बालकों में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास करना मानते हैं। टैगोर संकीर्ण राष्ट्रीयता पर विश्वास नहीं करते थे। इस प्रकार उनको अन्तर्राष्ट्रीयवादी कहा जा सकता है। टैगोर के शिक्षादर्शन की एक विशेषता यह है कि उन्होंने पूरब और पश्चिम में सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है। उनके

द्वारा स्थापित 'विश्वभारती विश्वविद्यालय' सच्चे अर्थों में विश्व भारती है। आज इसमें देश-विदेश के छात्र पढ़ने आते हैं। टैगोर द्वारा संस्थापित 'विश्वभारती' अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र है। इसमें विश्व संस्कृति का समन्वय मिलता है।

5. **वातावरण और शिक्षा**—रवीन्द्रनाथ टैगोर की दृष्टि में स्वयं वातावरण ही पाठ्य-पुस्तकों, विद्यालय संगठन तथा समस्त क्रियाओं से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। वे यह मानते थे कि सुन्दर वातावरण में बालक के सृजनमूलन जीवन का निर्माण सम्भव है। शिक्षाप्रद वातावरण में ही नवीन परिस्थितियों के अनुसार बुद्धि के उपयोग का सम्यक् अवसर मिलता है।

शिक्षा का माध्यम (Medium of Education)

टैगोर ने शिक्षा का माध्यम मातृभाषा बताया है। टैगोर शिक्षा को उसके व्यापक अर्थ में स्वीकार करते थे। उसके अनुसार शिक्षा एक कृत्रिम प्रक्रिया नहीं है। यह मनुष्य के जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता है। शिक्षा सामाजिक प्रक्रिया भी है। अत: शिक्षा का माध्यम मातृभाषा ही होनी चाहिए। सजीव मातृभाषा के माध्यम से ही दी हुई शिक्षा चिरस्थायी बन सकती है। यदि ऐसा न किया जाए तो वह शिक्षा समाज के उच्च स्तरों के लिए सामाजिक शोभा का कारण बन सकती है, परन्तु ऐसी शिक्षा सनातन जीवन की धारा नहीं बन सकती।

टैगोर के अनुसार, अध्यापन मातृभाषा के ही माध्यम से होना चाहिए। उनके अनुसार, "अंग्रेजी भाषा के घूँघट में छिपी हुई विद्या स्वभाव से ही हमारे मस्तिष्क की सहवर्तिनी होकर नहीं चल सकती।"

शिक्षा और बालक (Education and Child)

टैगोर के अनुसार, शिक्षक को बालक की शिक्षा के लिए पाठ्य-विषयों से हटकर शिक्षा की आवश्यकताओं पर जाना चाहिए। टैगोर ने इस तथ्य को विशेष महत्त्व दिया था कि शिक्षण की प्रक्रिया इस प्रकार संगठित होनी चाहिए कि बालक को अपनी रुचि एवं प्रवृत्ति के अनुसार आत्माभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता मिल सके। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि बालक को प्रकृति का स्निग्ध स्पर्श और मनुष्य का स्वाभाविक स्नेह मिल सके। इसके लिए संस्थाओं में पारिवारिक जीवन का समावेश होना चाहिए। शिक्षा का सद्भाव ही बालक के अनेक अभावों की पूर्ति कर सकता है। टैगोर ने ऐसा क्यों सोचा स्पष्ट है कि भावना के पीछे उनके बाल्य-जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव था। विद्यालय में प्रवेश लेने पर बालक रवीन्द्रनाथ को प्रकृति से सम्पर्क का तथा शिक्षकों के व्यवहार में पारिवारिक आत्मीयता का अभाव अत्यन्त दु:खदायी हो गया था।

टैगोर चाहते थे कि बालक ब्रह्मचर्य व्रतों का पालन करे। टैगोर भारतीय आदर्शों में बड़ा विश्वास रखते थे।

प्र.4. रवीन्द्रनाथ टैगोर के स्त्री शिक्षा सम्बन्धी विचारों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

टैगोर और स्त्री शिक्षा
(Tagore and Women Education)

स्त्री शिक्षा पर गुरुदेव ने बहुत अधिक बल दिया है। वह यह मानते हैं कि मानव समाज का यदि हम नवनिर्माण करना चाहते हैं तो हमें स्त्रियों को भी पुरुष के समान शिक्षित करना होगा। उनके शब्दों में "विशुद्ध ज्ञान के क्षेत्र में पुरुष और स्त्री में कोई भेद नहीं, व्यावहारिक उपयोगिता के क्षेत्र में अन्तर हो सकता है। स्त्री को परिपक्व मानवप्राणी बनाने के लिए विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और सही स्त्री बनने के लिए उपयोगी ज्ञान।" स्त्री व पुरुष से समाज को अलग-अलग अपेक्षाएँ हैं। इस कारण यह स्त्री के लिए अलग शिक्षा व्यवस्था को उचित मानते थे। किन्तु जहाँ यह व्यवस्था न की जा सके, वहाँ वह सह-शिक्षा के पक्ष में थे। स्त्रियों के सर्वांगीण विकास हेतु वह गृहविज्ञान, कला, सिलाई, कढ़ाई, संगीत, व्यायाम, खेलकूद व समाजसेवा को महत्त्वपूर्ण मानते थे। टैगोर ने ज्ञान के दो क्षेत्र माने हैं—प्रथम विशिष्ट ज्ञान व द्वितीय उपयोग ज्ञान। विशिष्ट ज्ञान के क्षेत्र में यह दोनों में अन्तर मानते हैं। चूँकि वह यह मानते हैं कि स्त्री एक बेटी, बहन, पत्नी व माँ है और इसी के लिए उसे शिक्षित करना है। शांतिनिकेतन में भी उन्होंने स्त्री शिक्षा की आवश्यकता व महत्त्व को साकार रूप देने हेतु 1908 में स्त्री शिक्षण विभाग की स्थापना की परन्तु कुछ कारणवश इसे बंद करना पड़ा और पुन: 1922 में उन्होंने 'नारी भवन' स्थापित किया और बाद में इसका नारी-विभाग में परिवर्तन कर दिया। यहाँ स्त्रियों को शास्त्रीय विषयों की शिक्षा दी जाती थी। उन्होंने स्त्री वर्ग की शारीरिक, बौद्धिक, व्यावसायिक, सामाजिक व सांस्कृतिक प्रोन्नति पर भी बल दिया।

पाठ्यक्रम (Syllabus)

पाठ्यक्रम क्या है? पाठ्यक्रम शिक्षा के उद्देश्यों को प्राप्त करने का एक साधन है। जिस टैगोर द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के उद्देश्य व्यापक थे, उसी प्रकार उनके द्वारा बताया गया पाठ्यक्रम भी विस्तृत था। वे व्यापक पाठ्यक्रम में विश्वास करते थे। उनके अनुसार

पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जिससे जीवन के सभी पक्षों का विकास हो सके। टैगोर ने अपने लेखों में कहीं-कहीं पाठ्यकम की चर्चा की है। परन्तु टैगोर ने एक निश्चित पाठ्यक्रम की योजना नहीं बनाई है। टैगोर ने सांस्कृतिक विषय पढ़ाए जाने की सिफारिश की है। उनके अनुसार पाठ्यक्रम में निम्नलिखित विषय तथा क्रियाएँ सम्मिलित की जानी चाहिए—

1. **विषय**—इतिहास, भूगोल, प्रकृति अध्ययन, साहित्य तथा भाषा आदि।
2. **क्रियाएँ**—संगीत, नृत्य, मौलिक रचना, बागवानी, कृषिकार्य, क्षेत्रीय अध्ययन, वस्तुओं का संग्रह, भ्रमण, प्रयोगशाला कार्य, अभिनय तथा नाटक आदि।

टैगोर उस समय की प्रचलित शिक्षण विधियों के विरोधी थे। उन्होंने इस बात को विशेष महत्त्व दिया कि बालक को जो कुछ सिखाया जाए वह उनको जीवन की वास्तविक परिस्थितियों में रहकर सिखाया जाए। टैगोर पुस्तकों के द्वारा शिक्षा दिए जाने के विरोधी थे। रवीन्द्रनाथ टैगोर सहज स्वाभाविक क्रियाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने के पक्ष में थे। उन्होंने वाद-विवाद, प्रश्नोत्तर विधि तथा भ्रमण द्वारा अनुभवों से अर्जन पर विशेष बल दिया है। उनके अनुसार शिक्षा 'क्रिया शिक्षण विधि' के आधार पर होनी चाहिए। टैगोर के अनुसार बालक की शिक्षा में शिक्षक का कार्य उचित वातावरण का सृजन कर देना है। टैगोर यह मानते थे कि बालक स्वानुभव द्वारा अधिक दक्षता के साथ सीखता है। बालक की सम्पूर्ण शिक्षा अत्यन्त सहानुभूति पूर्ण वातावरण में संचालित की जानी चाहिए।

टैगोर और शान्तिनिकेतन (Tagore and Shanti Niketan)

वर्ष 1901 में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपने पिता की आज्ञा से लगभग 150 किलोमीटर दूर 'बोलपुर' स्थान पर 'शान्तिनिकेतन' विद्यालय की स्थापना की। उस समय उस विद्यालय में केवल 5 छात्र थे और टैगोर एकमात्र शिक्षक। यह विद्यालय सन् 1921 में 'विश्व-भारती विद्यालय' के रूप में विकसित हुआ और उसमें देश-विदेश के छात्र अध्ययन करने हेतु आने लगे।

शान्तिनिकेतन की स्थापना के कारण की व्याख्या करते हुए **टैगोर** ने लिखा है—"हमने अपने विद्यालय के छात्रों में प्रकृति देवी की भाँति मानवीय परिवेश के साथ सतेज मनोभाव, उन्मुखता और प्रियत्व बोध जाग्रत करने की चेष्टा की है। इसके लिए हमने साहित्य, प्रचलित पर्व और उत्सव और साधारण धर्मशिक्षा की सहायता ली है। जिससे आत्मा का वाह्य जगत से घनिष्ठ सम्बन्ध हो सके।" यहाँ धर्मशिक्षा से तात्पर्य यह नहीं है कि शान्तिनिकेतन में किसी विशेष धर्म की शिक्षा दी जाती थी अथवा अनुसरण किया जाता था। तपोवन के अंचल में स्थित प्राचीन भारतीय गुरुकुलों की तरह विश्वभारती में भी शिक्षा प्रकृति की गोद में, वृक्षों के नीचे, सुरम्य वातावरण में दी जाती थी। टैगोर ने प्रकृति को महान शिक्षक और जीवित शिक्षक आदि नामों से विभूषित किया है। यही उनका प्रकृतिवाद में विश्वास है। शान्ति निकेतन में टैगोर के दर्शन व शिक्षणविधि की स्पष्ट झलक मिलती है।

टैगोर और प्रकृतिवाद (Tagore and Naturalism)

रवीन्द्रनाथ टैगोर की शैक्षिक विचारधारा विश्वभर के सम्पूर्ण मानव समाज को सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् के उदात्त आदर्शों की प्राप्ति के लिए प्रेरणा प्रदान करती है। उन्होंने अपने आदर्श विद्यालय की स्थापना मानव निवास से दूर, खुले आकाश के नीचे, वृक्षों के बीच की थी। प्रकृतिवादी दर्शन की स्पष्ट छाप टैगोर की शैक्षिक विचारधारा में उपलब्ध होती है। इसी के परिणामस्वरूप विश्वभारती की स्थापना प्रकृति की सुरम्य गोद में की गई थी। टैगोर का कथन था कि कृत्रिमता ने मानव जीवन को विकृत कर रखा है। इसी कारण जीवन की स्वाभाविकता अवरुद्ध है। टैगोर कहा करते थे कि आधुनिक सभ्यताएँ ईंट और गारे से बनी हुई हैं, जिससे मनुष्य और प्रकृति के मध्य व्यवधान उपस्थित होता है। टैगोर अपनी शिक्षा में बालक की स्वतन्त्रता और अभिरुचि को पर्याप्त महत्त्व देते हैं।

बालकों की शिक्षा में टैगोर प्रकृति को कितना महत्त्व देते थे, यह उनके निम्नलिखित कथन से स्पष्ट होता है—"सांसारिक बन्धनों में पड़ने से प्रथम बालकों को अपने निर्माणकाल में प्रकृति का प्रशिक्षण प्राप्त करने दिया जाना चाहिए। बैंचों, श्यामपटों, पुस्तकों तथा परीक्षाओं की तुलना में वृक्ष और पौधे, आकाश का स्वच्छ विस्तार, शुद्ध और स्वच्छन्द वायु, तालाब की स्वच्छता और ठण्डा पानी तथा प्रकृति का विस्तृत क्षेत्र कम आवश्यक नहीं है।"

❐

UNIT-II

पाचन, श्वसन एवं परिसंचरण तन्त्र

Digestive, Respiratory and Cardiovascular System

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. आहारनाल से सम्बन्धित दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थियों के नाम लिखिए।

उत्तर आहारनाल से सम्बन्धित दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थियाँ यकृत तथा अग्न्याशय होती हैं।

प्र.2. मुखगुहा में भोजन का पाचन कैसे होता है?

उत्तर मुखगुहा में भोजन का यान्त्रिक तथा रासायनिक पाचन होता है। यान्त्रिक पाचन के कारण भोजन की लुगदी बनती है, इसमें लार मिल जाती है जिससे भोजन को सुगमता से निगला जा सकता है। लार में उपस्थित टायलिन (pytalin) एन्जाइम के कारण भोजन का लगभग 30% मण्ड माल्टोज (maltose) नामक शर्करा में बदल जाता है। लार में उपस्थित लाइसोजाइम्स (lysozyme) भोजन में उपस्थित जीवाणुओं को नष्ट करता है। लार का pH मान लगभग 6.8 होता है अर्थात् यह हल्की अम्लीय होती है।

$$\text{मण्ड} + \text{जल} \xrightarrow[\text{pH6.8}]{\text{टायलिन}} \text{माल्टोज}$$

प्र.3. टायलिन नामक एन्जाइम आहार के किस तत्त्व के पाचन में सहायक होता है?

उत्तर टायलिन नामक एन्जाइम आहार में कार्बोहाइड्रेट तथा स्टार्च को विलेय शक्कर में परिवर्तित करने में सहायक होता है।

प्र.4. जिह्वा के कार्य बताइए।

उत्तर जिह्वा के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं—

1. इसकी ऊपरी सतह खुरदरी होती है। इसका कारण इस पर उपस्थित अनेक नन्हें दानों की तरह उभरे **संवेदी अंकुर** हैं। इन्हीं अंकुरों में उपस्थित **स्वाद नलिकाएँ** भोजन के स्वाद का अनुभव कराती हैं। ये स्वाद नलिकाएँ बनावट में भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं।
2. इसके ऊपर ढकी श्लेष्मक कला में भी श्लेष्मक ग्रन्थियाँ होती हैं।
3. भोजन को ग्रहण करने में ये चम्मच की तरह मुड़कर सहायता करती है।
4. मुखगुहा में इधर-उधर घुमाकर भोजन को लार युक्त करती है तथा बार-बार चबाने के लिए, दाँतों के नीचे लाती है। बाद में चबाए हुए भोजन को निगलने के लिए पीछे धकेलती है।
5. दाँतों के बीच फँसे कणों को निकालकर मुखगुहा की सफाई

प्र.5. क्षुद्रान्त्र की पाचन ग्रन्थियों में क्या पाया जाता है?

उत्तर क्षुद्रान्त्र की पाचन ग्रन्थियों में क्षारीय आंत्रीय रस स्रावित होता है। इसका pH मान 7.5 से 8.3 तक होता है। इसमें जल, लवण, श्लेष्म तथा अनेक पाचक एन्जाइम होते हैं।

TOUCH 'n' PASS

प्र.6. श्वसन अंग की विशेषताएँ बताइए।

उत्तर श्वसन अंग की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. श्वसन अंग की सतह जिसका सम्पर्क वायुमण्डल से हो, श्वसन सतह अधिक फैली होनी चाहिए। इसमें रक्त कोशिकाओं का जाल जितना अधिक फैला होगा, उतना ही वायु विनियम सुचारू रूप से होगा।
2. श्वसन सतह पतली तथा नम होनी चाहिए, क्योंकि गैसों का आवागमन केवल घुलित अवस्था में होता है।
3. श्वसन अंग तक O_2 तथा CO_2 का लाने व ले जाने का उचित प्रबन्ध होना चाहिए।

प्र.7. श्वसन की परिभाषा को समझाइए।

उत्तर कोशिकाओं में कार्बनिक भोज्य पदार्थों के जैव-रासायनिक ऑक्सीकरण (Bio-chemical oxidation) को श्वसन कहते हैं। दूसरे शब्दों में श्वसन कोशिकाओं में होने वाली उन सभी एन्जाइमी अभिक्रियाओं (enzymatic reactions) को कहते हैं जिनमें ऑक्सीजन की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति में कार्बनिक पदार्थों का ऑक्सीकरण होता है। ऊर्जा मुक्त होती है और CO_2 बाहर निकलती है। इन अभिक्रियाओं के चलते समय ऊर्जा ATP में संचित हो जाती है। ATP में संचित ऊर्जा जैविक क्रियाओं के काम आती है। इससे यह ADP में बदल जाता है। ADP पुन: ऊर्जा ग्रहण करके ATP का निर्माण कर देता है। इस प्रकार यह ऊर्जा चक्र चलता रहता है।

प्र.8. कोशिकीय श्वसन के प्रकार बताइए।

उत्तर कोशिकीय श्वसन दो प्रकार का होता है—

1. **ऑक्सीजन** (Aerobic Respiration)—यह ऑक्सीजन की उपस्थिति में होता है। इसमें ग्लूकोज का पूर्ण रूप से ऑक्सीकरण हो जाता है और 673 किलो कैलोरी ऊर्जा मुक्त होती है। इस क्रिया में 38 अणु ATP के प्राप्त होते हैं।
2. **अनॉक्सी-श्वसन** (Anaerobic Respiration)—यह ऑक्सीजन के अभाव में होता है। इसमें ग्लूकोज का अपूर्ण ऑक्सीकरण होता है।

इसके फलस्वरूप एल्कोहल, कार्बन डाइऑक्साइड बनते हैं और कम मात्रा (21 किलो कैलोरी) में ऊर्जा मुक्त होती है। इस क्रिया में 2 अणु ATP के प्राप्त होते हैं।

प्र.9. श्वसन तथा श्वासोच्छ्वास में अन्तर प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर श्वसन तथा श्वासोच्छ्वास में प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं—

क्र०सं०	श्वसन	श्वासोच्छ्वास
1.	यह एक अपचयी क्रिया है। इसमें कार्बनिक भोज्य पदार्थों का ऑक्सीकरण होता है।	अन्त:श्वसन में वातावरण से वायु श्वसन अंगों तक पहुँचती है।
2.	ऑक्सीकरण के फलस्वरूप CO_2 तथा जलवाष्प बनती है और ऊर्जा मुक्त होती है।	उच्छ्वसन (exhale) में श्वसन अंगों से CO_2 तथा जलवाष्पयुक्त वायु वातावरण से वापस चली जाती है।
3.	यह क्रिया जीवित कोशिका में होती है।	यह क्रिया फेफड़ों या अन्य श्वसन अंगों द्वारा होती है।

प्र.10. अन्त:श्वसन तथा नि:श्वसन में अन्तर बताइए।

उत्तर अन्त:श्वसन तथा नि:श्वसन में प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं—

क्र०सं०	अन्त:श्वसन	नि:श्वसन
1.	डायफ्राम की अरीय पेशियों तथा पसलियों की बाह्य अन्तरापर्शुक पेशियाँ (external intercostals muscles) संकुचित होती हैं।	डायफ्रम की अरीय पेशियाँ शिथिल होती हैं तथा पसलियों की अन्त: अन्तरापर्शुक पेशियाँ (internal intercostals muscles) संकुचित होती हैं।
2.	वक्षगुहा का आयतन बढ़ जाने से फेफड़ों में वायुदाब कम हो जाता है।	वक्षगुहा का आयतन कम हो जाने से फेफड़ों में वायुदाब अधिक हो जाता है।
3.	वायुमण्डल की वायु फेफड़ों में पहुँच जाती है।	फेफड़ों की वायु वायुमण्डल में चली जाती है।

TOUCH 'n' PASS

प्र.11. हृदय से निकलने वाली मुख्य नलिका को क्या कहते हैं?

उत्तर हृदय से निकलने वाली मुख्य नलिका को मूल धमनी कहते हैं?

प्र.12. ऑक्सी हीमोग्लोबिन किसे कहा जाता है?

उत्तर हीमोग्लोबिन की यह विशेषता होती है कि यह ऑक्सीजन को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है तथा आयरन ऑक्सीजन के साथ संयोग करने की शक्ति रखता है। हीमोग्लोबिन ऑक्सीजन को आकर्षित करके उसे अपने में मिलाकर तत्काल एक यौगिक बना देता है। इस यौगिक को ऑक्सी हीमोग्लोबिन कहा जाता है।

प्र.13. रक्त का प्लाज्मा कितने भागों से बना होता है?

उत्तर रक्त का प्लाज्मा दो भागों से बना होता है—1. फाइब्रिन, 2. सीरम।

प्र.14. हीमोफीलिया रोग क्या होता है?

उत्तर कुछ मनुष्यों में रक्त का थक्का देर से जमता है और जरा-सी चोट लगने पर रक्त देर तक बहता रहता है जिससे मृत्यु तक की सम्भावना हो जाती है। अगर रक्त का थक्का न बने तो यह एक प्रकार का रोग है जिसे हीमोफीलिया (Haemophilia) कहते हैं। यह रोग आनुवंशिक होता है जिसमें स्त्री, रोग वाहिका का कार्य करती है और पुरुष हीमोफीलिया का शिकार होता है।

प्र.15. सर्वदाता (यूनिवर्सल डोनर) वर्ग कौन-सा है?

उत्तर **रक्त वर्ग AB**—इस रक्त वर्ग वाले व्यक्ति में लाल रक्त कणिकाओं में एग्लूटिनोजन A और B दोनों उपस्थित होते हैं, परन्तु रक्तग्वारि एग्लूटिनिन अनुपस्थित होता है। यह रक्त वर्ग सभी रक्त वर्ग वाले व्यक्तियों से रक्त ले सकता है इसीलिए इस वर्ग के व्यक्तियों को सर्व आदता (Universal recipient) कहते हैं। इस वर्ग के व्यक्ति सिर्फ अपने ही वर्ग (AB) वाले व्यक्ति को रक्त देते हैं।

प्र.16. मनुष्य में हृदय स्पन्दन दर कितनी होती है?

उत्तर स्वस्थ मनुष्य में यह दर 70–80 प्रति मिनट, वृद्धजनों में लगभग 60 प्रति मिनट तथा नवजात शिशुओं में 130–140 प्रति मिनट तथा बालक में 120 प्रति मिनट होती है।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. पोषण की विभिन्न अवस्थाएँ बताइए।

उत्तर मनुष्य में पोषण निम्नलिखित चरणों में पूर्ण होता है—

1. **भोजन का अन्तर्ग्रहण** (Ingestion of Food)—भोजन को ग्रहण करना अन्तर्ग्रहण कहलाता है। दाँत व जीभ भोजन को चबाने और निगलने में सहायक होते हैं।
2. **पाचन** (Digestion)—ग्रहण किए गए ठोस या तरल अघुलनशील जटिल पदार्थों को सरल घुलनशील इकाइयों में बदलने की क्रिया पाचन (digestion) कहलाती है। पाचन के फलस्वरूप भोज्य पदार्थ कोशिकाओं द्वारा उपयोग किए जाने की स्थिति में आ जाते हैं। मनुष्य में भोजन का पाचन आहारनाल (alimentary canal) में होता है।
3. **अवशोषण** (Absorption)—आहारनाल की क्षुद्धान्त्र में रसांकुरों (villi) तथा सूक्ष्म रसांकुरों (microvilli) में रक्त तथा लसीका कोशिकाओं का जाल पाया जाता है। ये पचे हुए भोज्य पदार्थों का अवशोषण करती है।
4. **परिवहन तथा स्वांगीकरण** (Circulation and Assimilation)—पचे हुए भोज्य पदार्थों का रक्त या लसीका द्वारा ऊतक में पहुँचना परिवहन कहलाता है। कोशिकाओं में भोज्य पदार्थों के जीवद्रव्य में आत्मसात हो जाने की क्रिया को स्वांगीकरण (assimilation) कहते हैं।

प्र.2. दाँत की संरचना का सचित्र वर्णन कीजिए।

उत्तर

दाँत की संरचना (Structure of Teeth)

सभी दाँतों की मूलभूत (basic) संरचना समान होती है। दाँत को निम्नलिखित तीन भागों में बाँट लेते हैं—

1. **शिखर** (Crown)—यह मसूड़ों से बाहर निकलता हुआ भाग होता है।

2. **ग्रीवा** (Neck)—यह मसूड़ों के मध्य स्थित भाग होता है।
3. **जड़** (Root)—यह जबड़े की अस्थि के गर्त (socket) में स्थित होता है।

दाँत के मध्य एक गुहा होती है, इसे दन्त गुहा (pulp cavity) कहते हैं। दन्त गुहा में कोमल संयोजी ऊतक, रक्त वाहिनियाँ, तन्त्रिका तन्तु आदि पाए जाते हैं। दन्त गुहा अस्थि कोशिकाओं या ओडोन्टोब्लस्ट कोशिकाओं (Obontoblast cells) से स्तरित होती है। दाँत का मुख्य भाग डेन्टीन अस्थि कोशिकाओं से बनता है। डेन्टीन में सँकरी नलिकाएँ पाई जाती हैं जिससे दाँत का पोषण होता रहता है। डेन्टीन (dentine) के बाहर दाँत की जड़ तथा ग्रीवा पर सीमेन्ट की पतली पर्त होती है। यह पर्त दाँत को अस्थि के गर्त में मजबूती से जमाए रखती है। दाँत के शिखर (crown) भाग पर इनैमल (enamel) की मजबूत पर्त होती है। इनैमल की यह पर्त दाँत की डेन्टीन की सुरक्षा करती है। इनैमल के क्षतिग्रस्त होने से ही दाँत दर्द, गर्म, ठण्डा आदि का दाँत से अनुभव करना प्रारम्भ हो जाता है।

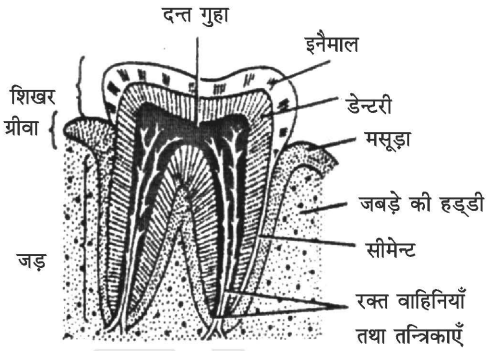

चित्र : दाँत की बनावट

प्र.3. लार ग्रन्थियों से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

लार ग्रन्थियाँ (Salivary Glands)

मनुष्य जब भोजन करता है तो भोजन में बहुत से पाचक रस आकर मिलते हैं। यह सभी पाचक रस पाचक ग्रन्थियों से बनते हैं—भोजन मुख में आने के पश्चात् दाँतों की सहायता से टुकड़ों में विभक्त हो जाता है तथा भोजन को एक रस मिलता है जो मुखगुहा में स्थित लार ग्रन्थियों से निकलता है। यह लार रस पारदर्शक, क्षारीय तथा गाढ़ा एवं चिपचिपा द्रव होता है। इसके मिलने के कारण भोजन को जिह्वा सरलता से ग्रासनली में पहुँचा देती है।

इस लार को उत्पन्न करने वाली ग्रन्थियाँ मुख के दोनों ओर तीन-तीन होती हैं जिन्हें लार ग्रन्थि कहते हैं। ये इस प्रकार हैं—

1. **अधो-जिह्वा ग्रन्थियाँ** (Sublingual glands)—ये ग्रन्थि जीभ के नीचे मुखगुहा की भूमि में स्थित होती है। इनसे निकलने वाली नलिकाएँ कई होती हैं तथा निचले जबड़े में सामने के मसूढ़ों के पीछे खुलती हैं।
2. **कर्णपूर्व ग्रन्थियाँ** (Parotid glands)—ये दोनों गालों में कानों के पास उनसे नीचे एक-एक स्थित होती है और ये सबसे बड़ी लार-ग्रन्थियाँ हैं। इनसे निकलने वाली नलिकाएँ ऊपरी जबड़े से दूसरे स्थान पर स्थित दाढ़ों के सामने खुलती हैं।
3. **अधोहनु ग्रन्थियाँ** (Submaxillary glands)—निचले जबड़े की भूमि के पिछले भाग में, एक-एक ग्रन्थि दोनों तरफ होती है। ये अगले दाँतों की जड़ में खुलती हैं।

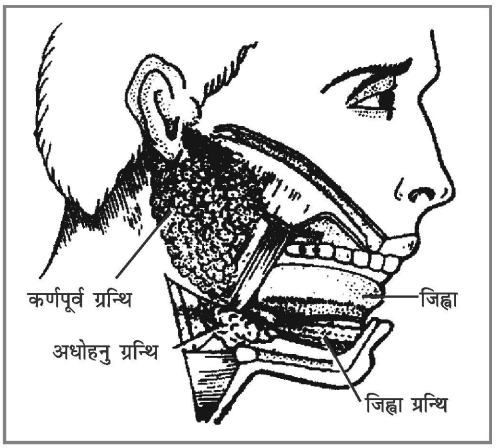

चित्र : लार ग्रन्थियाँ

ये सभी ग्रन्थियाँ तन्त्रिका तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क से सम्बन्धित रहती हैं लेकिन तन्तुओं के उत्तेजित होने पर ये ग्रन्थियाँ तीव्र गति से अपना कार्य करना आरम्भ कर देती हैं तथा अधिक मात्रा में लार मुँह में आने लगती है। जब भोजन से कोई सुगन्ध निकलती है या चटपटी चीज दिखाई देती है तो यही कारण है कि मुँह से लार टपकने लगती है।

प्र.4. आमाशय में पाचन क्रिया को समझाइए।

उत्तर

आमाशय में पाचन (Digestion in Stomach)

जिस समय भोजन आमाशय में आता है तो वह क्षारीय होता है। नमक का अम्ल उसको अम्लिक बनाता है। यह भोजन को लेई जैसे भूरे रंग के काइम (Chyme) के रूप में बदलने में अत्यधिक सहायक होता है। आमाशय में हर समय तरंग गति (Peristalsis) संकुचन तथा प्रसारण की क्रिया होती रहती है। इसके कारण भोजन जठर रस के साथ अच्छी प्रकार मिलने के साथ-साथ पिस भी जाता है। उधर जठर रस में उपस्थित एन्जाइम्स इसे पचने में सहायता करते हैं। जिस समय भोजन आमाशय में आता है, वह क्षारीय होता है नमक का अम्ल उसको अम्लीय बनाता है। जिस समय भोजन आमाशय में पहुँचता है, उसके 15-20 मिनट बाद यह रस पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न होकर अपनी क्रिया करता है। विशेषकर इसके प्रोटीन वाले भाग के पाचन में जठर रस में दो पाचक एन्जाइम्स होते हैं।

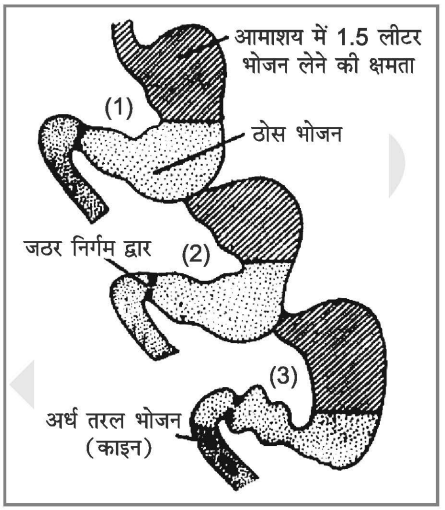

चित्र : आमाशय में संकुचन एवं प्रसारण क्रिया

1. **रेनिन** (Renin)—यह दूध फाड़कर उसकी प्रोटीन (Protein) को अलग कर देता है और इस प्रकार उसके पचने में सहायता करता है। ध्यान रहे, रेनिन पहले निष्क्रिय अवस्था के रूप में होता है और नमक के अम्ल (हाइड्रोक्लोरिक एसिड) की उपस्थिति में ही सक्रिय होता है।
2. **पेप्सिन** (Pepsin)—यह भी पहले निष्क्रिय अवस्था में होता है। अन्य तत्त्वों की उपस्थिति में सक्रिय होता है। यह प्रोटीन पर क्रिया करता है और उसे उसके अवयवों में तोड़ देता है। बनने वाले प्रमुख सरल यौगिक **पेप्टोन्स** (Peptones) तथा **प्रोटिओजेज** (Proteoses) होते हैं। यह बड़ी सरलता से घुलनशील होता है। ध्यान रहे, दूध की प्रोटीन (केसीन) पर भी यही एन्जाइम्स क्रिया करता है। शक्कर के कुछ भाग को आमाशय में ही रक्त-वाहिनियाँ शोषित कर लेती हैं। भोजन का शेष भाग जिसे **काइम** (Chyme) कहते हैं, ग्रहणी में चला जाता है।

प्र.5. अग्न्याशय का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उत्तर

अग्न्याशय (Pancreas)

यह एक मिश्रित ग्रन्थि होती है। यह यकृत की तरह एक सहायक पाचनाँग है। यह ग्रहणी (duodenum) की दोनों भुजाओं के मध्य स्थित कोमल, गुलाबी रंग की चपटी ग्रन्थि होती है। यह लगभग 12 से 15 सेमी लम्बी तथा 3 सेमी चौड़ी ग्रन्थि होती है। इसका सामान्य भार 60 से 90 ग्राम होता है। इसका बहि:स्रावी भाग (exocrine part) अग्न्याशयिक रस (pancreatic juice) स्रावित करता है। इसका बहि:स्रावी भाग (exocrine part) अनेक पिण्डकों का बना होता है। अग्न्याशय पिण्डक घनाकर कोशिकाओं से बनी खोखली रचना होती है। पिण्डकों से निकलने वाली वाहिनियाँ परस्पर मिलकर अग्न्याशयी नलिका (pancreatic duct) बनाती हैं। यह पित्त नलिका के साथ मिलकर ग्रहणी में खुलती है।

अग्न्याशय का अन्त:स्रावी भाग (endocrine part) संयोजी ऊतक में पाई जाने वाली लैंगरहैन्स की द्वीपिकाएँ गोलाकार या अण्डाकार छोटी-छोटी कोशिकाओं के समूह होते हैं।

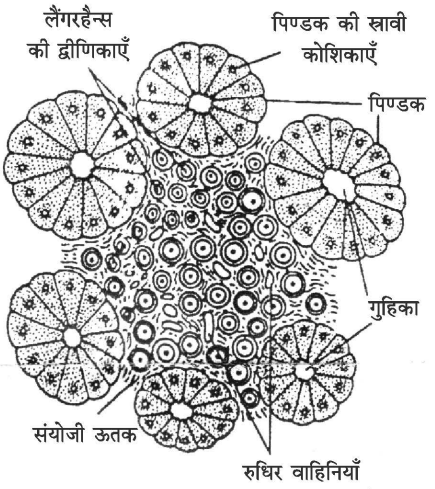

चित्र : अग्न्याशय की अनुप्रस्थ काट का आवर्धिक दृश्य

अग्न्याशय के कार्य (Functions of Pancreas)

अग्न्याशय के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

1. **अग्याशयी रस का स्रावण** (Secretion of Pancreatic Juice)—अग्न्याशय के पिण्डकों की कोशिकाएँ अग्न्याशय रस स्रावित करती हैं। अग्न्याशय रस में ट्रिप्सिन, काइमोट्रिप्सिन, एमाइलेज तथा लाइपेज नामक एन्जाइम्स होते हैं। ये एन्जाइम्स क्रमश: प्रोटीन कार्बोहाइड्रेट्स तथा वसा के पाचन में सहायक होते हैं।

2. **हॉर्मोन्स का स्रावण** (Secretion of Hormones)—अग्न्याशय की लैगहैन्स की द्वीपिकाओं की बीटा कोशिकाओं से इन्सुलिन (insulin) तथा ऐल्फा कोशिकाओं से ग्लूकैगॉन (glucagon) हॉर्मोन्स स्रावित होते हैं। ये एन्जाइम्स कार्बोहाइड्रेट उपापचय का नियन्त्रण एवं नियमन करते हैं।

भोजन का पाचन (Digestion of Food)

आहारनाल में भोजन में उपस्थित जटिल, अघुलनशील पोषक पदार्थों को शरीर की कोशिकाओं में प्रयुक्त होने योग्य सरल, घुलनशील एवं विसरणशील इकाइयों में बदलने की क्रिया को पाचन (digestion) कहते हैं। भोज्य पदार्थों का पाचन दो प्रकार से होता है—(1) यान्त्रिक या भौतिक पाचन (mechanical digestion) तथा (2) रासायनिक पाचन (Chemical digestion)।

1. **यान्त्रिक पाचन** (Mechanical Digestion)—मुखगुहा में भोजन को चबाना, आमाशय में भोजन की लुगदी बनाना, आहारनाल की पेशियों में क्रमाकुंचन गति द्वारा भोजन का आगे खिसकना आदि यान्त्रिक पाचन कहलाता है।
2. **रासायनिक पाचन** (Chemical Digestion)—पाचक एन्जाइम जटिल, अघुलनशील भोज्य पदार्थों पर रासायनिक क्रिया करके उन्हें सरल इकाइयों में बदल देते हैं।

प्र.6. फेफड़ों की सामर्थ्य बताइए।

उत्तर

फेफड़ों की सामर्थ्य (Strength of Lungs)

फेफड़े श्वसन-तन्त्र के मुख्यतम अंग हैं। फेफड़े कभी खाली नहीं रहते। सामान्य अवस्था में इनमें लगभग 2.3 लीटर वायु सदैव भरी रहती है। इस वायु को कार्यात्मक अवशेष वायु कहते हैं। सामान्यत: प्रत्येक श्वास में हम लगभग 0.5 लीटर वायु फेफड़ों में भरते व निकालते हैं इसे प्रवाही वायु कहते हैं। लम्बी श्वास लेकर हम प्रवाही वायु को 3.5 लीटर तक कर सकते हैं अर्थात् सामान्य से 3 लीटर अधिक। यह हमारी अन्त:श्वसन सामर्थ्य है। अन्त:श्वसन सामर्थ्य, कार्यात्मक अवशेष वायु से मिलकर लगभग 5.8 लीटर हो जाती है। यह फेफड़ों की मूल सामर्थ्य कहलाती है। हम अन्त:श्वसन सामर्थ्य द्वारा वायु से फेफड़ों को पूरा भरकर एक नि:श्वसन में प्रवाही वायु के अतिरिक्त लगभग 4.1 लीटर वायु और बाहर निकाल सकते हैं, अर्थात् कुल 4.6 लीटर वायु बाहर निकाल सकते हैं। इसे फेफड़ों की सजीव सामर्थ्य कहते हैं। यह अन्त:श्वसन सामर्थ्य से अधिक है। फिर भी फेफड़ों में लगभग 1.2 लीटर वायु रह जाती है, जिसे अवशेष वायु कहते हैं।

प्र.7. A.T.P. का महत्त्व बताइए।

उत्तर

A.T.P. का महत्त्व (Importance of A.T.P.)

ए०टी०पी० को उपापचय जगत का सिक्का या ऊर्जा का दलाल कहते हैं। इसका निर्माण ए०डी०पी०, फॉस्फेट तथा ऊर्जा से होता है। ए०डी०पी० से ऊर्जा मुक्त होने के पश्चात् पुन: ए०डी०पी० का निर्माण हो जाता है। ए०डी०पी० से विभिन्न जैविक क्रियाओं के लिए ऊर्जा प्राप्त होती है।

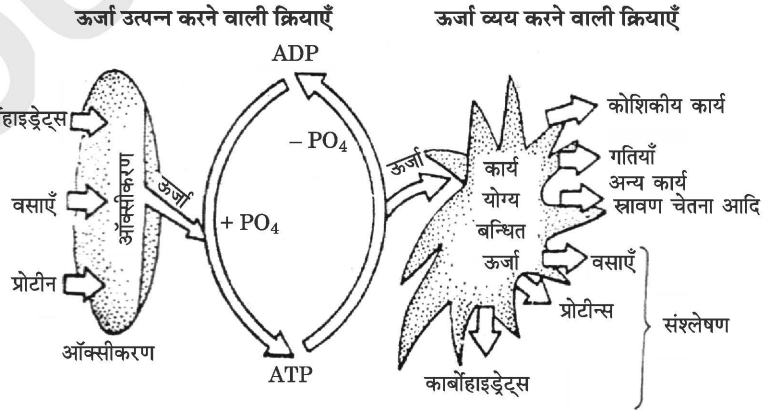

चित्र : विभिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थों से ऑक्सीकरण द्वारा ऊर्जा निष्कासित कर ATP में जैविक कार्यों के लिए एकत्रित कर ली जाती है।

TOUCH 'n PASS

प्र.8. व्यायाम से मनुष्य की श्वसन क्रिया पर क्या प्रभाव पड़ता है?

उत्तर श्वसन क्रिया को स्वस्थ रखने के लिए व्यायाम करना अत्यन्त लाभदायक है। व्यायाम कई प्रकार के होते हैं— विकासात्मक, सुधारात्मक एवं पुष्टिका इनके द्वारा शरीर व मस्तिष्क सभी स्वस्थ रहते हैं। शरीर की मांसपेशियों एवं अस्थियों की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है।

व्यायाम करने से श्वसन गति बढ़ती है। गहरी श्वास आती है जिससे प्राण वायु अधिक मात्रा में पहुँचकर शरीर के विभिन्न तन्तुओं को स्वास्थ्य प्रदान करती है कार्बन डाइ-ऑक्साइड गैस बाहर निकल जाती है। व्यायाम से श्वसन क्रिया पर प्रभाव निम्न प्रकार पड़ता है—

1. **रक्त प्रवाह में तीव्रता**—व्यायाम करते समय नाक द्वारा गहरी श्वास खींचने पर ऑक्सीजन की अधिक मात्रा फेफड़ों में पहुँचती है। फेफड़ों में रक्त कोशिकाएँ ऑक्सीजन को तीव्रता से खींचकर रक्त शुद्ध करती हैं और हृदय तथा हृदय से अंगों को पहुँचाती है। ऊतकों को अधिक ऊर्जा प्राप्त होती है। हानिकारक पदार्थ CO_2 शरीर से बाहर निकल जाते हैं।
2. व्यायाम की अवस्था में गहरी श्वास द्वारा ऑक्सीजन जितनी तीव्रता से फुफ्फुसों में जाती है, उतनी ही तीव्रता से रक्त शुद्ध होकर सम्पूर्ण शरीर में पहुँचता है जिससे शरीर रोगमुक्त हो जाता है।
3. पसीने की अधिकता बढ़ जाती है जिसके कारण व्यायाम करने से सभी मांसपेशियों को अधिक कार्यरत होना पड़ता है। इस प्रकार अधिक मात्रा में दूषित पदार्थ यूरिया, यूरिक एसिड, लवण आदि पसीने के रूप में रोग कूपों से बाहर निकल आते हैं और शरीर हल्का तथा स्वस्थ हो जाता है।
4. व्यायाम में रक्त प्रवाह की अधिकता हो जाने पर मस्तिष्क पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। मस्तिष्क की पेशियाँ अधिक क्रियाशील हो जाती हैं जिससे बुद्धि का विकास होता है स्मरण शक्ति बढ़ती है। व्यायाम व्यक्ति विशेष के लिए भिन्न-भिन्न होते हैं। मजदूर को अतिरिक्त व्यायाम की आवश्यकता नहीं होती लेकिन कम परिश्रम करने वाले व मानसिक परिश्रम करने वालों के लिए; जैसे—वकील, डॉक्टर, शिक्षक इनको योगासन द्वारा प्राणवायु को अधिक-से-अधिक ग्रहण करना चाहिए।

प्र.9. रक्त का थक्का जमने की प्रक्रिया को संक्षेप में लिखिए।

उत्तर रक्त का थक्का जमना एक जटिल तथा रासायनिक प्रक्रिया है। इसमें रक्त की द्रव अवस्था ठोस में परिवर्तित हो जाती है। रक्त का थक्का अर्द्ध जैल अवस्था में होता है जिसमें से थोड़ा तरल पदार्थ जिसे सीरम कहते हैं रक्त के थक्के जमने से बाहर निकल जाता है।

शरीर के किसी भी अंग में चोट लगने पर अथवा घाव लग जाने पर उसमें से रक्त बहना शुरू हो जाता है, परन्तु 5-7 मिनट में वहाँ रक्त का बहना बन्द हो जाता है, क्योंकि वहाँ रक्त का थक्का बन जाता है जो रक्त को बाहर बहने से रोकता है। रक्त के प्लाज्मा में एक थ्रोम्बिन नामक पदार्थ होता है। यह रक्त की फाइब्रिनोजिन प्रोटीन को द्रव से ठोस में बदल देता है। जिस स्थान पर घाव या चोट लगती है वहाँ की कोशिकाओं और बिम्बाणु टूटकर प्रोथ्रोम्बिन नामक पदार्थ का निर्माण करते हैं। यह प्रोथ्रोम्बिन प्लाज्मा के उपास्थि लवणों में से कैल्शियम आयन (Ca^{++}) से मिलकर थ्रोम्बोप्लास्टिन (Thromboplastin) नामक पदार्थ बनाती है। यह थ्रोम्बोप्लास्टिन एन्जाइम तथा कैल्शियम आयन की सहायता से प्लाज्मा में उपस्थित प्रोथोम्बिन पदार्थ को निष्क्रिय कर देता है और थ्रोम्बिन का निर्माण करता है। प्लाज्मा में उपस्थित हिपैरिन (Heparin) ही प्रोटीन प्रोथ्रोम्बिन होता है जो रक्त का थक्का बनने से रोकता है। अत: इसे निष्क्रिय करना अनिवार्य है। रक्त में उपस्थित प्रोथ्रोम्बिन पदार्थ का निष्क्रिय रूप है। हिपैरिन के निष्क्रिय होने पर वह पदार्थ (थ्रोम्बिन) सक्रिय हो जाता है। यही थ्रोम्बिन प्लाज्मा की फाइब्रिनोजन प्रोटीन से क्रिया करने फ्राइब्रिन में बदल देता है। यह फाइब्रिन अविलेय ठोस पदार्थ प्रकृति की होती है जो घाव के ऊपर महीन तन्तुक जाल (Fibernet) के रूप में फैल जाती है। इस तन्तु के जाल में अनेक प्रकार की रक्त कणिकाएँ आकार फँस जाती हैं और रक्त का थक्का बन जाता है। यही प्रक्रिया रुधिर का जमना कहलाती है। रक्त का थक्का थोड़ी देर बाद सिकुड़ने लगता है जिससे पीले रंग का पारदर्शक द्रव फाइब्रिनोजन जाल से छनकर बाहर आता है इस द्रव को सीरम कहते हैं। यह द्रव प्लाज्मा ही होता है, परन्तु उसमें फाइब्रिनोजन द्रव्य अन्य कणिकाओं का अभाव होता है। सीरम के अलग होते ही तन्तुक जाल की कोशिकाएँ एक ठोस थक्का बनाती हैं। जिस की वजह से घाव से रक्त आना बन्द हो जाता है। इस प्रकार रक्त जमने में 4 से 8 मिनट का समय लगता है।

प्र.10. रक्त वर्ग कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर रक्त बाहर से देखने पर सुर्ख लाल रंग का पदार्थ लगता है, परन्तु वह रक्त विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न प्रकार का होता है। यह अलग-अलग वर्ग की उपस्थिति के कारण होता है। रक्त वर्ग का वर्गीकरण लाल रक्ताणु में उपस्थित एग्ल्यूटिनोजेन्स (Agglutinogens) की अनुपस्थिति तथा उपस्थिति पर निर्भर करता है। यह रक्त वर्ग चार भागों में बाँटे गए हैं—

1. **रक्त वर्ग A**—इस रक्त वर्ग में लाल रक्त कणिकाओं में एग्लूटिनोजन A तथा रक्त ग्वारि में एण्टी B एग्लूटिनिन (Anti B agglutinin) होता है। इस वर्ग का व्यक्ति A तथा O वर्ग वाले व्यक्तियों से रक्त ले सकता है।
2. **रक्त वर्ग B**—इस रक्त वर्ग के व्यक्ति के लाल रक्त कणिकाओं में एग्ल्यूटिनोजन B तथा एग्ल्यूटिनिन एण्टी A होता है। इस वर्ग के व्यक्ति B और O रक्त वर्ग वालों से रक्त ले सकते हैं तथा B और AB वर्ग वाले व्यक्ति को रक्त दे सकते हैं।
3. **रक्त वर्ग AB**—इस रक्त वर्ग वाले व्यक्ति में लाल रक्त कणिकाओं में एग्लूटिनोजन A और B दोनों उपस्थित होते हैं, परन्तु रक्तग्वारि एग्लूटिनिन अनुपस्थित होता है। यह रक्त वर्ग सभी रक्त वर्ग वाले व्यक्तियों से रक्त ले सकता है इसलिए इस वर्ग के व्यक्तियों को सर्व आदता (Universal recipient) कहते हैं। इस वर्ग के व्यक्ति सिर्फ अपने ही वर्ग (AB) वाले व्यक्ति को रक्त देते हैं।
4. **रक्त वर्ग 'O'**—इस वर्ग वाले व्यक्ति एग्लूटिनिन एण्टी A तथा B होता है, परन्तु लाल रक्त कणिका में एग्ल्यूटिनोजन का अभाव होता है। यही कारण है कि इस वर्ग के व्यक्ति सभी वर्ग के व्यक्ति को रक्त दे सकते हैं, परन्तु ले नहीं सकते हैं। अत: C वर्ग के व्यक्ति सर्व प्रदाता (Universal Donor) कहलाते हैं।

प्र.11. हृदय स्पन्दन से आप क्या समझते हैं?

उत्तर हृदय के निलय में निरन्तर संकुचित होने के कारण रुधिर अत्यधिक झटके के साथ महाधमनी एवं सहायक धमनियों में रुक-रुक कर बहता है। इसी क्रिया को हृदय स्पन्दन या हृदय दर कहते हैं। एक मिनट में धमनी में उतने ही स्पन्दन होते हैं जितने कि हृदय में। नाड़ी की दर ऐसी ही धमनियों पर अँगुलियाँ रखकर ज्ञात की जाती है जो त्वचा के समीप होती है। एक मिनट में हृदय या नाड़ी में जितने भी स्पन्दन होते हैं उनसे ही नाड़ी की दर भी ज्ञात की जाती है। धमनी में उतने ही स्पन्दन होते हैं जितने कि हृदय में। स्वस्थ मनुष्य में यह दर 70-80 प्रति मिनट, वृद्धजनों में लगभग 60 प्रति मिनट तथा नवजात शिशुओं में 130-140 प्रति मिनट तथा बालक में 120 प्रति मिनट होती है।

प्र.12. रक्तदाब से क्या अभिप्राय है?

उत्तर हृदय एक निश्चित दाब से रक्त को धमनियों में फेंकता है। यह दाब इतना होता है कि हृदय से रक्त को धमनियों द्वारा शरीर के विभिन्न अंगों तक ले जाता है तथा अंगों से शिरा के द्वारा हृदय में धीरे-धीरे वापस लौटा लाता है। जिस दाब से रक्त धमनियों में प्रवाहित किया जाता है उसे ही रक्तदाब कहते हैं।

सर्वप्रथम स्टीफेन हेल्स ने 200 वर्ष पूर्व घोड़ी के गर्दन के ऊपर रक्तदाब जानने के लिए प्रयोग किया तथा उन्होंने दो निष्कर्ष निकाले—

1. धमनी में रक्तचाप अधिक होता है।
2. रक्तचाप दो प्रकार का होता है। हृदय के संकुचन के समय धमनी में रक्तचाप अधिक होता है, उसे प्रकुंचन रक्तदाब (Systolic Blood Pressure) कहते हैं।

हृदय के शिथिलन के समय धमनी में रक्त का दाब घट जाता है। इस प्रकार दो संकुचन के मध्य दाब को अनुशिथिलन रक्त दाब (Systolic Blood Prssure) कहते हैं।

एक स्वस्थ मनुष्य में प्राकुंचन रुधिर तथा अनुशिथिलन रुधिर दाब 55-80 मिमी पारे के दाब के बराबर होता है। रुधिर दाब को स्फिग्मोमैनोमीटर के द्वारा मापा जाता है।

कभी-कभी रक्त दाब अपने निश्चित दाब से कम या अधिक हो जाता है। जब प्राकुंचन रुधिर दाब सामान्य (100-140 मिमी) से अधिक हो जाता है तो उसे उच्च रक्तचाप (High Blood Pressure) कहते हैं। जब अनुशिथिलन रुधिर दाब सामान्य (55-80 मिमी) से कम हो जाता है तो उसे निम्न रक्तचाप (Low Blood Pressure) कहते हैं।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. पाचन से क्या तात्पर्य है? आहारनाल के विभिन्न भागों में होने वाली पाचन क्रिया का वर्णन कीजिए।

उत्तर

पाचन तन्त्र (Digestive System)

पाचन तन्त्र शरीर का महत्त्वपूर्ण तन्त्र है। यह एक प्रकार का ऊर्जा स्रोत है। यहाँ भोजन अनेक प्रक्रियाओं से होकर ऊर्जा में परिवर्तित होता है। पाचन तन्त्र के अंग इस प्रकार हैं—

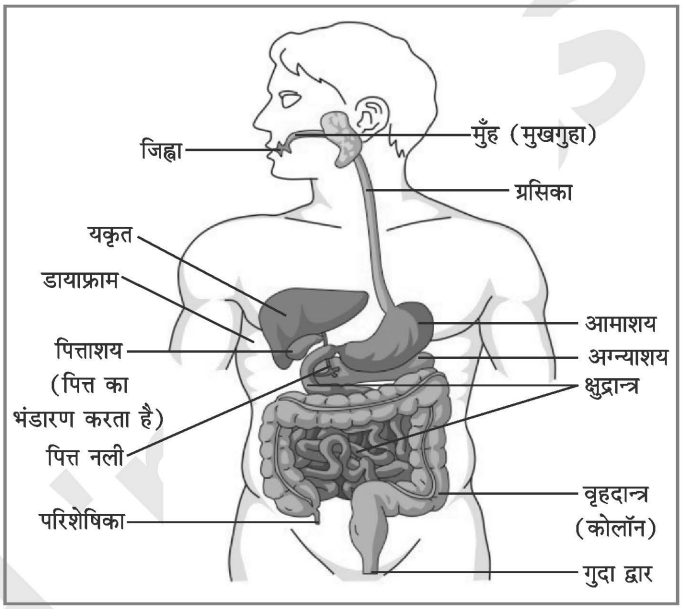

चित्र : मानव का पाचन तन्त्र

आहारनाल (Food Pipe)

वैसे सम्पूर्ण पाचन क्रिया एक ही अंग के द्वारा होती है जिसे हम आहारनाल या पाचन प्रणाली कहते हैं। यह आहारनाल लगभग 11 मीटर लम्बी होती है जो मुँह से प्रारम्भ होकर गुदा (मल द्वार) तक चली जाती है। अपने पूरे मार्ग में यह भिन्न-भिन्न आकार धारण करके भिन्न-भिन्न क्रियाएँ करती है। इतनी लम्बी नली शरीर में सीधी हो नहीं सकती। अत: इसका अधिकांश भाग स्प्रिंग की तरह कुण्डलित अवस्था में उदर-गुहा के अन्दर स्थित होता है। जहाँ इसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है।

भोजन मार्ग (Food Passage)

सर्वप्रथम भोजन मुख में प्रवेश करता है। मुख में लार ग्रन्थियाँ भोजन पर क्रिया करती हैं इसके पश्चात् भोजन ग्रसनी में चला जाता है।

1. **ग्रसनी** (Pharynx)—यह मुख से आरम्भ होती है जो मुख के पीछे की ओर जाकर एक कीप का आकार ग्रहण करती है। इस कीप के आकार के गड्ढे को **ग्रसनी** (Pharynx) कहते हैं यहाँ से भोजन ग्रासनली में चला जाता है।
2. **ग्रासनली** (Oesophagus)—ग्रासनली की लम्बाई लगभग 40 सेमी० होती है। यह नली ग्रीवा से होती हुई वक्ष में पहुँचती है तथा श्वास नली के पीछे रहती है। इस स्थान पर भोजन पर कोई क्रिया नहीं होती है। इसके बाद यह **मध्यपट** (Diaphragm) से गुजरती हुई आमाशय के रूप में फैल जाती है।
3. **आमाशय** (Stomach)—आमाशय मशक के आकार का मांसपेशियों का बना एक खोखले थैले के आकार का होता है जो मध्य पेट के ठीक नीचे तथा कुछ बाईं ओर हटकर स्थित होता है। यहाँ अनेक क्रियाएँ होने के बाद भोजन **पक्वाशय** में प्रवेश करता है।
4. **ग्रहणी** (Duodenum)—आमाशय अपने दूसरे सिरे पर पुन: सँकरा हो जाता है, यहाँ से छोटी आँत या **क्षुद्रान्त्र** (Small Intestine) आरम्भ होती है। यह अर्द्धचन्द्राकार अंग्रेजी के अक्षर 'U' के आकार का होता है तथा इसकी लम्बाई लगभग 25 सेमी होती है। इस 'U' के समान खोखले स्थान में एक ग्रन्थि होती है जिससे पक्वाशय रस निकलता है तथा ग्रन्थि को अग्न्याशय (Pancreas) कहते हैं। ग्रहणी में ही यकृत (Liver) तथा अग्न्याशय की रस नलिकाएँ आकर खुलती हैं। यकृत से पित्तरस तथा अग्न्याशय से अग्न्याशयिक रस आकर मिलते हैं जो भोजन को पचाने की क्रिया में सहायक होते हैं।
5. **क्षुद्रान्त्र एवं वृहदान्त्र** (Small and Large Intestines)— अग्न्याशय के बाद भोजन छोटी आँत (Small Intestine) में आता है। यह 6 मीटर लम्बी तथा 4 सेमी चौड़ी होती है। यह सर्प की कुण्डली के समान उदर में मुड़ी हुई स्थिति में होती है। इसमें छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ होती हैं जिसमें से आन्त्र रस निकलकर भोजन पर क्रिया करता है। इसमें भोजन अपने सरल रूप से परिवर्तित होकर रक्त में मिलने योग्य हो जाता है। छोटी आँत और आगे मोटी नाली में खुलती है

जिसे **वृहदान्त्र** (Large intestine) कहते हैं। वृहदान्त्र 2 मीटर लम्बी तथा 6 सेमी चौड़ी होती है। बड़ी आँत में पाचन क्रिया नहीं होती। केवल यह भोजन में से जल को पृथक करती है और अनपचे या अपच भोजन को शरीर से बाहर निकालने के लिए मलाशय तक पहुँचाती है।

6. **अन्धान्त्र** (Caecum)—जिस स्थान पर छोटी आँत बड़ी आँत से मिलती है, उसके ठीक नीचे वृहदान्त्र में एक बन्द थैले के आकार-सा भाग होता है। इसी भाग (थैले) को अन्धान्त्र (Caecum) कहते हैं।
7. **पुच्छ** (Appendix)—अन्धान्त्र से ठीक नीचे की ओर एक छोटी सँकरी तथा बन्द नली लटकी हुई स्थिति में रहती है। इसी को पुच्छ (Appendix) कहते हैं। इसकी लम्बाई लगभग 10 से 12 सेमी होती है।
8. **मलाशय** (Rectum)—बड़ी आँत तथा छोटी आँत से कुछ ऊपर के बाईं ओर मुड़ी हुई यकृत तथा आमाशय के नीचे होती हुई उदर के दूसरे सिरे तक नीचे की ओर मुड़ती हुई अर्थात् बड़ी आँत का आखिरी सिरा मलाशय (Rectum) कहलाता है जो गुदा अथवा मलद्वार (Anus) में खुलता है। यहीं से अपच भोजन समय-समय पर मलद्वार द्वारा शरीर से बाहर निकल जाता है।

अत: यह स्पष्ट हो गया है कि पाचन-क्रिया में पाचन प्रणाली के अनेक अंग सक्रिय रूप से भाग लेते हैं। अब इन अंगों व ग्रन्थियों तथा उनके कार्यों का वर्णन किया जा रहा है।

प्र.2. मानव शरीर में यकृत की संरचना एवं कार्यों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

यकृत की संरचना (Structure of Liver)

उदर गुहा में सबसे आगे और कुछ दाहिनी ओर स्थित बड़ी चॉकलेटी रंग की कोमल, परन्तु ठोस रचना होती है। यह शरीर की सबसे बड़ी ग्रन्थि है। इसका वजन 1-2 किग्रा तक होता है। एक लम्बवत् खाँच द्वारा यह बड़े दाहिने और छोटे बाएँ पिण्डों में बँटी होती है। दाएँ पिण्ड से एक छोटी-सी, गहरे रंग की अण्डाकार थैली सटी होती है। यकृत में दो रक्त-वाहिकाएँ रक्त लेकर आती हैं। शुद्ध रक्त लाने वाली **यकृत धमनी** (Hepatic artery) होती है। यह महाधमनी की एक शाखा है। यह महाधमनी से शुद्ध रक्त लाकर यकृत का पोषण करती है। दूसरी नली **पोर्टल शिरा** (Portal vein) है। जिसे अशुद्ध रक्त वाहिका कहते हैं। यह शिरा उन शिराओं से मिलकर बनती है जो आमाशय, आन्त्रों, प्लीहा व अग्न्याशय से अशुद्ध रक्त लेकर तथा यकृत में उत्पन्न हुए व्यर्थ पदार्थों को अपने साथ ले जाकर महाशिरा में मिल जाती है। यकृत के अन्दर रक्त को धारण करने की बहुत बड़ी शक्ति होती है। यकृत ग्रन्थि शरीर की महत्त्वपूर्ण रासायनिक प्रयोगशाला है। जिसमें कई उपयोगी पदार्थ बनते हैं और एकत्रित होते हैं, जिनकी शरीर को आवश्यकता पड़ने पर शरीर को दे दिए जाते हैं। यकृत वाहिनियों द्वारा यकृत में बना रस पित्ताशय में एकत्रित होता है। इसे **पित्ताशय** (Gall bladder) कहते हैं, यकृत की कोशिकाओं द्वारा स्रावित पित्त रस कई नलिकाओं द्वारा इकट्ठा होकर इसी में भरता रहता है। फिर जब भोजन आहारनाल की ग्रहणी से आता है, तो पित्ताशय संकुचित होकर अपने अन्दर भरे पित्त रस को एक **पित्तवाहिनी** (Bile duct) द्वारा ग्रहणी में भेज देता है।

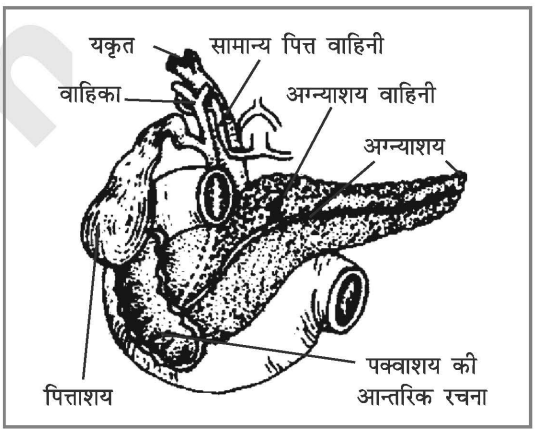

चित्र : यकृत की संरचना

यकृत के कार्य (Functions of Liver)

जिगर हमारे शरीर का बहुत ही महत्त्वपूर्ण और सक्रिय अंग होता है। घर में एक कुशल गृहिणी के जो काम होते हैं वही काम हमारे शरीर में जिगर करता है। इसके विभिन्न कार्य संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

1. **पित्त का स्त्रावण**—पित्त बनाना यकृत का मुख्य कार्य है। पित्त हरे रंग का क्षारीय जटिल पदार्थ है। इसमें सोडियम बाइकार्बोनेट व पित्त-लवण तथा पित्त रंगा आदि पदार्थ होते हैं। यह आँत में खाद्य पदार्थ जैसे—वसाओं के पाचन में विशेष सहायक होते हैं। यह भोजन को सड़ने से रोकने में सहायक है तथा हानिकारक जीवाणुओं को नष्ट करता है।

2. **ग्लाइकोजन का संग्रह**—आमाशय तथा आँत से पचे हुए भोजन को लाने वाली रक्त वाहिनियाँ हृदय में सीधे न पहुँचकर जिगर में खुलती हैं। इस प्रकार शरीर के अन्य भाग में पहुँचने से पहले सारा पचा हुआ भोजन जिगर में पहुँचता है। यकृत कोशिकाएँ पचे भोजन में उपस्थित आवश्यकता से अधिक शर्करा को ग्रहण करके इसे ग्लाइकोजन के कणों में बदल देती हैं तथा अपने जीवद्रव्य में संग्रह कर लेती हैं। रक्त की शर्करा में कमी पड़ने पर यकृत कोशिकाएँ इस ग्लाइकोजन को वापस शर्करा में बदलकर रक्त में पहुँचा देती हैं।
3. **प्रोटीन को शर्करा में बदलना**—जब शरीर में शर्करा की अधिक कमी पड़ती है तो यकृत कोशिकाएँ प्रोटीन्स को शर्करा में बदल देती हैं तथा इस क्रिया से अमोनिया निकलती है।
4. **मूत्र बनाने में सहायक**—प्रोटीन को शर्करा में बदलने में जो अमोनिया बनती है, यह कार्बन डाइ-ऑक्साइड (CO_2) से मिलकर यूरिया बनाती है। यह यूरिया रक्त के माध्यम से वृक्कों (Kidney) में पहुँच जाता है। वहाँ से यह यूरिया मूत्र के रूप में बाहर निकल जाता है।
5. **निर्जीव वस्तुओं का संग्रह**—यकृत कोशिकाएँ लोहा, ताँबा आदि निर्जीव वस्तुओं का संग्रह करती रहती हैं।
6. **जीवाणुओं का भक्षण**—रक्त में उपस्थित हानिकारक जीवाणुओं का यकृत कोशिकाएँ भक्षण कर इन्हें नष्ट कर देती हैं।
7. **हिपैरिन का स्रावण**—यकृत कोशिकाएँ **हिपैरिन** नामक पदार्थ बनाती हैं जो रक्त वाहिनियों में रक्त को जमने से रोकता है।

प्र.3. छोटी आँत में कौन-से रस भोजन का पाचन करते हैं? उदाहरण सहित समझाइए तथा बड़ी आँत का क्या कार्य है? उल्लेख कीजिए।

उत्तर

छोटी आँत (Small Intestine)

यह लगभग 5-6 मीटर लम्बी तथा 25 सेमी मोटी अत्यधिक कुण्डलित नलिका है जिसको तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

1. **ग्रहणी या पक्वाशय** (Duodenum)—यह लगभग 25 सेमी लम्बी, छोटी आँत की सबसे छोटी तथा चौड़ी नलिका है। आमाशय पक्वाशयी छिद्र (pyloric aperture) द्वारा ग्रहण की जाती है। यह भाग आमाशय के साथ लगभग 'C' का आकार बनाता है। इसके मुड़े भाग तथा आमाशय के बीच अग्न्याशय (pancreas) नामक ग्रन्थि होती है। **यकृत** (Liver) शरीर की सबसे बड़ी ग्रन्थि है। इसमें पित्त रस बनता है। पित्त रस को लाने वाली पित्त नली (Bile duct) तथा अग्याशय से आने वाली अग्न्याशय नली (pancreatic duct); सह नलिका के रूप में पक्वाशय में ही खुलती है।
2. **मध्यान्त्र** (Jejunum)—यह लगभग 25 मीटर लम्बी, चार सेमी चौड़ी नलिका है, जो अत्यधिक कुण्डलित होती है।
3. **शेषान्त्र** (Ileum)—यह लगभग 275 मीटर लम्बी व 35 सेमी चौड़ी कुण्डलित आँत है।

छोटी आँत की दीवारें अपेक्षाकृत पतली होती हैं किन्तु इनमें मांसपेशियाँ आदि सभी स्तर होते हैं। ग्रहणी को छोड़कर शेष छोटी आँत में भीतरी सतह पर असंख्य छोटे-छोटे अंगुली के आकार के उभार होते हैं। इनको रसांकुर (villi) कहते हैं। श्लेष्मिका के प्रति वर्ग मिलीमीटर क्षेत्र में 20-40 रसांकुर होते हैं। रसांकुरों पर सूक्ष्म रसांकुर (microvilli) होते हैं। इनके कारण शेषान्त्र की अवशोषण सतह लगभग 600 गुना बढ़ जाती है। इनकी उपस्थिति के कारण आँत की भीतरी दीवार तौलिए की तरह रोएँदार होती है।

प्रत्येक रसांकुर की बनावट पचे हुए भोजन को सोखने (अवशोषित करने) के लिए, अत्यधिक विशिष्ट संरचना वाली होती है। रसांकुरों के बीच-बीच में श्लेष्म कला में आन्त्र ग्रन्थियाँ (intestinal glands) होती हैं जो एक पाचक रस, आंत्रीय रस (intestinal juice) स्रावित करती हैं।

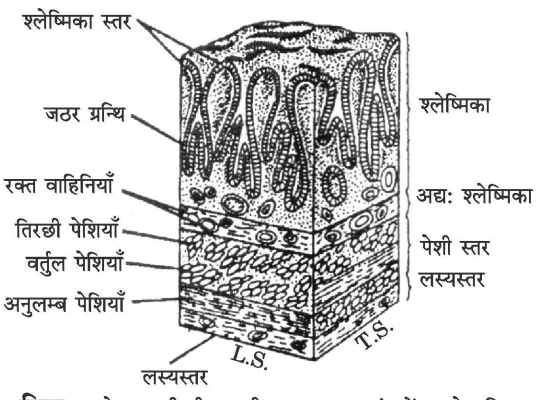

चित्र : शेषान्त्र की दीवार की रचना तथा रसांकुरों का रेखाचित्र

बड़ी आँत (Large Intestine)

छोटी आँत के बाद शेष आहारनाल बड़ी आँत का निर्माण करती है। यह लम्बाई में छोटी आँत से छोटी किन्तु अधिक चौड़ी होती है। इसमें तीन भाग स्पष्ट दिखाई देते हैं—

1. उण्डुक या सीकम, 2. वृहदान्त्र या कोलॉन तथा 3. मलाशय।

छोटी आँत, बड़ी आँत के किसी एक भाग में खुलने के बजाय उण्डुक तथा कोयल के संगम स्थान पर शेशान्त्र-उण्डकीय छिद्र (ileo-caecal aperture) द्वारा खुलती है। इस स्थान पर शेषान्त्र-उण्डकीय कपाट (ileo-caecal valve) होता है जो भोजन को शेषान्त्र में वापस जाने से रोकता है।

1. **उण्डुक** (Caecum)—यह लगभग 6 सेमी लम्बी, 7.5 सेमी चौड़ी थैली की तरह की संरचना है जिससे लगभग 9 सेमी लम्बी सँकरी, कड़ी तथा बन्द नलिका निकलती है। इसको कृमिरूप परिशंशिका या उण्डुक पुच्छ (Vermiform appendix) कहते हैं। वास्तव में यह संरचना मानव शरीर में अनावश्यक है; अत: कई बार यह रोगग्रस्त हो जाती है और तब शल्य क्रिया द्वारा इसे निकाल दिया जाता है। इस रोग को उण्डुकशोथ (appendicitis) कहते हैं।
2. **कोलॉन** (Colon)—यह लगभग 1.25 मीटर लम्बी, 6 सेमी चौड़ी नलिका है, जो 'U' की तरह पूरी छोटी आँत को घेरे रहती है। इसका अन्तिम भाग मध्य से कुछ बायीं ओर झुककर मलाशय (rectum) में खुलता है।
3. **मलाशय** (Rectum)—लगभग 18.20 सेमी लम्बा तथा 4 सेमी चौड़ा नलिका की तरह का यह भाग अपने अन्तिम 3-4 सेमी भाग में काफी सँकरी नली बनाता है। इसे गुदा नाल (anal canal) कहते हैं। इसकी भित्ति में मजबूत संकुचनशील पेशियाँ होती हैं तथा यह एक छिद्र गुदा द्वारा (anal aperture) द्वारा बाहर खुलती है। इस छिद्र पर अनैच्छिक तथा ऐच्छिक पेशियाँ नियन्त्रण रखती हैं। गुदा नाल की श्लेष्मिका पर अनेक अनुलम्ब भंज पाए जाते हैं, इन्हें गुदा स्तम्भ कहते हैं। इनके फूल जाने से बवासीर (piles) का रोग हो जाता है। इनकी शिराओं के फटने से खूनी बवासीर हो जाती है।

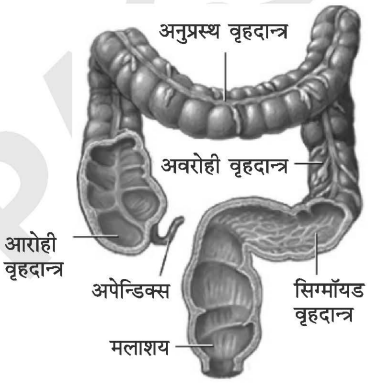

चित्र : मनुष्य की वृहदान्त्र

प्र.4. श्वसन जीवन के लिए एक अत्यन्त आवश्यक क्रिया है। इस कथन की विवेचना कीजिए।

उत्तर श्वसन जीवन की एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। वास्तव में, श्वसन जीवन की ज्योति है जो जन्म के समय जलती है और जीवन भर जलती रहती है, केवल मृत्यु के समय ही बुझती है। सभी प्राणियों में श्वसन क्रिया सदैव ही होती रहती है। प्राणी चाहे छोटा हो या बड़ा, एक कोशिकीय हो या अत्यधिक जटिल बहुकोशिकीय प्राणी हो या पौधा-श्वसन सभी जीवों का अनिवार्य लक्षण है।

जीवों को सभी प्रकार की क्रियाओं के लिए ऊर्जा की आवश्यकता होती है। प्रत्येक जीव का लक्षण है, वह अपचयी क्रिया (catabolic activity), श्वसन (respiration) के द्वारा खाद्य पदार्थों के ऑक्सीकरण से ऊर्जा को प्राप्त करता है। इस क्रिया को तेज करने के लिए, अधिक लाभकारी बनाने के लिए तथा कार्बनिक पदार्थों के ऑक्सीकरण के लिए ऑक्सीजन उपलब्ध कराई जाती है। इन क्रियाओं में उत्पन्न होने वाली कार्बन डाइऑक्साइड को शरीर से बाहर निकालने और ऑक्सीजन उपलब्ध कराने के लिए इन जीवों में आवश्यक तथा उचित संरचना वाले श्वसन अंग होते हैं, जो परस्पर मिलकर श्वसन तन्त्र (respiratory system) कहलाते हैं।

सामान्यत: श्वसन को पर्यावरण से वायु अन्दर लेना तथा बाहर निकालना समझा जाता है, किन्तु यह श्वसन की एक अवस्था हो सकती है। इसे श्वासोच्छ्वास (breathing) या सामान्य भाषा में साँस लेना कहते हैं। वास्तविक श्वसन तो कोशिकाओं में खाद्य पदार्थ का ऑक्सीकरण है जिसमें ग्लूकोस जैसे अणु को ऑक्सीकृत करके ऊर्जा निष्कासित की जाती है। यह क्रिया सामान्यत: ऑक्सीजन की उपस्थिति में होती है। जब किसी कार्बनिक यौगिक (कोयला, लकड़ी, डीजल, पेट्रोल आदि) को जलाया जाता है, तब भी ऊर्जा निकलती है। यह क्रिया दहन कहलाती है। इसमें ऊर्जा ऊष्मा के रूप में निकलती है।

मनुष्य का श्वसन तन्त्र
(Respiratory System of Human)

मनुष्य में प्रमुख श्वसनांग फेफड़े (lungs) हैं तथा इनके सहायक अंग हैं—नासिका (nose), नासामार्ग (nasal passage), कण्ठ या स्वर यन्त्र (larynx) तथा श्वास नलिका (trachea)। इसके अतिरिक्त मुखगुहा, ग्रसनी, तनु-पट तथा वक्षीय कटहरा भी श्वसन में सहायता करते हैं। श्वसन-तन्त्र के अंगों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित हैं—

नासिका एवं नासामार्ग (Nose and Nasal Passage)

चेहरे पर स्थित नासिका (nose), दो नथुनों या बाह्य नासाछिद्रों (nostrils) द्वारा बाहर खुली होती है। इनके बीच अन्दर झाँकने पर एक नासापट (nasal septum) स्पष्ट दिखाई देता है। इससे नासागुहा दो भागों (दाएँ तथा बाएँ) में बँटी होती है। नासिका तथा नासापट का अगला भाग उपस्थित तथा पिछला भाग अस्थियों से बना होता है। नासागुहा पीछे एक टेढ़े-मेढ़े, घुमावदार मार्ग में खुलती है, जिसे नासामार्ग कहते हैं। नासामार्ग विभिन्न प्रकार से उभरी हुई अस्थियों के कारण टेढ़ा-मेढ़ा होता है। नासामार्ग रोमाभ श्लेष्मक कला (mucous membrane) से ढका रहता है। श्लेष्म कला से चिकना, तरल श्लेष्म स्रावित होता है।
नासामार्ग मुखगुहा के ग्रसनी (pharynx) भाग में खुलता है। नासामार्ग के अत्यधिक घुमावदार तथा नम रहने से ग्रहण की गई वायु का ताप शरीर ताप के बराबर हो जाता है। श्लेष्मक कला के रोमाभ (ciliated) होने के कारण वायु की धूल, जीवाणु आदि फेफड़ों में नहीं जा पाते।

स्वर यन्त्र (Larynx)

ग्रसनी के पश्च भाग में निगल द्वार तथा घाँटीद्वार नामक छिद्र होते हैं। निगलद्वार ग्रासनाल में खुलता है। इससे भोजन ग्रासनाल में पहुँचता है। श्वास की वायु को ग्रसनी से श्वास नलिका में पहुँचाने वाला छिद्र घाँटी अथवा कण्ठद्वार या ग्लॉटिस (glottis) कहलाता है। इसके ऊपर उपास्थि का बना एक पत्ती सदृश ढक्कन होता है, जिसे घाँटी ढापन (epiglottis) कहते हैं। भोजन निगलते समय वह घाँटी को बन्द कर लेता है तथा शेष समय खुला रहता है। इससे भोजन श्वास नाल में नहीं जाता।
स्वर यन्त्र एक छोटे-से बॉक्स की तरह होता है। पुरुषों में यह बाहर से ही सामने की ओर उभरा हुआ दिखाई देता है। इसको टेंटुआ या आदम का एम्पल (Adam's apple) कहते हैं। यह कई उपास्थियों से मिलकर बना होता है तथा अन्दर से यह श्लेष्मक झिल्ली से ढँका रहता है। स्वर यन्त्र की गुहा में लचीले स्नायुओं के दो समूह होते हैं, इन्हें स्वर रज्जु कहते हैं। इनमें से एक समूह को मिथ्या स्वर रज्जु तथा दूसरे को वास्तविक स्वर रज्जु कहते हैं। वास्तविक स्वर रज्जुओं में कम्पन होने से ध्वनि उत्पन्न होती है। ध्वनि की तीव्रता उच्छ्वास में वायु की मात्रा एवं दाब तथा स्वर रज्जुओं के कम्पन्न की प्रचुरता पर निर्भर करती है। बाल्यावस्था में बालक और बालिकाओं में स्वर यन्त्र समान होने से रबर एक जैसा होता है। लेकिन वयस्क अवस्था में किशोरों की आवाज भारी और किशोरियों की आवाज पतली और सुरीली हो जाती है।

श्वास नलिका (Trachea or Wind Pipe)

यह लगभग 10.15 सेमी लम्बी 1.5 से 2.5 सेमी व्यास की नलिका होती है, जो गर्दन में सामने की ओर स्थित होती है। वक्ष में पहुँचकर यह दो छोटी शाखाओं में बँट जाती है, जिन्हें श्वसनियाँ या ब्रॉंकाई (bronchi) कहते हैं। प्रत्येक शाखा अपनी ओर के फेफड़े में प्रवेश करती हैं।

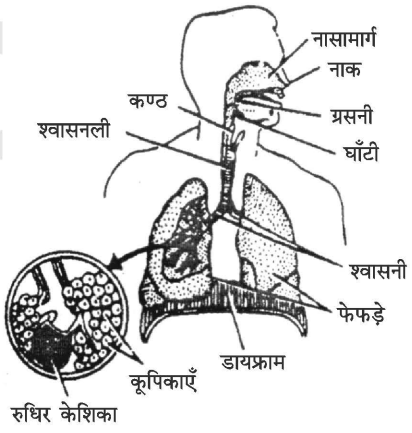

चित्र : मनुष्य का श्वसन-तन्त्र

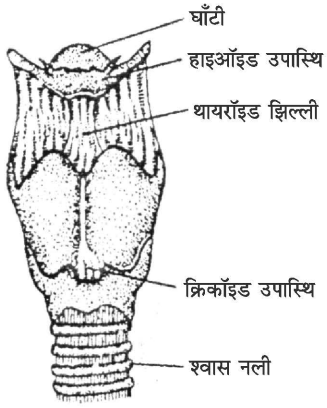

चित्र : स्वर-तन्त्र

श्वास-नाल की दीवार में 16 से 20 उपास्थियों के अधूरे छल्ले होते हैं। ये गले पर टटोल कर अनुभव किए जा सकते हैं। यह छल्ला 'C' के आकार का तथा पीठ की ओर अधूरा होता है। इन छल्लों से श्वास-नाल पिचकने नहीं पाती तथा वायु के आने-जाने में कोई बाधा नहीं पड़ती है। ऐसे छल्ले श्वसनियों में भी होते हैं।

श्वास-नाल तथा श्वसनियों की भीतरी सतह पर रोमाभ श्लेष्मक कला होती है जो श्लेष्म उत्पन्न करती है। इसमें अनेक रोमाभ (cilia) होते हैं, जो श्लेष्म और उसमें फँसी गन्दगी को कण्ठ की ओर ढकेलते रहते हैं। ऐसे रोमाभ नासामार्ग में भी होते हैं।

श्वसनियाँ या ब्रॉंकाई अपनी-अपनी ओर के फेफड़ों में प्रवेश करके शाखाओं तथा उपशाखाओं में विभाजित हो जाते हैं। इनकी अन्तिम शाखाएँ **कूपिका नलिकाएँ** (alveolar ducts) कहलाती हैं। कूपिका नलिकाएँ वायु से भरे वायुकोश (alveolar sacs) में खुलती हैं। प्रत्येक वायुकोश में दो या अधिक वायु कोष्ठक (alveoli) होते हैं। वायु कोष्ठकों में रक्त कोशिकाओं का जाल फैला रहता है। ऑक्सीजन तथा कार्बन डाइऑक्साइड का विनिमय वायु कोष्ठकों तथा इनमें पाई जाने वाली रक्त कोशिकाओं के मध्य होता है।

फेफड़े या फुप्फुस (Lungs)

फेफड़े हमारे मुख्य श्वसनाँग हैं। ये वक्षगुहा (thoracic cavity) में हृदय के इधर-उधर स्थित गहरे कत्थई-स्लेटी, रंग के, अत्यन्त कोमल, स्पंजी, खोखले और लचीले अंग हैं। फेफड़े चारो ओर से दोहरी झिल्ली से घिरे होते हैं। दोनों झिल्लियों के मध्य एक गुहा बन जाती है। इस गुहा को फुप्फुस गुहा (Pleural cavity) कहते हैं। इसमें एक लसदार तरल पदार्थ भरा रहता है। झिल्लियों को फुप्फुसावरण (pleura) कहा जाता है। यह गुहा तथा इसका तरल फेफड़ों की सुरक्षा करते हैं। वक्षगुहा में दोनों फेफड़ों के बीच केवल एक सँकरा स्थान शेष होता है, जिसमें श्वास-नाल, श्वसनियाँ, ग्रासनाल, हृदय आदि अंग व्यवस्थित रहते हैं।

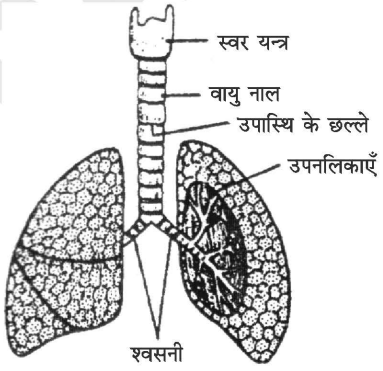

चित्र : फेफड़ों की संरचना

फेफड़े श्वसन-तन्त्र के प्रमुख अंग हैं। फेफड़े संख्या में दो होते हैं। दायाँ फेफड़ा बाएँ फेफड़े की अपेक्षा कुछ बड़ा होता है। यह अधूरी खाँचों के द्वारा तीन पिण्डों में बँटा रहता है। बायाँ फेफड़ा एक ही अधूरी खाँच द्वारा दो पिण्डों में विभक्त होता है। इन खाँचों के अतिरिक्त फेफड़ों की बाहरी सतह सपाट तथा चिकनी होती है किन्तु भीतरी संरचना एकदम मधुमक्खी के छत्ते की तरह स्पंजी एवं असंख्य वायुकोशों (alveoli) में बँटी रहती है, जिनकी संख्या अधिक वयस्क व्यक्ति में लगभग पन्द्रह करोड़ होती है।

प्रत्येक फेफड़े का सम्बन्ध एक श्वसनी (bronchus) से होता है। प्रत्येक श्वसनी, जो श्वास नलिका के दो भागों में बँटने से बनती है, फेफड़े के अन्दर प्रवेश कर अनेक शाखा-उपशाखाओं में बँट जाती है। अत्यन्त महीन उपशाखाएँ जो अन्तिम रूप से बनती हैं, कूपिका नलिकाएँ (alveolar ducts) कहलाती हैं। प्रत्येक कूपिका नलिका के सिरे पर अंगूर के गुच्छे की तरह अनेक वायुकोश (alveoli) जुड़े रहते हैं।

प्रत्येक वायुकोश (alveolus) अति महीन झिल्ली का बना होता है। झिल्ली का निर्माण चपटी शल्कीय कोशिकाओं से होता है। इसकी बाहरी सतह पर रुधिर कोशिकाओं (blood capillaries) का जाल फैला रहता है। यह जाल फुप्फुस धमनी के अत्यधिक शाखान्वित होने से बनता है। इन कोशिकाओं में शरीर का ऑक्सीजनरहित रक्त आता है तथा इसमें कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा अधिक होती है। यह कार्बन डाइऑक्साइड वायुकोष की वायु में विसरित हो जाती है। बाद में ये कोशिकाएँ मिलकर फुप्फुस शिरा बनाती हैं। इसमें ऑक्सीजनयुक्त रक्त होता है।

प्र.5. श्वसन की अवस्थाएँ या विभिन्न चरणों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

श्वसन की अवस्थाएँ या विभिन्न चरण
(Different Steps or Phases of Respiration)

इस प्रकार के श्वसन के लिए प्राणियों की त्वचा (skin), जैसे—मेढक में, गलफड़े (gills); जैसे—मछलियों में, फेफड़े; जैसे—मनुष्य सहित सभी उच्च श्रेणी के कशेरुकी जन्तुओं में होते हैं।

बाह्य श्वसन का अध्ययन निम्नलिखित भागों में कर सकते हैं—

(I) श्वासोच्छ्वास (Breathing)

वायुमण्डल से शुद्ध वायु का फेफड़ों में पहुँचना तथा अशुद्ध वायु का फेफड़ों से बाहर निकलना ही श्वासोच्छ्वास (breathing) क्रिया है।

मनुष्य में श्वासोच्छ्वास-क्रियाविधि (Breathing Mechanism in Human)

श्वासोच्छ्वास क्रियाविधि का अध्ययन दो चरणों में किया जाता है। पहली क्रिया जिससे वायु फेफड़ों में भरती है। अन्त:श्वसन (inspiration) कहलाती है। दूसरी क्रिया जिसके द्वारा वायु फेफड़ों से बाहर निकलती है, नि:श्वसन या उच्छ्वसन (expiration) कहलाती है। ये दोनों क्रियाएँ डायफ्राम तथा पसलियों के बीच स्थित बाह्य तथा अन्त: अन्तरापर्शुक पेशियों (intercostal muscles) के कारण होती है। डायफ्राम द्वारा होने वाली श्वसन क्रिया को उदर श्वासोच्छ्वास श्वसन (abdominal breathing) तथा अन्तरापर्शुक पेशियों से होने वाली क्रिया को पर्शुक श्वसन (costal breathing) कहते हैं। ये क्रियाएँ निम्न प्रकार सम्पन्न होती हैं—

1. **अन्त:श्वसन** (Inspiration)—वक्ष गुहा के अधर तल पर स्थित डायफ्राम विश्रामावस्था में गुम्बज के समान (dome shaped) होता है, किन्तु जब अरीय पेशियाँ सिकुड़ती हैं तो डायफ्राम गुम्बज की तरह न रहकर चपटा हो जाता है। इसके चपटे हो जाने से वक्षीय गुहा का आयतन बढ़ जाता है।
   इसी समय बाह्य अन्तरापर्शुक पेशियाँ (प्रत्येक पर्शुक के ऊपरी भाग से निकलकर अपनी पीछे वाली पसली के निचले भाग से जुड़ी होती हैं) सिकुड़ती हैं, पसलियाँ आगे को खिसकने के साथ कुछ बाहर की ओर भी खिसकती हैं और स्टर्नम नीचे को झुकता है। पसलियों के खिसकने से वक्षीय गुहा का आयतन बढ़ जाता है।
   इस प्रकार पसलियाँ, स्टर्नम तथा डायफ्राम सभी वक्षीय गुहा का आयतन बढ़ाते हैं। वक्षीय गुहा का आयतन बढ़ने के साथ फेफडों का आयतन भी बढ़ जाता है और वे फूल जाते हैं। फेफड़ों के फूलने के कारण फेफड़ों के अन्दर वायु का दबाव कम हो जाता है। दबाव एक-सा रखने के लिए वातावरण से वायु फेफड़ों में स्वत: खिंचती चली जाती है। इस प्रकार वायु के फेफड़ों के अन्दर तक पहुँचने से अन्त:श्वसन (inspiration) की क्रिया पूरी होती है।

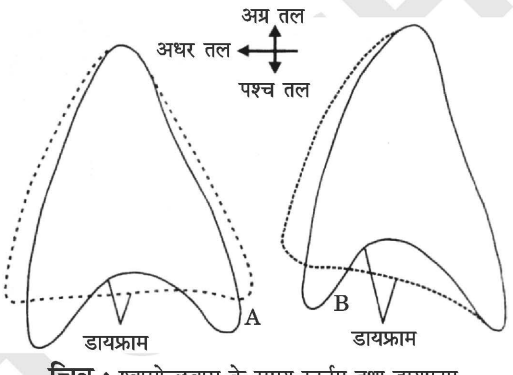

चित्र : श्वासोच्छ्वास के समय स्टर्नम तथा डायफ्राम की स्थिति

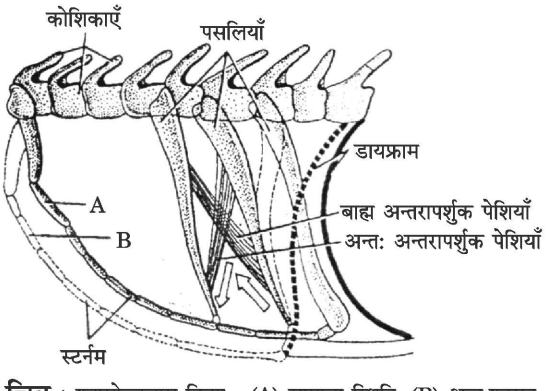

चित्र : श्वासोच्छ्वास क्रिया—(A) सामान्य स्थिति; (B) अन्त:श्वसन के समय स्थिति

2. **नि:श्वसन या उच्छ्वसन** (Expiration)—सामान्य दशाओं में तो नि:श्वसन बिना किसी पेशी संकुचन के ही होता रहता है। केवल बाह्य अन्तरापूर्वक पेशियों तथा डायफ्राम में शिथिलन से ही पसलियाँ, स्टर्नम तथा डायफ्राम अपनी पूर्व स्थिति (सामान्य स्थिति) में लौट आते हैं जिससे वक्षीय गुहा के आयतन पर दबाव पड़ता है, परिणामस्वरूप फेफडों की वायु बाहर निकल जाती है। इस प्रकार के नि:श्वसन को निष्क्रिय नि:श्वसन (Passive expiration) कहते हैं।
   निष्क्रिय नि:श्वसन के विपरीत जन्तु जब परिश्रम करता है, दौड़ता अथवा लम्बी श्वास भरता है तो अन्त:श्वसन (Inspiration) की गति बढ़ जाती है। इस समय सक्रिय नि:श्वसन या उच्छ्वसन (active expiration) होता है। सक्रिय नि:श्वसन के अन्तर्गत अन्त:अन्तरापर्शुक पेशियों (प्रत्येक पसली के निचले भाग से निकलकर अपने पीछे वाली पसली के ऊपरी भाग से जुड़ी रहती है) के सिकुड़ने से पसलियाँ पीछे तथा स्टर्नम के ऊपर की ओर खिसककर अपनी

पूर्व दशा में आ जाती है। इस दशा में वक्षीय गुहा का आयतन कम होकर उतना ही रह जाता है जितना कि नि:श्वसन से पहले था। इसी समय डायफ्राम की पेशियों में शिथिलन होती है जिसके कारण यह पुन: गुम्बदनुमा हो जाता है। इस प्रकार डायफ्राम तथा पसलियों के सामूहिक प्रयास से वक्षीय गुहा का आयतन घट जाता है। फेफड़ों पर दबाव पड़ता है तथा वायु बाहर निकल जाती है।

(II) फेफड़ों में गैसीय विनिमय (Gaseous exchange in Lungs)

अन्त:श्वसन द्वारा वायुमण्डल की शुद्ध वायु फेफड़ों की छोटी-छोटी कूपिकाओं (alveoli) में भर जाती है। इन कूपिकाओं के बाहरी तल पर रुधिर केशिकाओं (blood capillaries) का जाल फैला रहता है। कूपिकाओं तथा रुधिर केशिकाओं की भित्तियाँ अत्यधिक सम्पर्क में तथा पतली होती हैं। अत: कूपिकाओं की वायु से ऑक्सीजन रुधिर में तथा रुधिर से कार्बन डाइऑक्साइड कूपिकाओं की वायु में विसरित हो जाती है। इस क्रिया के लिए लाल रुधिर कणिकाओं में उपस्थित हीमोग्लोबिन, ऑक्सीजन के साथ मिलकर ऑक्सीहीमोग्लोबिन (oxyhaemoglobin) का निर्माण करता है। ऑक्सीजन इसी रूप में रुधिर द्वारा शरीर के विभिन्न ऊतकों तक पहुँचती है।

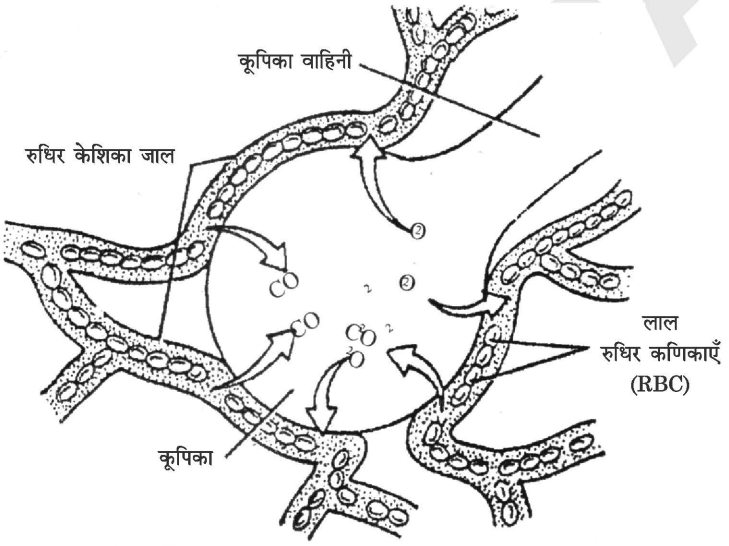

चित्र : फेफड़ों में गैसीय विनिमय कूपिकाओं की वायु रुधिर केशिकाओं के रुधिर के मध्य होता है

मानव के श्वासोच्छ्वास में वायु का संघटन (Composition of Air in breathing of human)

श्वास क्रिया में ग्रहण की गई वायु तथा निष्कासित वायु का संघटन भिन्न होता है। नि:श्वसन में निकाली गई वायु के संघटन में ऑक्सीजन की कमी व कार्बन डाइऑक्साइड तथा जल की अधिकता हो जाती है। इस वायु का तापमान भी बढ़ा हुआ होता है।

	नाइट्रोजन	ऑक्सीजन	कार्बन डाइऑक्साइड	जलवाष्प
अन्त:श्वसन में ली गई वायु	79%	21%	0.03%	प्राय: असंतृप्त
नि:श्वसन में निकाली गई वायु	79%	16%	4.00%	संतृप्त

अन्त:श्वसन द्वारा हम प्रति मिनट लगभग 250 मिली ऑक्सीजन ग्रहण करते हैं और लगभग 220 मिली कार्बन डाइऑक्साइड निष्कासित करते हैं।

फेफड़ों से ऊतक तक ऑक्सीजन का संवहन (Conduction of Oxygen from Lungs to Tissue)

वायु कोष्ठकों में उपस्थित वायु से ऑक्सीजन सामान्य विसरण द्वारा रक्त कोशिकाओं में पहुँचकर लाल रुधिराणुओं की हीमोग्लोबिन से क्रिया करके अस्थायी यौगिक ऑक्सीहीमोग्लोबिन का निर्माण करती है। अस्थायी यौगिक ऑक्सीहीमोग्लोबिन

रक्त द्वारा ही ऊतकों में पहुँचकर ऑक्सीजन को मुक्त कर देता है। मुक्त ऑक्सीजन, भोज्य पदार्थों का जैव रासायनिक ऑक्सीकरण करती है। इसके फलस्वरूप ऊर्जा, जल तथा CO_2 मुक्त होती है

हीमोग्लोबिन + ऑक्सीजन $\rightleftharpoons$ ऑक्सीहीमोग्लोबिन

ऊतक से फेफड़ों तक कार्बन डाइऑक्साइड का संवहन (Conduction of Carbon dioxide from Tissues to Lungs)

कोशिकीय श्वसन के फलस्वरूप उत्पन्न कार्बन डाइऑक्साइड ऊतकों से विसरित होकर ऊतक तरल में पहुँच जाती है। ऊतक तरल से यह कार्बन डाइऑक्साइड रक्त में विसरित होकर लगभग 5 से 10% कार्बोनिक अम्ल (Carbonic Acid), 80 से 85% सोडियम तथा पौटैशियम बाइकार्बोनेट तथा लगभग 10% कार्बोक्सीहीमोग्लोबिन के रूप में फेफड़ों तक पहुँचती है। फेफड़ों में पहुँचकर कार्बन डाइऑक्साइड मुक्त हो जाती है और विसरण द्वारा वायु कोष्ठकों में पहुँचकर उच्छ्वसन या निःश्वसन क्रिया द्वारा शरीर से बाहर निकल जाती है।

आन्तरिक या कोशिकीय श्वसन (Internal or Cellular Respiration)

इसे आन्तरिक श्वसन भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत ऑक्सीजन की उपस्थिति या अनुपस्थिति में कार्बनिक भोज्य पदार्थों का जैव रासायनिक ऑक्सीकरण होता है। यह क्रिया शरीर ताप पर तथा एन्जाइम्स की उपस्थिति में सम्पन्न होती है। इसके फलस्वरूप कार्बन डाइऑक्साइड जल तथा ऊर्जा मुक्त होती हैं। मुक्त ऊर्जा का लगभग 45% गतिज ऊर्जा के रूप में बदलकर ATP में संचित हो जाता है। ATP में सचित ऊर्जा जैविक क्रियाओं के काम आती है।

ग्लूकोज + ऑक्सीजन $\longrightarrow$ कार्बन डाइऑक्साइड + जल + ऊर्जा

प्र.6. रक्त का संघटन एवं कार्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

उत्तर

रक्त एवं उसका संघटन
(Blood and its Composition)

रक्त का संघटन देखने पर हमें ज्ञात होता है कि रक्त में प्रमुख रूप से निम्नलिखित भाग पाए जाते हैं—

1. **लाल रक्त कणिकाएँ**—लाल रक्त कणिकाएँ रक्त में असंख्य होती हैं। रक्त में इनकी इतनी अधिक संख्या होती है कि रक्त लाल रंग का दिखलायी पड़ने लगता है। लाल रक्त कणिकाओं का आकार गोल टिकियों की भाँति होता है। इसकी दोनों सतहें अवतल तथा अन्दर की ओर एवं कुछ गहरी होती हैं। लाल रक्त कणिकाएँ अत्यन्त लचीली होती हैं। प्रत्येक रक्त कणिका का व्यास 1 मिमी का 1/128वाँ भाग होता है। इसी कारण यह कणिकाएँ रक्त की एक बूँद में लाखों की संख्या में पायी जाती हैं।

लाल रक्त कणिकाएँ अर्द्धतरल जीवद्रव्य की बनी होती हैं। लाल रक्त कणिकाओं में रक्त प्रदान करने वाला पदार्थ हीमोग्लोबिन उपस्थित रहता है। हीमोग्लोबिन में आयरन अत्यधिक मात्रा में पाया जाता है। हीमोग्लोबिन की यह विशेषता होती है कि यह ऑक्सीजन को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है तथा आयरन ऑक्सीजन के साथ संयोग करने की शक्ति रखता है। हीमोग्लोबिन ऑक्सीजन को आकर्षित करके उसे अपने में मिलाकर तत्काल एक यौगिक बना देता है। इस यौगिक को ऑक्सी हीमोग्लोबिन कहा जाता है। यह रक्त परिसंचरण के समय फुफ्फुसों में तन्तुओं से होकर प्रवाहित होता है तो तन्तु ऑक्सी हीमोग्लोबिन से

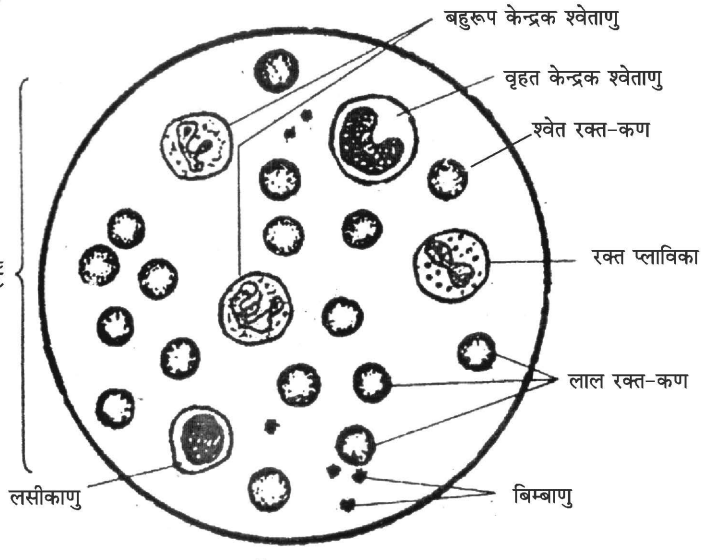

चित्र : रक्त की रचना

ऑक्सीजन ले लेते हैं और उसे पुन: हीमोग्लोबिन में बदल देते हैं। इस प्रकार लाल रक्त कणिकाओं का प्रमुख कार्य फुफ्फुसों से ऑक्सीजन लेकर शरीर की कोशिकाओं तक पहुँचाना होता है। लाल रक्त कणिकाएँ जन्म से पूर्व प्लीहा तथा यकृत में निर्मित होती हैं। वयस्क होने पर अस्थि मज्जा में इनका निर्माण होता है। यह कणिकाएँ साधारण तौर पर 200 दिन तक अपना कार्य सुचारु रूप से करती हैं। इसके उपरान्त यह टूट जाती हैं। कणिकाओं के टूट जाने पर इसका हीमोग्लोबिन प्लाज्मा में घुल जाता है इस प्रकार ये बेकार हो जाती हैं और इनका स्थान दूसरी नवीन रक्त कणिकाएँ ले लेती हैं।

2. **श्वेत रक्त कणिकाएँ**—श्वेत रक्त कणिकाएँ परिवर्तनशील तथा रंगहीन होती हैं। इनकी आकृति भी सुडौल नहीं होती है इसलिए ये पानी में तैरने वाली अमीबा के समान लगती हैं। श्वेत रुधिर कणिकाएँ आकार में लाल रुधिर कणिकाओं से कुछ बड़ी होती हैं। इन कणिकाओं का अनुपात 1 : 500 होता है। एक बूँद रक्त में यदि 50 लाख लाल रक्त कणिकाएँ मिलेंगी तो केवल 12 हजार ही श्वेत कणिकाएँ मिलेंगी।
   श्वेत रुधिर कणिकाएँ अत्यन्त पिलपिले पदार्थ की बनी होती हैं। इसी कारण यह कणिकाएँ अत्यन्त सरलता से अपना रूप बदल लेती हैं। पिलपिले होने तथा रूप परिवर्तने गुण के कारण यह पतले से पतले मार्ग से होकर निकल जाती हैं। इसी कारण यह शरीर के प्रत्येक भाग में पहुँच जाती हैं। श्वेत रुधिर कणिकाओं में हीमोग्लोबिन का अभाव होता है। श्वेत रुधिर कणिकाओं का प्रमुख कार्य शरीर की रोग के रोगाणुओं से रक्षा करना है। ये कणिकाएँ दो प्रकार से शरीर की रक्षा करती हैं। इनमें से कुछ तो इन रोगाणुओं और विकारों से शरीर की रक्षा करती हैं और कुछ कणिकाएँ एक प्रकार का प्रतिजीव विष (Anti Toxin) बनाती हैं। यह प्रतिजीव विष रोगाणुओं द्वारा उत्पन्न जीव विष का प्रतिरोध करता है और उस रोगाणु को कमजोर बना देता है। जब भी शरीर के किसी भी भाग पर रोगाणु आक्रमण करते हैं, यह कणिकाएँ प्रहरी की तरह तुरन्त वहाँ पहुँच जाती हैं और रोगाणु को नष्ट कर देती हैं या उसके विकार को स्वयं में सोख लेती हैं। इस प्रकार इनको शरीर रक्षा या शरीर का सिपाही भी कहा जाता है।
   श्वेत रुधिर कणिकाएँ प्रमुख रूप से दो कार्य करती हैं—
   (i) रोगाणुओं को ग्रसना,
   (ii) शरीर रक्षा के लिए रक्षित क्षेत्र तैयार करना।
   जब यह रुधिर कणिकाएँ रोगाणुओं के विकार को सोख नहीं पाती हैं तब शरीर रोगग्रस्त हो जाता है। उस स्थिति में रोग का रोगाणु इन्हें हरा देता है और शरीर को रोगग्रस्त कर देता है।
3. **रक्त प्लेटलेट (बिम्बाणु)**—रक्त में एक प्रकार के सूक्ष्म कण होते हैं। इन सूक्ष्मकणों का जन्म सूर्य के प्रकाश, वसायुक्त भोजन तथा विटामिन द्वारा होता है। यह सूक्ष्म कण शरीर की रोगों से रक्षा करने में सक्रिय भाग लेते हैं। रक्त बिम्बाणुओं की कमी से शरीर में अनेक प्रकार से सूजन आ जाती है। यदि किसी दुर्घटनावश रक्त बहने लगे तो यह रक्त बिम्बाणु रक्त के जमने में सहायता प्रदान करते हैं। इससे रक्तस्राव बन्द हो जाता है।
4. **रक्त प्लाज्मा**—रक्त प्लाज्मा एक पीला पारदर्शी एवं तरल पदार्थ होता है। इस तरल पदार्थ में रक्त कणिकाएँ तैरती रहती हैं। इस तरल पदार्थ में 90% जल तथा 10% विषनाशक एवं प्रतिरोधक रासायनिक तत्त्व होते हैं। ये रासायनिक तत्त्व उसी जल में घुले रहते हैं। इस रासायनिक तत्त्व में प्रमुख रूप से फाइब्रिन, लवण, प्रोटीन, थोड़ी सी वसा एवं ग्लाइकोजन आदि तत्त्व पाए जाते हैं। इसके अलावा इस रासायनिक तत्त्व में एलब्यूमिन, यूरिया, यूरिक एसिड, फाइब्रिनोजन कार्बन डाइऑक्साइड आदि पदार्थ भी पाए जाते हैं। रक्त में 45 प्रतिशत जल तथा शेष कणिकाएँ होती हैं।
   रक्त प्लाज्मा के कार्य निम्नांकित हैं—
   (i) रोगाणुओं का विष मारने के लिए प्रतिविष उत्पन्न करना।
   (ii) जीवित कोशिकाओं को पेप्टोन, शर्करा, लवण एवं जल की सहायता से पौष्टिकता प्रदान करना।
   रक्त का प्लाज्मा दो भागों से बना होता है—
   (i) फाइब्रिन (Fibrin), (ii) सीरम (Serum)।

रक्त के कार्य (Functions of Blood)

1. **उत्सर्जी पदार्थों का संवहन**—शरीर की कोशिकाओं से उत्पन्न विकारों; जैसे—CO_2 यूरिया, यूरिक अम्ल, टॉक्सिन इत्यादि रक्त में घुलकर उन भागों तक पहुँचाया जाता है जहाँ से इनका निष्कासन हो सके; जैसे—फेफड़े, वृक्क, आँतें इत्यादि।

2. **पोषक पदार्थों का संवहन**—रक्त पोषक पदार्थों का संवहन करता है। यह आमाशय, छोटी आँत, पक्वाशय आदि स्थानों से विभिन्न प्रकार के पोषक तत्त्वों का अवशोषण करके प्रथम यकृत में फिर वहाँ से आवश्यकतानुसार शरीर की प्रत्येक कोशिका तक पहुँचता है।
3. **गैसों का संवहन**—रक्त में उपस्थित हीमोग्लोबिन फेफड़ों से ऑक्सीजन लेकन ऑक्सीहीमोग्लोबिन बनाता है और पूरे शरीर की कोशिकाओं को ऑक्सीजन देकर वहाँ से त्यागी गई कार्बन डाइऑक्साइड को ग्रहण करके ऑक्सीहीमोग्लोबिन में परिवर्तित हो जाता है। कोशिकाओं से लायी गई कार्बन डाइऑक्साइड को फेफड़ों में पहुँचाकर उत्सर्जित करवाने में सहायता करता है।
4. **हार्मोन्स का संवहन**—नलिका विहीन ग्रन्थियों द्वारा स्रावित हार्मोन रक्त द्वारा संवाहित होते हैं। यह हार्मोन्स अपने अंग विशेष में जाकर उनका नियमन करते हैं।
5. **तापक्रम नियमन**—रक्त शरीर में तापक्रम को सन्तुलित रखता है। जब मौसम ठण्डा होता है तो यह अपना संचरण तेज करके शरीर का तापक्रम बनाए रखता है और गर्मी अधिक होने पर तापक्रम को कम कर देता है।
6. **रोगों से रक्षा**—रक्त में श्वेत रक्त कणिकाएँ पायी जाती हैं। ये श्वेत रक्त कणिकाएँ हानिकारक जीवाणुओं का भक्षण करती हैं और रोगों से शरीर की रक्षा करती हैं। यह एण्टीबॉडीज उत्पन्न करके रोगों के जीवाणुओं का शरीर में प्रवेश कर वृद्धि करने से रोकती है।
7. **घाव व चोट लगने पर मरम्मत करना**—रक्त में उपस्थित श्वेत रक्त कणिकाएँ घाव भरने व चोट लगने पर व कटने इत्यादि से हुई कोशिका की क्षति पूर्ति करने के अहम् कार्य करती है।
8. **थक्का बनाना**—रक्त थक्का बनाने का कार्य करता है जिससे रक्त बाहर निकलने से बच जाता है। यदि अधिक रक्तस्राव होता है तो मनुष्य की मृत्यु भी हो सकती है।
9. **रक्तचाप नियन्त्रण**—रक्त आयतन तथा विस्कोसिटी द्वारा रक्तचाप को सामान्य बनाए रखता है।
10. **जल सन्तुलन**—रक्त शरीर में जल का भी सन्तुलन बनाए रखता है। शरीर में अधिक जल हो जाने पर पसीने, मूत्र इत्यादि के रूप में शरीर से बाहर निकलता रहता है।
11. **अम्ल-क्षार का सन्तुलन**—रक्त क्षारीय प्रकृति का होता है। इसमें उपस्थित हीमोग्लोबिन व प्लाज्मा प्रोटीन बफर (Buffer) का काम करते हैं जिससे शरीर में अम्ल-क्षार का सन्तुलन बना रहता है।

प्र.7. हृदय की संरचना एवं कार्यों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर हृदय की संरचना (Structure of Heart)—हृदय एक खोखला, मांसपेशियों से निर्मित अंग है। यह झिल्ली का एक थैला है जो बन्द मुट्ठी के बराबर है। हृदय के चारों ओर एक मोटी जान्तव ऊतक से निर्मित पर्त रहती है, जो तीन पर्तों से बनी है।

1. **परिहृदय स्तर** (Pericardium)—यह दोहरे स्तर का थैला है इसका एक स्तर बाहरी अंगों से हृदय को जोड़ता है तो दूसरा पेशी से सटा रहता है। इन दोनों के बीच सीरम द्रव भरा रहता है जो इसे चिकना बनाए रखता है। इस द्रव से दोनों स्तर आपस में रगड़ नहीं खाते और हृदय की संकुचन प्रसरण गति आसानी से होती है।
2. **हृदय पेशीस्तर** (Myocardium)—इसमें विशेष प्रकार के तन्तु जो अनैच्छिक पेशी वर्ग के होते हैं जिनके फैलने से हृदय के कक्षों की क्षमता बढ़ जाती है व संकुचन से घट जाती है। हृदय के दाएँ व बाएँ भाग में कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। यह एक दीवार सेप्टम द्वारा विभाजित होते हैं। यह मांसपेशी स्तर ऊपर अलिन्द की तरफ पतला व नीचे नलियों की तरफ मोटा होता है।

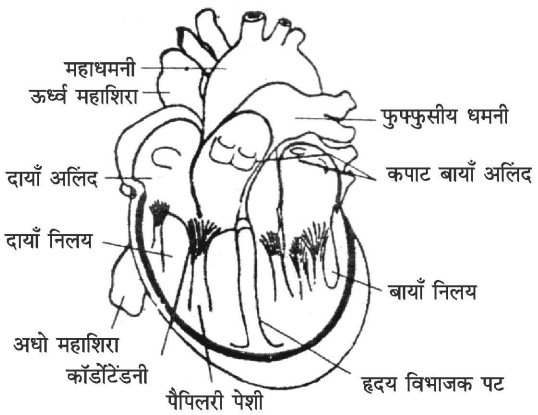

चित्र : हृदय की संरचना

3. **अन्तःहृदय स्तर** (Endocardium)—यह हृदय की अभ्यान्तर की कोमल कला है जो चपटी अन्तःकला कोशिकाओं से बनी है। हृदय के अन्दर रहने वाला यह एण्डोथीलियम (Endothelium) का स्तर रक्त नलिकाओं के अभ्यान्तर व हृदय के अन्दर के कपाट आदि को भी आच्छादित करता है, परन्तु इस स्तर के कुछ सूत्र ऊपरी कक्षों व नीचे के कक्षों में सम्मिलित रूप में रहते हैं जिनकी वजह से नीचे के दोनों कक्षों व ऊपर के दोनों कक्षों में संकुचन व शिथिलन की क्रियाएँ एक साथ एक ही समय में रहती हैं।

आन्तरिक बनावट (Internal Structure)

इसका आन्तरिक खोखला भाग एक अनुदैर्ध्य विभाजन भित्ति के द्वारा दाहिने और बाएँ दो भागों में बँट जाता है। इन दोनों कक्षों का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं होता है अर्थात् ये स्वतन्त्र कक्ष बन जाते हैं। हृदय का सम्पूर्ण दायाँ भाग अशुद्ध रक्त को लेन-देन से सम्बन्ध रखता है। दाएँ व बाएँ भाग के बीच में एक मोटी दीवार है जिसमें कोई छिद्र नहीं है यह विभाजक भित्ति (Septum) कहलाती है। बायाँ भाग बड़ा एवं दायाँ भाग छोटा होता है। ये दोनों भाग फिर भी दो भागों में विभक्त हो जाते हैं ऊपर व नीचे। इस प्रकार कुल चार कोष्ठ बन जाते हैं। दायाँ तरफ का ऊपर का कक्ष दाएँ अलिन्द तथा निचला कक्ष दायाँ निलय कहलाता है। बायीं ओर का कक्ष बायाँ अलिन्द तथा नीचे वाला कक्ष बायाँ निलय कहलाता है।

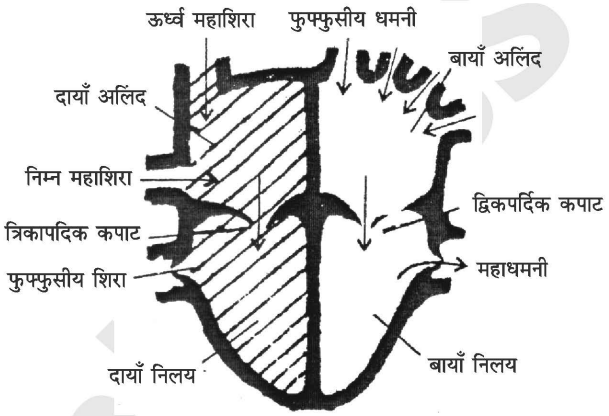

चित्र : हृदय की आन्तरिक बनावट तथा क्रिया प्रणाली

निलयों की अपेक्षा अलिन्दों की भित्तियाँ पतली होती हैं। दोनों निलय वितरण पम्प की तरह काम करते हैं तथा रक्त को बाहर भेजते हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो निलयों को अलिन्दों की अपेक्षा अधिक श्रम करना पड़ता है। यही कारण है कि दोनों निलयों की मांसपेशी की भित्तियाँ अधिक मोटी होती हैं।

बायीं तरफ के अलिन्द और निलय एक छिद्र के द्वारा सम्बन्ध रखते हैं। इन छिद्रों पर कपाट लगे रहते हैं। दोनों कक्षों के बीच कपाट इस प्रकार लगे रहते हैं कि रक्त केवल अलिन्द में से निलय में ही जा सकता है, परन्तु लौट नहीं सकता है। इसलिए हृदय में रक्त एक ही दिशा में प्रवाहित होता है। हृदय के सभी कक्षों से सम्बन्धित रक्त को ले आने वाली तथा ले जाने वाली नलिकाओं के मुखद्वार भी उनसे, सम्बन्धित कक्ष में ही खुलते हैं। नलिकाओं से आया हुआ या नलिकाओं में भेजा हुआ रक्त वापस नलिकाओं में या कक्षों में नहीं लौटता।

हृदय के प्रत्येक भाग की रचना सम्बन्धी विवरण निम्निलिखित है—

1. **दायाँ अलिन्द**—शरीर कोशिकाओं से अशुद्ध रक्त लाने वाली शिरिकाएँ मिलकर शिराएँ बनाती हैं। शरीर के ऊपरी भाग में आने वाली शिराएँ मिलकर ऊर्ध्व महाशिरा (Superior Venacava) बनाती है। निचले अंगों से आने वाली शिरा निम्न महाशिरा (Inferior Venacava) नीचे से आने वाले अशुद्ध रक्त को लाती है। ये दोनों महाशिरा अपना अशुद्ध रक्त दाएँ अलिन्द में डालती हैं। दाएँ अलिन्द के संकुचन से घट जाती हैं उसमें से रक्त का थक्का लगता है। इससे बीच का त्रिकपार्द्विकी कपाट वाला द्वार खुल जाता है और रक्त निलय में चला जाता है। रक्त का दबाव अधिक रहने के कारण रक्त निलय की ओर ही बढ़ता है तथा महाशिराओं में वापस नहीं जाता है। इस प्रकार दाएँ अलिन्द में केवल तीन छिद्र होते हैं।
   (i) उर्ध्व महाशिरा का छिद्र (Superior Vena cava),
   (ii) निम्न महाशिरा का छिद्र (Inferior Vena cava),
   (iii) अलिन्द व निलय के मध्य के द्वार का त्रिकपार्दिकी कपाट (Tricuspid Valve)।
2. **दायाँ निलय**—दाएँ निलय में अशुद्ध अलिन्द के कपाट से आता है जिसे त्रिकपार्द्वि का कपाट कहते हैं। दाएँ निलय में एक छिद्र होता है जिसके द्वारा रक्त फुफ्फुसीय धमनी में जाता है जो आगे जाकर दो भागों में बँट जाती है। ये दाएँ व बाएँ फुफ्फुस में अशुद्ध रक्त ले जाती हैं। इसे फुफ्फुसीय धमनी कहते हैं। यह अपवाद है कि इसमें अशुद्ध रक्त होते हुए भी यह

धमनी कहलाती है, क्योंकि यह हृदय से रक्त बाहर ले जाने का कार्य करती है। सभी वाहिनियाँ जो हृदय से जाती हैं, धमनी कहलाती हैं।

3. **बायाँ अलिन्द**—हृदय के बाएँ भाग का ऊपरी कक्ष बायाँ अलिन्द कहलाता है। यह कक्ष दाएँ अलिन्द से कुछ छोटा होता है। इसकी भित्तियाँ दाएँ अलिन्द की अपेक्षा कुछ मोटी होती हैं। इसमें चार रक्त नलिकाओं के मुख द्वार हैं। ये चारों मुख द्वार चार फुफ्फसीय शिराओं के हैं इन चारों फुफ्फुसीय शिराओं में से दो दाहिने फुफ्फुसीय से तथा दो बाएँ फुफ्फुसीय से आती हैं और ऑक्सीजन मिश्रित शुद्ध रक्त को बाएँ अलिन्द तक लाती है। शुद्ध रक्त को लाने वाली ये चार नलिकाएँ भी जो शिराएँ कहलाती हैं, अपवादी होते हैं। इसका कारण भी वही है अर्थात् इनका नाम फुफ्फुसीय शिरा उसी सिद्धान्त के आधार पर पड़ा है जिसके अनुसार हृदय में रक्त लाने वाली नलिकाएँ शिराएँ कहलाती हैं। ये चारों फुफ्फुसीय शिराएँ हृदय में रक्त को लेकर ही आती हैं। इनके द्वारा शुद्ध रक्त बाएँ अलिन्द में पहुँच जाता है। बाएँ अलिन्द में अगले क्षण होने वाले संकुचन के फलस्वरूप रक्त धक्का खाकर केवल उसी द्वार से निकल सकता है जो बाएँ अलिन्द तथा बाएँ निलय के मध्य में रहता है। रक्त के दबाव से मध्य द्वार के द्विकपार्दि के कपाट खुल जाते हैं। रक्त बायाँ निलय में पहुँच जाता है। बायाँ अलिन्द से रक्त फुफ्फुसीय शिराओं में लौटकर नहीं जा सकता है।
4. **बायाँ निलय**—हृदय के बाएँ भाग का निचला कोष्ठ बायाँ निलय सबसे बड़ा कक्ष है। इसकी भित्तियाँ भी अन्य कक्षों की भित्तियों की अपेक्षा मोटी होती हैं। इसका कारण यह है कि इस कक्ष का काम सबसे अधिक महत्त्व का है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को सम्पादित करने में इसे श्रम भी सबसे अधिक करना पड़ता है। बायें अलिन्द के संकुचन के फलस्वरूप शुद्ध रक्त बायें निलय में भर जाता है। अब बायें निलय के संकुचन की बारी आती है। इससे पहले ही बायें अलिन्द तथा बायें निलय के मध्य कपाट बन्द हो चुका होता है। बायें निलय के संकुचित होने से शुद्ध रक्त इसमें से निकलने वाली नलिका महाधमनी के द्वार को धक्के से खोल देता है और उसी में से वह निकलता है। महाधमनी के मुख पर भी कपाट लगे रहते हैं, जो रक्त को वापस लौटने से रोक देते हैं। महाधमनी से रक्त पूरे शरीर में संचरण के लिए जाता है।

हृदय के कार्य (Functions of Heart)

हृदय रक्त परिसंचरण का मुख्य अंग है। यद्यपि इस कार्य में अन्य भी सहयोग प्रदान करते हैं, किन्तु हृदय के कुछ कार्य इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनके बिना रक्त परिसंचरण का कार्य सम्पन्न होना असम्भव है ये कार्य निम्नलिखित हैं—

1. हृदय से निकला हुआ शुद्ध रक्त परिसंचरण करता हुआ कोशिकाओं द्वारा शरीर के प्रत्येक सूक्ष्म कोशिकाओं को पोषक तत्व व ऑक्सीजन प्रदान कर देता है तब यही रक्त कोशिकाओं में हुई रासायनिक क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न अनेक विजातीय तत्त्वों से युक्त होकर पुन: हृदय में वापस आता है। हृदय का दूसरा कार्य इस रक्त को फेफड़ों में शुद्ध होने के लिए वापस भेजना होता है।
2. रक्त परिसंचरण के लिए निरन्तर रक्त के तीव्र प्रवाह की आवश्यकता होती है। अत: हृदय पम्प की भाँति निरन्तर झोंके से रक्त प्रवाहित करता है जिससे शरीर के सभी भागों में रक्त पहुँचने में सुविधा होती है।
3. फेफड़ों में शुद्ध हुआ रक्त पुन: हृदय के बायें निलय में वापस आ जाता है जिससे हृदय पुन: उस शुद्ध रक्त को परिसंचरण के लिए पम्प करके मूल धमनी में भेजता है।
4. इस प्रकार शुद्ध रक्त को सम्पूर्ण शरीर में पहुँचाने तथा अशुद्ध रक्त को पुन: परिसंचरण के लिए फेफड़ों में शुद्ध होने के लिए भेजने का कार्य अनवरत गति से होता है।

❐

UNIT-III

आहार एवं पोषण
Food and Nutrition

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. भोजन की परिभाषा लिखिए।

उत्तर वह पदार्थ (ठोस एवं तरल) जिनको कोई व्यक्ति अथवा प्राणी अपने मुख द्वारा शरीर में ग्रहण करता है तथा शरीर में जाकर शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं में खर्च होने वाली ऊर्जा की कमी को पूरा करता है, भोजन कहलाता है।
अर्थात् "शरीर द्वारा ग्रहण किए जा सकने तथा पचाने योग्य वह सभी पदार्थ भोजन कहे जा सकते हैं जो व्यक्ति की शारीरिक वृद्धि एवं विकास की प्रगति में सहायक भी हैं।" भोजन की सम्पूर्ण परिभाषा निम्न प्रकार दी जा सकती है—
"वे पदार्थ जो शरीर में ग्रहण करने के पश्चात् ऊर्जा उत्पन्न करते हों, नए तन्तुओं का निर्माण तथा टूटे-फूटे तन्तुओं की मरम्मत करते हों तथा शारीरिक क्रियाओं पर नियन्त्रण तथा शरीर के लिए आवश्यक कम्पाउण्डों के बनाने में सहयोग प्रदान करते हों, भोजन कहलाते हैं।"

प्र.2. आहार से आप क्या समझते हैं?

उत्तर आहार—इसे व्यक्ति के भोजन की खुराक भी कहा जाता है अर्थात् "व्यक्ति भूख लगने पर एक बार में जितना भोजन ग्रहण करता है, वह भोजन की मात्रा उस व्यक्ति का आहार (Diet) कहलाती है।"
प्रत्येक व्यक्ति का आहार अलग-अलग होता है कोई व्यक्ति कम भोजन ग्रहण करता है तथा दूसरा व्यक्ति अधिक भोजन ग्रहण करता है। आहार प्रत्येक व्यक्ति के कार्य करने की शैली पर निर्भर करता है; जैसे—मानसिक कार्य करने वाले व्यक्ति कम आहार लेते हैं जबकि शारीरिक कार्य करने वाले व्यक्ति अधिक आहार लेते हैं। इसीलिए भोजन तथा आहार का अर्थ कभी भी एक नहीं समझना चाहिए।

प्र.3. कुपोषण का क्या अर्थ है?

उत्तर कुपोषण का अर्थ है अव्यवस्थित भोजन, जो आवश्यकता से अधिक अथवा आवश्यकता से कम पोषण तत्त्व लेने के कारण होता है। आहार में पोषक तत्त्वों की कमी दो प्रकार से हो सकती है—(1) गुणों के रूप में, (2) पोषक तत्त्वों के रूप में।

प्र.4. अपोषण के अर्थ को समझाइए।

उत्तर अपोषण का अर्थ है अपर्याप्त पोषण अर्थात् जो पोषण शरीर की आयु, आवश्यकता के अनुरूप न हो, उसमें किसी एक अथवा अधिक तत्त्वों की कमी पायी जाए। अपोषण की प्रमुख दो स्थितियाँ हो सकती हैं—

1. आहार की न्यून मात्रा
2. पौष्टिक गुणयुक्त आहार की कमी

भारतवर्ष में निर्धन जनसंख्या के भोजन में प्रोटीन, खनिज लवण व विटामिन ही नहीं वरन् ऊर्जा उत्पादक भोज्य पदार्थ भी अपेक्षाकृत अधिक सस्ते होते हैं, उनका भी अभाव पाया जाता है जबकि मध्यम व उच्च वर्ग व्यक्ति भी प्रोटीन खनिज लवण व विटामिन की न्यूनता से प्रभावित होते हैं।
अपोषित व्यक्ति का स्वास्थ्य गिर जाता है, उसे अनेक रोग घेर लेते हैं, शारीरिक विकास रुक जाता है। व्यक्ति में आलस्य, निर्बलता व क्षीणता आ जाती है। अपोषण की स्थिति में एक या अधिक पोषक तत्त्वों की न्यूनता रहती है या शरीर का पर्याप्त पोषण नहीं हो पाता है।

प्र.5. आहार विज्ञान से क्या आशय है?

उत्तर आहार विज्ञान कला एवं विज्ञान का वह समन्वयात्मक रूप है जिसके द्वारा व्यक्ति विशेष या व्यक्तियों के समूह को पोषण तथा व्यवस्था के सिद्धान्तों के अनुसार विभिन्न आर्थिक तथा शारीरिक स्थितियों के अनुरूप भोजन दिया जाता है।

प्र.6. कार्य के अनुसार भोज्य तत्वों का वर्गीकरण कीजिए।

उत्तर कार्य के अनुसार भोज्य तत्त्वों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया गया है—
ऊर्जा देने वाले भोज्य तत्त्व—1. कार्बोहाइड्रेट (स्टार्च व शर्करा), 2. वसा, 3. प्रोटीन।
शरीर के निर्माणक भोज्य तत्त्व—1. प्रोटीन, 2. खनिज तत्त्व (कैल्शियम, फॉस्फोरस, आयरन व आयोडीन), 3. जल।
सुरक्षात्मक भोज्य तत्त्व—1. विटामिन, 2. खनिज लवण, 3. जल, 4. प्रोटीन।

प्र.7. शरीर निर्माणक तत्त्वों की प्राप्ति में सहायक भोज्य पदार्थ क्या हैं?

उत्तर

भोज्य तत्त्व	भोज्य पदार्थ
प्रोटीन	दूध, दही, पनीर, अण्डा, मांस, सोयाबीन, सूखे मेवे, मूँगफली, दालें, सेम आदि।
कैल्सियम	दूध, दही, पनीर, अण्डा, हरी सब्जियाँ।
फॉस्फोरस	दूध, दही, पनीर, अण्डा, यकृत, गुर्दा, सोयाबीन, दालें व साबुत अनाज।
लोहा	यकृत, मांस, हरी पत्ती वाली सब्जियाँ, मुनक्का, बाजरा, खजूर, सेव, केला आदि।
आयोडीन	प्याज, समुद्री घास तथा समुद्री मछली।
जल	शुद्ध जल, रसीले फल व सब्जियाँ, दूध व अन्य पेय पदार्थ।

प्र.8. सुरक्षात्मक तत्त्वों से प्राप्त होने वाले भोज्य पदार्थों को बताइए।

उत्तर **विटामिन्स**—दूध तथा दूध से बने भोज्य पदार्थ, नींबू, सन्तरा, आम, हरी व पीली सब्जियाँ, फूल गोभी, पत्ता गोभी, गाजर, अण्डा, यकृत, मछली, गेहूँ, चावल, मक्का, खमीर आदि।
खनिज लवण—दूध, दही, पनीर, अण्डा, हरी पत्ती वाली सब्जियाँ, सोयाबीन, दालें, अनाज, सूखे मेवे आदि।
जल—शुद्ध जल, रसीले फल व सब्जियाँ, दूध आदि।
प्रोटीन—दूध, अण्डा, मांस, सोयाबीन आदि।

प्र.9. भोजन के सामाजिक कार्य बताइए।

उत्तर

भोजन के सामाजिक कार्य
(Social Functions of Food)

समाज से सम्पर्क व समूह मनोरंजन के लिए भोजन का प्रयोग प्राचीनकाल से ही होता आया है। प्राचीन समय में अतिथि तब ही घर बुलाया जाता था जबकि घर में पर्याप्त आहार उपलब्ध होता था। दूसरे देशों में भी भोजन सम्बन्धी सामाजिक अवसरों की संख्या बहुत है; जैसे—नववर्ष का दिन, क्रिसमस का दिन, जन्मदिन, शादी-विवाह के उत्सव आदि। भारत में विशेष रूप से होली, दीपावली, ईद आदि त्योहारों के उत्सव पर भोजन का आयोजन होता है।
कॉलेज व विद्यालयों में भी सामाजिक अवसरों पर भोज्य पदार्थों का प्रयोग किया जाता है जो छात्र-छात्राओं में सामाजिक भावना को उत्साहित करता है; जैसे—खेलकूद, पुरस्कार सम्बन्धी भोज, दीक्षान्त समारोह सम्बन्धी भोज, स्वागत दिन का भोज, विदाई दिन का भोज आदि। संस्था गोष्ठी के पश्चात् जलपान का अभिप्राय एक ऐसा वातावरण उत्पन्न करता है जहाँ सामाजिक सम्बन्ध बढ़ाए जा सकते हैं।

प्र.10. वनस्पति जगत से प्राप्त खाद्य पदार्थों के नाम लिखिए।

उत्तर यह सभी खाद्य पदार्थ हमें पेड़-पौधों से प्राप्त होते हैं; अत: इन्हें हम वनस्पति प्रदत्त पदार्थ कहते हैं। यह पदार्थ निम्नलिखितहैं—
1. अनाज (Cereals), 2. दलहन वर्ग अथवा दालें (Pulses), 3. कंद और मूल (Roots and Tubers), 4. फल एवं सब्जियाँ (Fruits and Vegetables), 5. चीनी (Sugar), 6. गुड़ (Jaggery), 7. सूखे मेवे (Dry Fruits), 8. तेल (Oils), 9. औषधियाँ (Medicines)।

QUICK PASS

प्र.11. चीनी का निर्माण किन चीजों से किया जाता है?

उत्तर चीनी प्रत्येक व्यक्ति के भोजन में नियमित रूप से सम्मिलित होने वाला खाद्य पदार्थ है। चीनी का प्रयोग खाद्य पदार्थों को मीठा करने के लिए किया जाता है। चीनी का निर्माण गन्ने के रस से किया जाता है तथा इसके अतिरिक्त चुकन्दर और खजूर से भी थोड़ी मात्रा में चीनी प्राप्त की जाती है। शरीर के अन्दर पहुँचने पर चीनी के ऑक्सीकरण द्वारा ऊर्जा उत्पन्न होती है जो शरीर को क्रियाशील बनाए रखने के लिए आवश्यक होती है।

प्र.12. रेशा किसे कहते हैं?

उत्तर रेशा (Fibre)—भोजन में पौष्टिक तत्त्वों के अतिरिक्त एक अन्य तत्त्व भी उपस्थित रहता है जिससे हमारे शरीर को किसी भी प्रकार की पौष्टिकता प्राप्त नहीं होती है परन्तु इसकी उपस्थिति आहार में आवश्यक होती है। इस पदार्थ को रेशे (Fibre) कहते हैं। इसका मुख्य कार्य आँतों में उपस्थित मल की मात्रा बढ़ाकर उसके निष्कासन में सहायता करना है। इसके सेवन से कब्ज नहीं होती है।

प्र.13. थैलोफाइटा वर्ग में पौधों की कितनी जातियाँ आती हैं?

उत्तर थैलोफाइटा वर्ग के अन्तर्गत कई हजार पौधों की जातियाँ आती हैं। इसके तीन उपवर्ग हैं—(1) शीजोफाइटा (Scizophyta) या विभाजन वाले पौधे, (2) एल्गी (Algae), (3) फंजाई (Fungi)। शीजोफाइटा उपवर्ग में बैक्टीरिया आते हैं। इनमें रग क्लोरोफिल नहीं होता है। एल्गी में क्लोरोफिल की उपस्थिति होती है। समुद्र की छोटी घास (Sea Weeds), तालाब की हरी कीचड़ तथा नम जमीन पर उगने वाली काई (Water Silk) एल्गी के ही रूप हैं। फंजाई में भी क्लोरोफिल की उपस्थिति नहीं होती है। खमीर, फफूँदी, कुकुरमुत्ता (Mushrooms) आदि फन्जाई के ही उदाहरण हैं। इस अध्याय में बैक्टीरिया, खमीर व फफूँदी का ही अध्ययन किया जाएगा। माइक्रोबायलॉजी या बैक्टीरियोलोजी में ये तीन अणु जीव पौधे ही सम्मिलित होते हैं।

प्र.14. खमीर से होने वाली हानियाँ बताइए।

उत्तर यीस्ट कुछ भोज्य पदार्थों को नष्ट भी कर देते हैं। एल्कोहलयुक्त शराब तथा फलों के रस के ऊपर कुछ खमीर फंजाई उग आते हैं जो उनके स्वाद को नष्ट कर देते हैं। ऑक्सीजन की उपस्थिति में यह एल्कोहल पेय में एसीटिक एसिड उत्पन्न कर देते हैं। दूध में खमीर कभी-कभी किण्वन की क्रिया कर देते हैं, जिससे दूध में एल्कोहल उत्पन्न हो जाता है। इससे दूध की गन्ध व स्वाद खराब हो जाता है। इस प्रकार के दूध से अच्छा मक्खन निकालने में भी असुविधा होती है।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. भारतवर्ष में कुपोषण तथा अपोषण के क्या कारण हैं? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

भारतवर्ष में कुपोषण तथा अपोषण के कारण
(Causes of Malnutrition and Lack of Nutrition in India)

दूसरे देशों की अपेक्षा भारत में व्यक्ति बहुत अधिक कुपोषित अथवा अपोषित हैं। कुपोषण तथा अपोषण के ही कारण हमारे देश में मृत्यु दर अधिक है। व्यक्ति अधिक दुबले-पतले, कमजोर व अविकसित हैं तथा अधिकतर व्यक्ति रोग ग्रस्त रहते हैं। स्वास्थ्य की इस दशा के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

1. **खाद्य पदार्थों का अभाव**—कहा जाता है कि भारत कृषि प्रधान देश है, यहाँ पर कृषि प्रधान होने के बावजूद भारतवर्ष के किसान देश की समस्त जनता के लिए खाद्य पदार्थ उत्पन्न नहीं कर पाते हैं। उपज कम होने के कारण खाद्य पदार्थों का मूल्य अधिक है जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता के अनुरूप खाद्य पदार्थों को प्राप्त नहीं कर पाता है। हमारा प्राथमिक भोजन जिससे हम पेट भरते हैं—अनाज है। हमारे देश में अनाज की बहुत कमी रहती है इसलिए पिछले कुछ वर्षों से 'अधिक अन्न उपजाओ' देश का एक नारा बना। यद्यपि डेरी फार्म व पोल्ट्री फार्म हमारे देश में निरन्तर खोले जा रहे हैं, फिर भी देश की गरीब जनता को दूध व अन्य प्रोटीनयुक्त पदार्थ सामान्य दामों पर उपलब्ध नहीं हो पाते हैं। मौसम के फल व सब्जियाँ भी उपज कम होने के कारण अधिक महँगे रहते हैं अथवा इनका ट्रांसपोर्ट ठीक तरह न हो पाने के कारण उपज स्थान पर इनकी अधिकता तथा उपयोग न हो पाने के कारण नष्ट होते हैं तथा दूसरे स्थान पर इनकी मात्रा कम होने के कारण यह पदार्थ अत्यन्न महँगे होते हैं। अत: उपर्युक्त कारणों से प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार भोजन ग्रहण नहीं कर पाता है तथा कुपोषित तथा अपोषित हो जाता है।

2. **निर्धनता**—भारतवर्ष में निर्धनता का विशेष साम्राज्य है प्रत्येक शहर की औसतन एक-तिहाई जनता इतनी गरीब है कि अपनी आवश्यक आवश्यकताओं को भी पूरी नहीं कर पाती है। भोजन न मिलने के कारण भूखा रहना, वस्त्र न मिलनें कारण नंगा रहना तथा मकान न मिलने के कारण फुटपाथ पर रहना इस जनता के लिए एक आम बात है। ऐसे व्यक्तियों से पर्याप्त भोजन की आशा करना व्यर्थ है। बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बंगाल आदि प्रदेशों में निर्धनता अन्य प्रदेशों की अपेक्षा विशेष रूप से अधिक है।
3. **अशिक्षा व अज्ञानता**—भारतवर्ष में अशिक्षा तथा अज्ञानता भी कुपोषण तथा अपोषण का कारण बनती है। विभिन्न पोषक तत्त्वों के महत्त्व का ज्ञान न होने के कारण अधिकतर व्यक्ति उपयोगी भोजन को महत्त्व नहीं देते हैं। अशिक्षा उनको वातावरण के प्रति जागरुक नहीं कर पाती है। आज भी भारतवर्ष में कई परिवारों में आलू, तला हुआ भोजन तथा मिर्च-मसालों को बहुत महत्त्व दिया जाता है। दूसरी तरफ शाकाहारी व्यक्ति अधिक हैं जो दूध, दाल तथा फल आदि को कोई महत्त्व नहीं देते हैं। सब्जियों के बहुत अधिक तले होने के कारण पोषक महत्त्व कम हो जाता है। भोजन पकाते हुए उनका पानी तथा चावल का माँड़ फेंक देना अज्ञानता का ही प्रतीक है। भोजन के प्रति इस तरह का व्यवहार उनके कुपोषित अथवा अपोषित होने का कारण बनता है।
4. **मिलावट**—मिलावट भी कुपोषण का एक महत्त्वपूर्ण कारण है। दैनिक आहार में लेने वाले सभी भोज्य तत्त्व प्राय: मिलावटी मिलने लगे हैं। वनस्पति घी में चर्बी, सरसों के तेल में रेपसीड, दूध में पानी व भोज्य पदार्थों में अन्य हानिकारक रासायनिक पदार्थ मिला देना एक आम बात हो गई है।
5. **भोज्य आदत**—भोजन सम्बन्धी आदतें भी कुपोषण व अपोषण को जन्म देती हैं। उपयोगी भोज्य पदार्थों का न भाना, अधिक तला और मिर्च-मसाला युक्त भोजन का प्रयोग करना, भोजन में विभिन्नता न होना आदि से भी कुपोषण तथा अपोषण की स्थिति आ जाती है।

प्र.2. सुपोषण से आप क्या समझते हैं?

उत्तर

सुपोषण (Good Nutrition)

सुपोषण अथवा उत्तम पोषण से तात्पर्य पोषण की उस स्थिति से है जिससे व्यक्ति शारीरिक एवं मानसिक रूप से सन्तुलित रहे तथा कार्यक्षमता उसकी उम्र के अनुसार हो। उत्तम पोषण से ही व्यक्ति उत्तम स्वास्थ्य ग्रहण कर सकता है। उत्तम स्वास्थ्य को वर्ल्ड हैल्थ आर्गेनाइजेशन (W.H.O.) ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

स्वस्थ शरीर में केवल रोगों की अनुपस्थिति ही नहीं बल्कि शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक रूप से पूर्णत: अच्छे होने की स्थिति है।

एक सुपोषित व्यक्ति वह है जिसमें निम्नलिखित विशेषताएँ पायी जाती हैं—

1. शरीर का सुसंगठित एवं सुविकसित होना।
2. उम्र के अनुसार एवं लम्बाई के अनुसार भार ग्रहण करना।
3. सुदृढ़ एवं सुविकसित सुसंगठित मांसपेशियों का होना।
4. त्वचा का कान्तिमान तथा स्वस्थ होना।
5. चिकने, चमकीले तथा एक ही रंग के बाल होना।
6. स्वस्थ, आशावान तथा चमकयुक्त कांतिमा न नेत्र होना।
7. गहरी, बिना टूटने वाली तथा स्वप्न रहित निद्रा का होना।
8. भूख अच्छी हो व पाचन संस्थान ठीक प्रकार से कार्य करता हो।
9. श्लैष्मिक झिल्ली गुलाबी रंग लिए हुए हो।
10. दाँत चमकयुक्त, जबड़ों में जड़े हुए हों व जबड़े गुलाबी और मजबूत हों।
11. शरीर उत्साहित तथा थके बिना कार्य की क्षमतायुक्त हो।
12. रोग प्रतिरोधक क्षमता का पर्याप्त होना।
13. उत्तम आसन, तना हुआ सिर, उठा हुआ सीना, कन्धे सपाट व पेट अन्दर हो।
14. मल व अन्य व्यर्थ पदार्थों का उचित निष्कासन।

प्र.3. कुपोषित तथा उत्तम पोषित व्यक्तियों के लक्षण में क्या अन्तर है?

उत्तर

कुपोषित और उत्तम पोषित व्यक्तियों के लक्षणों में अन्तर
(Differences between the Characteristics of Malnutritious and Good Nutritious Persons)

क्र०सं०	उत्तम पोषित	कुपोषित
1.	शरीर का आकार, भार, लम्बाई तथा शरीर का अनुपात पूर्ण रूप से उम्र के अनुरूप होते हैं।	व्यक्ति अधिक भार अथवा कम भार का होता है तथा शारीरिक वृद्धि रुक जाती है।
2.	व्यक्ति का आसन सीधा व स्वस्थ होता है। बाँहें व टाँगें पूर्ण सीधी, पेट अन्दर की ओर तथा छाती उठी हुई होती है।	अस्वस्थ आसन रहता है। आगे निकली छाती, गोल कन्धे तथा बाहर की ओर पेट निकल जाता है।
3.	स्वस्थ तथा सुदृढ़ मांसपेशियाँ होती हैं तथा शरीर पर वसा की एक सामान्य तह होती है।	छोटी तथा ढीली-ढीली मांसपेशियाँ होती हैं। शरीर पर वसा की तह या तो बहुत कम अथवा बहुत अधिक होती है।
4.	त्वचा चिकनी, स्वस्थ व अच्छे रंग की होती है। श्लेष्मा झिल्ली स्वस्थ व गुलाबी रंग की होती है।	सूखी झुर्रियों से युक्त पीली त्वचा तथा पीली श्लेष्मा झिल्ली होती है।
5.	सुदृढ़ तथा स्वस्थ दाँत व जबड़े होते हैं।	दाँत व जबड़े अस्वस्थ होते हैं।
6.	चिकने तथा चमकीले बाल होते हैं।	सूखे तथा चमकहीन बाल होते हैं।
7.	स्वस्थ तथा कान्तिमय नेत्र होते हैं तथा प्रकाश, के प्रति बहुत संवेदनशील नहीं होते हैं।	आँखें, कान्तिहीन, प्रकाश के प्रति संवेदनशील होते हैं। नेत्रों में जलन व खुजली रहती है। आँखों के नीचे काले गोले बन जाते हैं।
8.	भूख तथा पाचन क्रिया उत्तम रहती है।	भूख कम हो जाती है तथा अधिकतर अपाचन रहता है।
9.	व्यक्ति उत्साही तथा क्रियाशील रहता है।	व्यक्ति थका हुआ, कमजोर तथा निरुत्साहित रहता है।
10.	रोग निरोधक क्षमता अधिक होती है।	संक्रमण जल्दी लग जाते हैं तथा रोग उपचार देर से हो पाता है।
11.	ध्यान केन्द्रित करने की क्षमता अधिक होती है।	व्यक्ति अस्थिर रहता है। किसी भी कार्य में ध्यान केन्द्रित नहीं कर पाता है।
12.	व्यक्ति प्रसन्नचित्त, परोपकारी तथा दूसरों में रुचि रखने वाला होता है।	चिड़चिड़ा, चिन्तित, भयभीत, थका हुआ तथा उदासीन रहता है।

प्र.4. उपचारात्मक आहार से आपका क्या आशय है? उदाहरण सहित समझाइए।

उत्तर

उपचारात्मक आहार
(Therapeutic Nutrition)

जब कोई व्यक्ति किसी कारणवश बीमार पड़ जाता है या गम्भीर चोट लग जाती है या संक्रामक रोग फैल जाता है या चयापचय अवरोध हो जाता है तो उस समय रोगी के शरीर में पौष्टिक तत्त्वों को शोषित करने की क्षमता भी कम हो जाती है तथा पौष्टिक तत्त्वों की आवश्यकता में भी परिवर्तन हो जाता है। बीमारी की अवस्था में व्यक्ति के आहार में कुछ परिवर्तन करके आहार को इस प्रकार बनाया जाता है जिससे रोगी को शक्ति एवं क्षमता प्राप्त हो तथा बीमारी का उपचार भी ठीक हो सके।

उदाहरण—1. बुखार की अवस्था में रोगी की आधारीय चयापचय बढ़ जाती है। अत: रोगी को अधिक कैलोरीयुक्त भोजन की आवश्यकता होती है।

2. मधुमेह के मरीज को कार्बोहाइड्रेट रहित आहार दिया जाता है।

रोगी के आहार में परिवर्तन का अर्थ है सामान्य स्थिति से कम या ज्यादा आहार प्रदान करना तथा उसके अन्दर विद्यमान पौष्टिक तत्त्वों में भी फेर-बदल करना। जैसा कि एक कहावत से विदित होता है—

"Stitch in time saves nine."

निश्चित ही यदि उपयुक्त पोषण की ओर ध्यान दिया जाए तो न केवल बीमारी को होने से रोका जा सकता है बल्कि बीमार होने की दशा में बीमारी के स्वरूप में भी काफी पवितर्न लाया जा सकता है।

उपचारात्मक आहार में रोग का प्रकृति के अनुसार निम्नलिखित क्षेत्रों में परिवर्तन करके रोगी को आहार दिया जाता है—

1. पोषक तत्त्वों की मात्रा में।
2. उन भोज्य पदार्थों को आहार से हटाना जिससे रोगी को घृणा है।
3. भोजन किस रूप में दिया जाना है कोमल, तरल या अर्ध-तरल आहार।
4. भोजन के पकाने की विधि में परिवर्तन करके।
5. भोजन देने की आवृत्ति (Frequency) में परिवर्तन करके।
6. आहार देने की विधि में परिवर्तन करके; जैसे—नली द्वारा पोषण (Tube feeding), अनंशिरीय पोषण (Intravenous feeding)।

प्र.5. ऊर्जा प्रदान करने वाले भोज्य तत्त्व कौन-कौन से हैं?

उत्तर

ऊर्जा प्रदान करने वाले भोज्य तत्त्व (Energy giving Food)

ऊर्जा हमारी प्रथम आवश्यकता है। ऊर्जा के बिना हम एक पल भी जीवित नहीं रह सकते। यह ऊर्जा हमें भोज्य पदार्थों से बराबर मिलती रहती है।

मनुष्य शरीर की तुलना किसी मोटरगाड़ी या भाप के इंजन से की जा सकती है। मोटरगाड़ी तथा भाप के इंजन बराबर गतिशील रहते हैं तथा गति करने के लिए उन्हें ऊर्जा पेट्रोल अथवा कोयले से मिलती है। ये दोनों ईंधन पेट्रोल व कोयला वायु से ऑक्सीजन लेकर मोटर या इंजन में जलकर ऊर्जा उत्पन्न करते हैं। इस ऊर्जा का कुछ भाग ऊष्मा के रूप में भी प्रकट होता है जिससे मोटर या इंजन गर्म भी हो जाता है। ठीक इसी तरह मनुष्य शरीर को भी ऊर्जा के लिए ईंधन की आवश्यकता होती है, जिसका कार्य भोजन करना है। कठिन परिश्रम करने के पश्चात् मनुष्य भी गर्मी का अनुभव करता है जो भोजन के द्वारा ही प्राप्त होती है।

शरीर की क्रियाएँ भी दो प्रकार की होती हैं। कुछ क्रियाएँ जो मनुष्य के नियन्त्रण में होती हैं, मनुष्य उन्हें अपनी इच्छानुसार करता है; जैसे—उठना-बैठना, चलना, भागना, दौड़ना आदि। इस प्रकार की क्रियाएँ ऐच्छिक क्रियाएँ कहलाती हैं। दूसरी क्रियाओं पर मनुष्य का कोई नियन्त्रण नहीं होता, ये शरीर में अपने आप होती रहती हैं, ऐसी क्रियाएँ अनैच्छिक क्रियाएँ कहलाती हैं। दिल का धड़कना, साँस लेना, गुर्दे की क्रियाएँ, रक्त परिवहन आदि ऐसी क्रियाओं के उदाहरण हैं। ऊर्जा का उपयोग ऐच्छिक व अनैच्छिक दोनों प्रकार की क्रियाओं में होता है। इसका अर्थ यह है कि जब हम कोई काम नहीं करते, पूर्ण आराम से बैठे या लेटे रहते हैं, उस समय भी हमारे शरीर से ऊर्जा का उपयोग बराबर होता रहता है।

जिन व्यक्तियों की ऐच्छिक क्रियाएँ अधिक होती हैं, उनके शरीर से ऊर्जा का उपयोग अधिक होता रहता है। अत: उन्हें अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है अर्थात् कठोर परिश्रम करने वाले व्यक्ति को कम परिश्रम करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है।

ऊर्जा देने वाला प्रमुख तत्त्व कार्बोहाइड्रेट है। कार्बोहाइड्रेट के रूप में शर्करा व स्टार्च का ऊर्जा के रूप में अधिक प्रयोग होता है।

प्र.6. शरीर निर्माण में कौन-कौन से तत्त्व सहायक होते हैं?

उत्तर वे भोज्य तत्त्व जो शरीर में निर्माण करने का कार्य करते हैं, शरीर निर्माणक भोज्य तत्त्व कहलाते हैं। शरीर निर्माणक भोज्य तत्त्वों में प्रोटीन का स्थान प्रमुख है। हमारा शरीर जिसकी इकाई कोशिका है, उसक निर्माण प्रोटीन के द्वारा ही होता है। जिस प्रकार किसी भवन का निर्माण ईंट, गारा, सीमेन्ट आदि से होता है, उसी प्रकार हमारे शरीर में कोशिकाएँ व विभिन्न द्रव्य शरीर रूपी भवन का निर्माण करते हैं। विभिन्न वृद्धि की अवस्थाओं; जैसे—सम्पूर्ण बाल्यावस्था, किशोरावस्था तथा गर्भावस्था में अंगों की वृद्धि तीव्र गति से होती है अतएव इन अवस्थाओं में विशेष रूप से अधिक प्रोटीन की आवश्यकता होती है। दूसरी अवस्था में जबकि वृद्धि नहीं होती, उस समय भी शरीर में होने वाली निरन्तर टूट-फूट की मरम्मत के लिए प्रोटीन की आवश्यकता होती है। हमारे शरीर में जल के बाद दूसरा तत्त्व प्रोटीन ही होता है जिससे शरीर बना होता है। हर अंग; जैसे—अस्थियाँ, माँसपेशियाँ, दाँत, त्वचा, बाल, रक्त का निर्माण प्रोटीन से ही होता है।

प्रोटीन के बाद दूसरा निर्माणक तत्त्व खनिज पदार्थ है। इन खनिज पदार्थों में कैल्शियम, फॉस्फोरस, आयरन व आयोडीन प्रमुख हैं। कैल्शियम व फॉस्फोरस दाँत व अस्थियों के निर्माण में विशेष कार्य करते हैं। रक्त में उपस्थित हीमोग्लोबिन के निर्माण में मुख्य

रूप से आयरन (लोहा) भाग लेता है। आयोडीन भी शरीर की एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थि थायराइड का निर्माण करती है। आयोडीन की कमी से ग्रन्थि का पूर्ण निर्माण नहीं हो पाता तथा शारीरिक व मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है।
शरीर निर्माणक तत्त्वों में जल का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। शरीर में मात्रा की दृष्टि से पहला स्थान जल का ही है। विभिन्न अन्त:कोशिका द्रव्यों तथा बाह्य कोशिका द्रव्यों का निर्माण जल से ही होता है। रक्त का माध्यम भी जल ही है।

प्र.7. सुरक्षात्मक तत्त्व कौन-कौन से होते हैं?

उत्तर ऊर्जा देने वाले तत्त्व तथा निर्माणक तत्त्वों के साथ-साथ हमारे शरीर को सुरक्षात्मक तत्त्वों की बहुत आवश्यकता होती है। ऊर्जा देने वाले तत्त्वों से हमें निरन्तर शक्ति मिलती रहती है, निर्माणक तत्त्व शरीर के डीलडौल या आकार भार को प्रभावित करते हैं, सुरक्षात्मक तत्त्वों से हमारे शरीर की जैविकीय क्रियाएँ नियन्त्रित रहती हैं जिससे अंग ठीक तरह से कार्य करते हैं। शरीर की रोग निरोधक क्षमता को बढ़ाने में भी सुरक्षात्मक तत्त्व सहायक होते हैं।
विटामिन, खनिज लवण, जल व प्रोटीन प्रमुख सुरक्षात्मक तत्त्व हैं।

1. विटामिन शरीर की विभिन्न क्रियाओं को नियन्त्रित करते हैं तथा अंगों को स्वस्थ रखते हैं। विटामिन 'ए' विशेष रूप से त्वचा व आँखों को सुरक्षित रखते हैं। दूसरे विटामिन्स नाड़ी संस्थान, पाचन संस्थान, त्वचा व मसूड़ों को स्वस्थ रखते हैं। विटामिन्स की कमी होने से शरीर का विकास रुक जाता है, स्वास्थ्य की हानि होती है तथा विभिन्न रोग; जैसे—बेरी बेरी, पैलाग्रा, स्कर्वी, रिकेट्स तथा एनीमिया आदि हो जाते हैं, आँखों की दृष्टि कम हो जाती है तथा व्यक्ति निश्चेष्ट हो जाता है।
2. खनिज लवण शरीर में अम्ल-क्षार का सन्तुलन, पानी का सन्तुलन रखने, रक्त परिवहन, हृदय की धड़कन तथा रक्त का थक्का जमना आदि क्रियाओं को नियन्त्रित करना खनिज लवण का ही कार्य है।
3. जल भी शरीर के द्रवों को नियन्त्रित करता है तथा उत्सर्जन क्रिया में सहायता पहुँचाता है।
4. प्रोटीन रोग के जीवाणुओं से लड़ने की क्षमता बढ़ाकर सुरक्षात्मक कार्य में सहायता करते हैं।

प्र.8. भोजन के मनोवैज्ञानिक कार्यों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

भोजन के मनोवैज्ञानिक कार्य
(Psychological Functions of Food)

भोजन संवेगात्मक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करता है। कई बार पोषक तत्त्वों से युक्त आहार भी पर्याप्त सन्तुष्टि नहीं दे पाता। प्रत्येक परिवार की भोजन के प्रति एक अलग रुचि होती है तथा इस रुचि में व्यक्तिगत रूप से, परिवार के रूप से, रीति-रिवाजों व देश की स्थिति से बराबर अन्तर आता रहता है, परन्तु कुछ समय बाद दूसरे भोजन का अभ्यस्त हो जाने पर अपरिचित भोजन भी परिचित व रुचिकर लगने लगता है।
भोजन से मानसिक तनाव भी कम हो जाता है इसीलिए जहाँ बड़ी-बड़ी समस्याओं के हल के लिए वार्ता का आयोजन होता है वहाँ भोजन विशेष रूप से सहायक सिद्ध होता है। भावनाओं को व्यक्त करने में भोजन विशेष रूप से सहायक होता है। भोजन के निमन्त्रण से मित्रता की अनुभूति होती है। रुचिकर व लोकप्रिय खाद्य-पदार्थों को परोसना, अतिथि के प्रति विशेष ध्यान व सम्मान को अभिव्यक्त करता है।

किन पदार्थों को भोजन कहा जाए? (Which Materials are Called as Food)

यह जानना हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है कि कौन-से पदार्थ भोजन कहे जा सकते हैं और कौन-से नहीं। भोजन कहलाने के लिए पदार्थ में निम्न गुण होने चाहिए—

1. भोज्य पदार्थ की रासायनिक बनावट (Structure) इस प्रकार की हो जो आसानी से पाचन नाल के रसों में घुल सके तथा आन्त्रीय कोशिकाओं की भित्ति द्वारा शीघ्र ही अवशोषित किया जा सके।
2. यदि खाद्य पदार्थ ऐसा हो जो पाचन नाल के रसों में घुल सके तो उसकी रासायनिक संरचना इस प्रकार की होनी चाहिए कि वह पाचक एंजाइमों द्वारा विखण्डित हो सके जिससे उसके सूक्ष्म खण्ड रक्त प्रवाह में पहुँच सकें; जैसे—मांस।
3. किसी खाद्य पदार्थ को भोजन की संज्ञा तभी दी जा सकती है जबकि उसकी रासायनिक संरचना इस प्रकार की हो जो रक्त में अवशोषित हो जाने के पश्चात् शरीर के ऊतकों के लिए उपयोगी और आवश्यक हो। उदाहरण के लिए, सैकरीन (चीनी के स्थान पर नकली मिठास) रक्त में अवशोषित होकर ऊतकों तक पहुँचती है, पर इसका कोई उपयोग नहीं है। यह बिना

किसी रासायनिक परिवर्तन के शरीर के ऊतकों से बाहर निकाल दी जाती है। इसी प्रकार तरल पैराफिन (Liquid Paraffin) जो जुलाब (Purgative) की भाँति प्रयोग की जाती है, रक्त में अभिशोषित हुए बिना ही मल के द्वारा बाहर निकाल दी जाती है, इसकी शरीर के ऊतकों के लिए कोई उपयोगिता नहीं है। अत: इसे भोजन की संज्ञा नहीं दी जा सकती है।

प्र.9. कंद और मूल वर्ग का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उत्तर

कंद और मूल (Roots and Tubers)

इस वर्ग में आलू, शकरकन्द, मिश्रीकंद, जिमीकंद, आड़ू (खमरूया), तिकानी और सुथनी हैं, जो जमीन के अन्दर बैठते हैं। इन्हें कंद कहते हैं। इन्हें पकाकर खाया जाता है। इनमें कार्बोज की प्रधानता रहती है। इनके बाद मूली, गाजर, शलजम एवं चुकन्दर हैं, जो जड़ के रूप में रहते हैं। इन्हें कच्चा और पकाकर दोनों रूपों में खाया जाता है। इनमें कंद की अपेक्षा कार्बोज कम मिलता है। इनमें जल और खनिज लवण अधिक होता है, पर चुकन्दर में कार्बोज अधिक होता है। इससे चीनी बनायी जाती है।

आलू—इस वर्ग में सबसे विशेष पदार्थ आलू है, जिसका उपयोग सारे संसार में होता है। आलू की पाच्यता इसके पकाने की विधि पर निर्भर करती है। उबाला हुआ आलू जल्दी और तला हुआ देर से पचता है। छिलका समेत आलू उबालने से उसका लवण पानी में घुल जाता है। इसलिए उबाला हुआ पानी नहीं फेंकना चाहिए। जहाँ की आम जनता मांसाहारी होती है, वहाँ के लिए आलू अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि मांस में कार्बोज की कमी रहती है। इसकी पूर्ति आलू के द्वारा की जाती है। इसलिए पाश्चात्य तथा शीतप्रधान देशों में मांस के साथ इसका उपयोग अधिक होता है। जहाँ के मनुष्य चावल खाते हैं अथवा शाकाहारी होते हैं, वहाँ आलू की उतनी आवश्यकता नहीं है। इसका प्रयोग मांस, दूध, अण्डा और रोटी अथवा दाल के साथ लाभदायक है।

शकरकन्द—इसमें कार्बोज और शर्करा दोनों पाए जाते हैं, इसलिए यह अधिक मोटा होता है। इसको भी आलू की तरह आग में भूनकर और उबालकर खाया जाता है। इसमें कार्बोज 16 प्रतिशत और शर्करा 12 प्रतिशत है। शारीरिक परिश्रम करने वाले को इसे अन्य खाद्य तत्त्व के साथ खाना चाहिए।

गाजर—इसकी भी कई जातियाँ होती हैं, जिनमें एक काली और दूसरी नारंगी रंग की या पीली होती है। इसमें विटामिन 'A' पाया जाता है।

प्र.10. फल एवं सब्जियों के बारे में बताइए तथा इन्हें वर्गीकृत कीजिए।

उत्तर

फल एवं सब्जियाँ (Fruits and Vegetables)

सब्जियाँ (Vegetables)—किसी पेड़ अथवा पौधे के जड़, तना, पत्ती, फूल अथवा फल को पकाकर, तलकर, भूनकर अथवा कच्चा प्रतिदिन खाने अथवा भोजन के साथ प्रयोग किया जाने वाला पदार्थ सब्जी कहलाता है।

पौधे से प्राप्ति के आधार पर सब्जियों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया गया है—

1. **जड़दार सब्जियाँ**—इन सब्जियों में पौधे की जड़ का प्रयोग किया जाता है; जैसे—मूली, गाजर, शलजम आदि। इनमें कार्बोहाइड्रेट अधिक मात्रा में होता है।
2. **कंददार सब्जियाँ**—इसमें पौधे के तने का प्रयोग सब्जी के रूप में किया जाता है; जैसे—आलू, अरबी, अदरक, प्याज, शकरकंद, जिमीकंद आदि। इनमें भी कार्बोहाइड्रेट की मात्रा अधिक होती है।
3. **पत्तेदार सब्जियाँ**—इनके अन्तर्गत पौधे की पत्तियों को सब्जी के रूप में प्रयोग किया जाता है; जैसे—पालक, मैंथी, बथुआ, धनिया, पोदीना, चौलाई, सरसों का साग आदि। इनमें आयरन, विटामिन-A कैल्शियम, थायमिन, राइबोफ्लेबिन पाया जाता है।
4. **फूलदार सब्जियाँ**—इनके अन्तर्गत पौधे का फूल सब्जी के रूप में प्रयोग किया जाता है; जैसे—गोभी, सहजन के फूल तथा कचनार के फूल आदि। इन सब्जियों में विटामिन-A, थायमिन, विटामिन-C आदि मिलते हैं।
5. **फलदार सब्जियाँ**—इनके अन्तर्गत पौधे के फल का प्रयोग सब्जी के रूप में किया जाता है; जैसे—लौकी, परमल, कद्दू, ककड़ी, मिर्च, बैंगन, भिण्डी, टमाटर आदि। इन सब्जियों में विटामिन्स तथा खनिज लवण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।
6. **बीजदार सब्जियाँ**—इनके अन्तर्गत सेम, मटर, चना, लोबिया, राजमा तथा सोयाबीन आदि आते हैं। इन सब्जियों में प्रोटीन तथा खनिज लवण और विटामिन मिलते हैं। शरीर को स्वस्थ व क्रियाशील बनाए रखने के लिए सब्जियों का नियमित प्रयोग बहुत आवश्यक है।

फल (Fruits)—फल पौधे का वह भाग है जो पुष्प से विकसित होता है—सामान्यत: यह गूदेदार और रसीला होता है। फलों में पानी की मात्रा लगभग 85% होती है तथा विटामिन्स और आयरन, कैल्शियम, सोडियम आदि खनिज लवणों के अतिरिक्त प्रचुर मात्रा में कार्बोहाइड्रेट होता है। फलों को सबसे अधिक शक्ति प्रदान करने वाला खाद्य पदार्थ कहा जाता है।
फलों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जाता है—
रसीले फल—इन फलों में विटामिन-C, टारटैरिक अम्ल तथा साइट्रिक अम्ल पाया जाता है; जैसे—सन्तरा, मौसमी, नारंगी, नींबू, अंगूर आदि।
सूखे अथवा गुठलीदार फल—इन फलों से आयरन तथा कार्बोहाइड्रेट की प्राप्ति होती है; जैसे—खजूर, अंजीर, खुमानी, कैरी आदि।
गूदेदार फल—इन फलों के सम्पूर्ण गूदेदार भाग को खाने में प्रयोग किया जाता है; जैसे—सेब, नाशपाती, शरीफा, केला, आम, खरबूजा आदि।

प्र.11. फलों की क्या उपयोगिता है? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

फलों की उपयोगिता (Utility of Fruits)

फल विटामिन युक्त, पौष्टिक एवं स्वास्थ्यवर्द्धक होते हैं। फल हमारे शरीर में विभिन्न प्रकार के विटामिन तथा खनिज लवणों की पूर्ति करते हैं। फल विभिन्न रोगों को दूर करने का भी कार्य करते हैं। इसी कारण विभिन्न रोगों में फल दिए जाते हैं।
फलों का प्रयोग विटामिन, लवण, कार्बोज, सुगन्ध और स्वाद के लिए किया जाता है। इनमें जल की मात्रा पायी जाती है। फलों को हम लोग बिना पकाए खाते हैं, इसलिए इनकी प्राकृतिक पौष्टिकता नष्ट नहीं होती। इनके दूषित होने का भी प्रश्न नहीं उठता। कारण, इन पर आवरण लगा रहता है। इनके प्रयोग से रक्त में क्षारीयता बनी रहती है। मधुमेह के रोगी को फल खाने चाहिए अथवा यह वर्जित नहीं है। फल की शर्करा उसके लिए हानिकारक नहीं होती है।
जो फल खट्टे होते हैं, उनमें विटामिन सी अधिक होता है; जैसे—नींबू, नारंगी आँवला और टमाटर इत्यादि। खट्टे फल के सेवन से 'स्कर्वी' रोग नहीं होता है। फल के रूप में हम केला, नारंगी, आम, अमरूद, नाशपाती, सेब, मौसमी को खाते हैं और अंगूर को सुखाकर मुनक्का तथा किशमिश तैयार करते हैं। कुछ लोग कच्चे केले के टुकड़े (Chips) और कच्चे कटहल का सूखा कोया तेल या घी में तलकर खाते हैं। केला, अन्न और फल दोनों का कार्य करता है। एक लीटर दूध या चार केले पूरा भोजन हो जाते हैं। केले का आटा भी खाद्य के रूप में व्यवहृत होता है। कच्चे केले की सब्जी आमाशय के रोगियों के लिए लाभदायक है।
अनान्नास (Pineapple)—यह रसीला और स्वादिष्ट फल होता है। यह प्रोटीन के पाचन में सहायक होता है।
नारंगी—यह रसीली, स्वादिष्ट, मीठी, रुचिकर, शीतल, भूख बढ़ाने वाली और वमन को रोकने वाली होती है। इसमें विटामिन-सी होता है। यह स्कर्वी के रोगियों के लिए लाभदायक है। इसमें जम्बीरिक अम्ल, शर्करा, लवण और भास्वरीय अम्ल होता है।
नींबू—इसमें जम्बीरिक अम्ल और विटामिन सी होता है तथा सोडियम और पोटेशियम के लवण भी होते हैं। यह ठण्डा, प्यास बुझाने वाला और भूख बढ़ाने वाला होता है। गर्मी में इसका शर्बत प्यास बुझाता है तथा शरीर को शीतलता प्रदान करता है। पित्ती और स्कर्वी के रोगियों के लिए बहुत उपयोगी है। हैजे और टॉयफायड के दिनों में इसको पानी में डालकर पीना चाहिए। जिसकी पाचन शक्ति कमजोर हो, उसको इसका उपयोग अवश्य करना चाहिए।
आँवला—आँवले में सबसे अधिक संतृप्त विटामिन-सी होता है। इसको विटामिन-सी का भण्डार माना गया है।
आम—इस फल को 'अमृतफल' कहते हैं। यह मौसमी फल है और साल में एक बार फलता है। यह जिस साल कम फलता है, अधिक महँगा बिकता है। सभी प्रकार के कच्चे आम खट्टे होते हैं। इसमें टार्टरिक, सायट्रिक और मेलिक एसिड विद्यमान रहते हैं। इसका अचार, चटनी और मुरब्बा बनाया जाता है। गर्मी के दिनों में गर्मी लू से बचने के लिए इसको आग में भूनकर चीनी मिलाकर शर्बत के रूप में पिया जाता है। इससे या तो लू नहीं लगती या लू लग जाने पर लू का असर शीघ्र समाप्त हो जाता है। कंठ, गले और फेफड़े के रोगियों को कच्चा आम नहीं खाना चाहिए।

कच्चे आम का संघटन

जल	90.69	प्रोटीन	0.56	कार्बोज	3.38
खनिज लवण	0.27	एसिड	1.13		

पके आम का संघटन

प्रोटीन	1.20	जल	75.50	कार्बोज	17.58
खनिज	1.23	वसा	0.75	रेशा	3.73

पका आम पौष्टिक और बलवर्द्धक होता है। दूध के साथ इसका प्रयोग करने से इसके पौष्टिक गुण और बढ़ जाते हैं। यह कब्ज को रोकता है। जिस व्यक्ति को उदरशूल, अतिसार और प्रवाहिका हो, उसको आम नहीं खाना चाहिए।

प्र.12. एल्गी एवं फन्जाई में विभिन्नता को प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर एल्गी एवं फन्जाई में निम्नलिखित विभिन्नता है—

क्र०सं०	एल्गी	फंजाई
1.	इसमें हरे, लाल, नीले, बैंगनी कण पाए जाते हैं। हरे रंग वालों में क्लोरोफिल पाया जाता है।	इसमें क्लोरोफिल का अभाव होता है।
2.	यह आत्मपोषी है। अपने भोजन का निर्माण स्वयं करते हैं।	यह परजीवी या मृतोपजीवी होते हैं। यह भोजन पोषिता से प्राप्त करते हैं।
3.	यह वास्तविक कोषों से बने हैं।	इनमें कोष नहीं होते। यह पतले धागों जिन्हें हाइफा (Hyphae) कहते हैं, इनके द्वारा बनते हैं।
4.	इनके कोश की दीवारें सैल्यूलोज की बनी होती है।	इसकी दीवारें फंगस सैल्यूलोज की बनी होती हैं।
5.	यह पानी या नम स्थानों में जीवित रहते हैं।	यह परजीवी के रूप में किसी पौधे पर मृतोपजीवी के रूप में मृत जानवर या कूड़े-करकट पर उगते हैं।
6.	इसमें एकत्रित कार्बोज स्टार्च है।	एकत्रित कार्बोज ग्लाइकोजन है।

प्र.13. बैक्टीरिया जीवों के लिए हानिकारक क्यों है? समझाइए।

उत्तर

बैक्टीरिया की हानिप्रद क्रियाएँ
(Harmful Activities of Bacteria)

1. **भूमि की उर्वरता कम करना**—कुछ बैक्टीरिया भूमि के नाइट्राइट व नाइट्रेट को स्वतन्त्र नाइट्रोजन में परिवर्तित कर देते हैं जिसमें भूमि की उर्वरा क्षमता कम हो जाती है इस प्रकार के बैक्टीरिया को डी-नाइट्रीफाइंग बैक्टीरिया कहते हैं।
2. **भोज्य पदार्थों को नष्ट करना**—बैक्टीरिया भोजन में उत्पन्न होकर भोजन के तत्त्वों को तोड़ देते हैं तथा कुछ हानिकारक पदार्थ उन भोज्य पदार्थों में उत्पन्न कर देते हैं, जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है। विभिन्न बैक्टीरिया से भोजन में विषाक्तता आ जाती है। इनमें बन्द डिब्बों में उपस्थिति भोज्य पदार्थों में उत्पन्न बैक्टीरिया क्लोस्ट्रीडियम बोट्यूलिनम विशेष रूप से बहुत हानिकारक होता है, जो व्यक्ति की मृत्यु का कारण भी बन जाता है।
3. **रोग उत्पन्न करना**—विभिन्न प्रकार की परजीवी बैक्टीरिया अपने पोषिता को अपनी चयापचयी क्रियाओं से उत्पन्न विष पहुँचा देते हैं, जिससे उन्हें घातक रोग हो जाते हैं; जैसे—
   हैजा (Cholera)—विब्रियो कॉलेरा,
   क्षय रोग (Tuberculosis)—ट्यूबरक्यूलोसिस बेसीलाई,
   प्लेग (Plague)—पेस्ट्यूरेल्ला पेस्टिस,
   निमोनिया (Pneumonia)—डिप्लोकोकस न्यूमोनी,
   टाइफाइड (Typhoid)—सालपोनेल्ला टायफोसा आदि।

पौधों तथा फसल को भी कई बैक्टीरिया बीमारी देकर नुकसान पहुँचाते हैं। इनसे पौधों की पत्तियों पर धब्बे पड़ जाते हैं, पौधा रंगहीन व कमजोर होकर सूख जाता है, पत्तियों में छेद बन जाते हैं, पत्तियाँ सिकुड़ जाती हैं, पौधे की वृद्धि रुक जाती है तथा कुछ समय बाद पौधे की मृत्यु हो जाती है।

प्र.14. फफूँदी की संरचना का वर्णन कीजिए। इसके आर्थिक महत्त्व का भी उल्लेख कीजिए।

उत्तर

फफूँदी (Mould)

फफूँदी बहुकोशीय रेशेदार संरचना है जो अपनी रुई की भाँति तथा फूली हुई संरचना के कारण आसानी से पहचानी जा सकती है। अधिकतर सफेद रंग की होती है, कभी-कभी गहरी रंगीन या धुएँ के रंग की भी देखी जा सकती है। यह छोटे-छोटे कोशों के द्वारा निर्मित है और धागे के रूप में दिखाई देती है। प्रत्येक धागे को हाइफा (Hyphae) तथा धागे के समूह को माइसीलियम (Mycellium) कहते हैं। कार्य के आधार पर हायफा को दो प्रकार का कहा जा सकता है—एक जमीन के अन्दर जाकर भोजन प्राप्त कराते हैं, इन्हें वानस्पतिक हाइफा (Vegetative Hyphae) कहते हैं, दूसरे बीज उत्पन्न करते हैं जिन्हें उपजाऊ हाइफा (Fertile Hyphae) कहते हैं। हाइफा के जीवद्रव्य में केन्द्र वैक्यूल, शक्कर, वसा इत्यादि के कण देखे जा सकते हैं। कुछ हाइफा कार्य दीवार द्वारा विभाजित होते हैं, इन्हें सेप्टेट हाइफा (Septate Hyphae) कहते हैं। सेप्टेट हाइफा में कोष एक के बाद एक क्रम से जुड़े रहते हैं तथा प्रत्येक कोष में एक या अधिक केन्द्र देखे जा सकते हैं जबकि नानसेप्टेट हाइफा एक लम्बे कोष के समान दिखाई देते हैं, जिनमें अनगिनत केन्द्रक बिखरे रहते हैं।

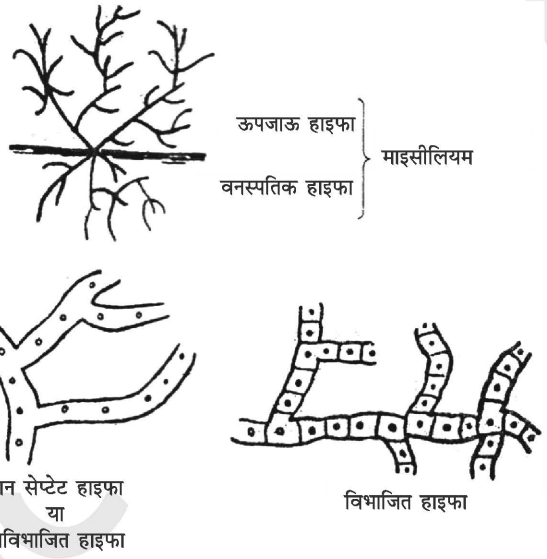

फफूँदी को खमीर की अपेक्षा कम नमी की आवश्यकता होती है तथा उचित तापक्रम 25°C–30°C है।

फफूँदी का आर्थिक महत्त्व (Economic Importance of Fungi)

अधिकतर फफूँदी की जातियाँ मृत्तोपजीवी होती हैं। इनमें एक प्रकार की फफँदी ब्रैड पर उग जाती है इसे राइजोपस (Rhizopus) या ब्रैड सोल्ड भी कहे हैं। इसके अतिरिक्त म्यूकर (Mucor) की कई जातियाँ भी कार्बनिक पदार्थों पर उग आती हैं तथा उन्हें हानि पहुँचाती हैं। फफूँदी की एक जाति आलुओं में उत्पन्न होकर उन्हें नष्ट कर देती है। पानी की फफूँदी मछलियों पर परजीवी होती है। फफूँदी की एक जाति पैनिसिलियम फलों पर उत्पन्न होकर उन पर हरे व नीले धब्बे दे देती है, इस पर यह जाति औषधि-शास्त्र के लिए महत्त्वपूर्ण होती है। पैन्सिलीन नामक एण्टीबायोटिक इसी जाति से तैयार होता है। फफूँदी की जाति एस्परजिलस (Aspergillus) पनीर बनाने में सहायक होती है, पर इसकी कुछ जातियाँ मनुष्यों, जन्तुओं और पक्षियों में भयानक रोग भी उत्पन्न करती हैं।

फफँदी की कुछ जातियाँ पौधों पर उत्पन्न होकर उन पर रोग फैलाती हैं। ये अचार, चमड़े तथा कपड़ों पर भी उग आते हैं। नमी तथा उष्णता अधिक होने पर इनकी वृद्धि तीव्र गति से होती है।

फफूँदी भूमि में उपस्थित कार्बनिक पदार्थों पर उगकर उसे सड़ा देते हैं तथा भूमि को उपजाऊ बना देते हैं। इस तरह फफूँदी हमारे लिए लाभदायक व हानिकारक दोनों ही क्रियाएँ करते हैं।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. आहार से आप क्या समझते हैं? विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर भोजन का हमारे जीवन में बहुत महत्त्व है। तीन आहार प्रतिदिन के हिसाब से एक वर्ष में हम करीब 1000 आहार लेते हैं। भोजन, मानव जीवन की प्राथमिक आवश्यकता है जिससे हमें शक्ति मिलती है और हम निरन्तर कार्य करते रहते हैं। भोजन से हमारे शरीर का निर्माण होता है तथा हमारे शरीर की सुरक्षा होती है। इसके अलावा भोजन हमारी मानसिक स्थिति के लिए भी महत्त्वपूर्ण होता है। भोजन हमें आनन्द, प्रसन्नता, सन्तुष्टि व सुरक्षा की भावना देता है। हम भोजन का प्रयोग मित्रता बनाए रखने के लिए, अवकाश के दिनों को उल्लसित करने के लिए करते हैं। धर्म में भी भोजन का प्रमुख स्थान है।

हमारे समय का एक बहुत बड़ा भाग भोजन से सम्बन्धित कार्यों में व्यतीत होता है। संसार के कार्यों में से अधिकतर कार्य भोजन को उगाने, ठीक तरह से रखने तथा उसे तैयार करने से सम्बन्धित हैं। एक अनुमान के अनुसार एक किसान लगभग 30 व्यक्तियों के लिए भोजन उगाता है जबकि दूसरे व्यक्ति कारखानों में कार्य करके भोजन तैयार करने में; जैसे—ब्रेड, बिस्कुट, मक्खन, घी आदि तथा बाजारों में भोजन को बेचने या होटलों व घरों में खाना बनाने का कार्य करते हैं। हम अपनी आय का एक महत्त्वपूर्ण भाग भोजन में व्यय करते हैं।

जबकि दूसरी ओर ऐसे भी लोग हैं जो अपनी आवश्यकतानुसार भोजन नहीं खा पाते हैं। आज संसार की दो तिहाई जनता भूखे पेट या बिना खाना खाए सो जाती है। फलत: ऐसे व्यक्ति निर्बल व अस्वस्थ होते हैं तथा उनकी छोटी उम्र में ही मृत्यु हो जाती है।

इससे ज्ञात होता है कि उत्तम पोषण कई व्यक्तियों की समझ, ज्ञान तथा सहायता पर निर्भर करता है। उत्तम पोषण किसी व्यक्ति के अच्छे स्वास्थ्य की गारण्टी नहीं ले सकता, इस पर अच्छे पोषण के बिना किसी भी व्यक्ति का अच्छा स्वास्थ्य सम्भव नहीं है।

मानव शरीर एक मशीन की भाँति कार्य करता है। जिस प्रकार मशीनों एवं यन्त्रों को कार्य करने के लिए ऊर्जा अर्थात् यान्त्रिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मानव की शरीर रूपी मशीन को, उसके शरीर में होने वाली विभिन्न क्रियाओं के सुचारु संचालन के लिए रासायनिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है। दोनों की ऊर्जा-प्राप्ति के स्रोत भिन्न हैं। मशीनों तथा यन्त्रों को यह ऊर्जा विद्युत, पेट्रोल, पानी आदि से प्राप्त होती है। लेकिन मनुष्य रूपी मशीनों को यही ऊर्जा भोजन में मिलने वाले पौष्टिक तत्त्वों से प्राप्त होती है।

'पोषण' का एक विज्ञान के रूप में परिचय सर्वप्रथम लैवोईजियर (Lavoisier) द्वारा 18वीं शताब्दी के अन्त में दिया गया, परन्तु आहार विज्ञान (Dietitics) इससे भी पुराना विषय माना जाता है। पोषण एक कला के साथ-साथ विज्ञान भी है जो कि कई सुरक्षित आधारभूत तथ्यों पर आधारित है। केवल 20वीं शताब्दी से सरकार ने इसकी तरफ ध्यान दिया तथा यह जिम्मेदारी ली गई कि समाज के गरीब एवं अभावग्रस्त वर्ग को ठीक प्रकार का भोजन उचित मात्रा में प्राप्त हो। इस समस्या को हल करने के लिए पोषण विज्ञान का ज्ञान होने की आवश्यकता बढ़ गई तथा इसकी व्यावहारिक महत्ता बढ़ गई है।

पोषण विज्ञान की परिभाषा अनेक प्रकार से दी गई है। यूकिन (Yukin) ने पोषण को मनुष्य एवं उसके भोजन के बीच का सम्बन्ध बताया तथा इसमें मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, शरीरात्मक तथा जैवकीय पहलुओं को भी सम्मिलित किया। 'काउंसिल ऑफ फूड्स एण्ड न्यूट्रीशन ऑफ द अमेरिकन मेडिकल एसोसियेशन' ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा, "भोजन पोषण तत्त्वों तथा उसमें पाए जाने वाले अन्य तत्त्वों, उनका कार्य, आपस में सम्बन्ध तथा स्वास्थ्य एवं बीमारी के सम्बन्ध में सन्तुलन तथा वह सारी प्रक्रिया जिनके द्वारा जीव भोजन को लेते, भोजन का पाचन, अवशोषण, परिवहन का प्रयोग तथा उत्सर्जन होता है इस विज्ञान के अन्तर्गत आता है।" ("Nutrition is the science of food, the nutrients and other substances there in, their action, interaction and balance in relation to health and disease and the process by which the organism ingest digest, transport, utilizes and excretes food substance.") भोजन के पोषक तत्त्व, जो पोषण से सम्बन्धित होते हैं, वे रासायनिक तत्त्व हैं जो शरीर में तीन कार्यों में से किसी एक को पूरा करते हैं—(1) ऊर्जा प्रदान करना (2) शारीरिक कार्यों का नियन्त्रण, (3) शारीरिक वृद्धि में सहायता अथवा ऊतकों के पुन: निर्माण में सहायता प्रदान करना।

वैज्ञानिक समुदाय में पोषण विज्ञान तुलनात्मक रूप से एक नया विषय है जो कि पूर्ण रूप से भिन्न विषय के रूप में 1934 में आर्गेनाइजेशन ऑफ अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑफ न्यूट्रीशन (Organization of American Institute of Nutrition) द्वारा परिचित कराया गया, क्योंकि यह विज्ञान जीव विज्ञान एवं रसायन विज्ञान की तकनीकों पर आधारित है। विज्ञान की अन्य शाखाओं के विकास के बाद ही पोषण विज्ञान का विकास हुआ है। पोषण अन्य विषयों की भाँति ही अकेला विज्ञान नहीं है। यह रसायनशास्त्र, जीव विज्ञान, जीव रसायन शास्त्र, शरीर क्रिया विज्ञान, अणु जीव विज्ञान, औषधिक विज्ञान तथा कोशिका विज्ञान पर निर्भर होता है। यह इन सभी सम्बन्धित विषयों में अनुसन्धान की सुविधा भी प्रदान करता है।

प्र.2. आहार एवं पोषण विज्ञान का महत्त्व एवं उद्देश्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

उत्तर

आहार एवं पोषण विज्ञान का महत्त्व
(Importance of Food and Nutrition Science)

आहार एवं पोषण विज्ञान एक ऐसा विज्ञान है जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपयुक्त पोषक तत्त्वों के प्रदान करने का ज्ञान कराता है। प्रत्येक व्यक्ति की पोषक आवश्यकता भिन्न-भिन्न होती है। उसकी पोषक सम्बन्धी माँग किसी अन्य व्यक्ति के समान नहीं होती है। उसकी पोषण सम्बन्धी आवश्यकता उसकी आयु, शारीरिक स्थिति, क्रियाशीलता, जलवायु आदि तत्त्वों से प्रभावित होती है। एक बच्चे की एक बूढ़े से पोषण सम्बन्धी माँग भिन्न होती है, ऐसे ही एक गर्भवती महिला की पोषण सम्बन्धी माँग एक सामान्य महिला से भिन्न होती है। एक स्वस्थ व्यक्ति की पोषण सम्बन्धी माँग एक रोगी व्यक्ति से भिन्न होती है अर्थात् पोषक तत्त्वों की माँग इस बात पर निर्भर करती है कि वह क्या करता है यानी कि कम क्रियाशील है अथवा अत्यधिक क्रियाशील। जैसे एक मजदूर एक मानसिक श्रम करने वाले से तिगुनी कैलरी प्रति घण्टा खर्च करता है। अत: उसे अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है। कहने का तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी अवस्था, शारीरिक स्थिति, क्रियाशीलता आदि के अनुसार ही विभिन्न पोषक तत्त्वों की आवश्यकता होती है। आहार विज्ञान, पोषण विज्ञान को प्रायोगिक तरीके से अपनाने का ज्ञान प्रदान करता है। अत: इसके द्वारा व्यक्ति किसी भी व्यक्ति के लिए आहार नियोजन (Diet Plan) कर सकता है।

आहार प्रत्येक प्राणी का जीवन है तथा आहार का सीधा सम्बन्ध उसके शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य से होता है। प्रत्येक भोजन में भिन्न-भिन्न पोषक तत्त्व उपस्थित होते हैं तथा प्रत्येक पोषक तत्त्व शरीर में अलग-अलग रूप से कार्य करता है। प्रत्येक व्यक्ति को कुछ पोषक तत्त्वों की अधिक आवश्यकता होती है तो कुछ पोषक तत्त्वों की कम या इसके विपरीत कुछ पोषक तत्त्व यदि अधिक परिमाण में लेने होंगे तो भी शरीर के ऊपर उसका विपरीत प्रभाव दिखाई देने लगता है। अत: उपयुक्त पोषक तत्त्वों को उचित परिमाण भोजन द्वारा ग्रहण करना पूर्ण रूप से स्वस्थ रहने के लिए आवश्यक है। इन सभी बातों की अथवा तथ्यों की उपयुक्त वैज्ञानिक तरीके से आहार एवं पोषण विज्ञान द्वारा ही जानकारी मिलती है।

"आहार एवं पोषण विज्ञान एक कला भी है और एक विज्ञान भी।" यह कथन पूर्णतया सत्य है। यह विज्ञान व्यक्ति के स्वास्थ्य, उसकी वृद्धि, कार्यकुशलता, मानसिक स्वास्थ्य, विभिन्न पोषक तत्त्वों के प्रयोग, ग्रहण तथा प्राप्ति इत्यादि सम्बन्धित हैं। यह विज्ञान इसलिए कहा जा सकता है, क्योंकि यह पोषक तत्त्वों की जानकारी उनकी रासायनिक रचना, शरीर पर पड़ने वाला प्रभाव, प्राप्ति के साधन, कमी से होने वाले रोग, प्रत्येक व्यक्ति के लिए पोषक तत्त्वों की मात्रा (Daily Requirement) आदि की जानकारी वैज्ञानिक तरीके से अर्थात् क्रमबद्ध तरीके से करता है तथा विभिन्न अवस्थाओं में चाहे वह सामान्य है अथवा रोग की, सभी अवस्थाओं में आहार नियोजन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है जिनके आधार पर हर आयु, वर्ग, जाति, समूह, अवस्था आदि में आहार का नियोजन करने में सरलता रहती है। दूसरी ओर जहाँ उपयुक्त पोषक तत्त्व यदि उपयुक्त तरीके से भोजन पकाकर, परोस कर प्रस्तुत किए जाते हैं तो रुचिपूर्वक भोजन ग्रहण किया जाता है यदि अच्छे-अच्छे पोषक तत्त्व युक्त आहार यदि उपयुक्त तरीके से पकाकर न परोसा जाए तो भी उन्हें खाना मुश्किल होता है, क्योंकि भोजन पकाना एवं परोसना भी एक कला है। स्वाद-सुगन्ध युक्त, रंग युक्त, विभिन्नता सहित प्रस्तुत किया गया आहार न केवल भूख ही बढ़ाता है वरन् उसका शरीर में पूर्णतया शोषण होता है, क्योंकि वह रुचिपूर्वक ग्रहण किया जाता है लेकिन बिना मन से, अरुचिपूर्ण ढंग से किया गया भोजन शरीर में पूर्णतया शोषित नहीं होता।

भोजन पकाना एवं परोसना भी एक कला है (Cooking and Serving Food is an Art)

भोजन इस तौर पर पकाना चाहिए जिससे उसके पोषक तत्त्व नष्ट न हों तथा विभिन्न रूपों में उसे प्रस्तुत भी किया जा सके। भोजन केवल भूख की शान्ति हेतु ही नहीं किया जाता वरन् भोजन द्वारा व्यक्ति अपने सामाजिक सम्बन्धों को भी दृढ़ करता है। हमारे समाज में भिन्न-भिन्न अवसरों पर भोजन कराने की प्रथा है। भिन्न-भिन्न तीज-त्यौहारों पर, जन्मदिन, मुण्डन, शादी-विवाह, यहाँ तक कि मृत्यु पर भी भोजन का प्रचलन है। कोई भी कार्यक्रम बिना भोजन के अधूरा समझा जाता है। किसी भी संस्था में यदि कोई भी कार्यक्रम हो; जैसे—सेमीनार, खेलकूद, वाद-विवाद अथवा विदाई समारोह या कुछ ओर, सभी में जलपान कार्यक्रम रखे जाते हैं जिसका उद्देश्य आपस में मित्रतापूर्ण ढंग से मिलना-जुलना, समस्याओं का निराकरण, आपसी सम्बन्धों को प्रगाढ़ करना है। ऐसे में यदि भोजन रुचिपूर्ण और उपयुक्त ढंग से तैयार न किया गया तो तो अपमान बोध भी हो सकता है। बढ़िया एवं स्वादिष्ट भोजन पकाना व प्रस्तुत करने में एक अलग गौरव व सन्तुष्टि मिलती है। सभी लोग उसकी तारीफ करते हैं। यह सब तरीका जिससे उपयुक्त ढंग से भोजन पकाकर परोसा जाता है यह इसका कलात्मक पक्ष है। अत: यह कहा जा सकता है कि आहार एवं पोषण विज्ञान एक विज्ञान भी है और एक कला भी।

हमारे देश में भिन्न-भिन्न प्रान्त, जातियाँ व भिन्न-भिन्न बोलियाँ बोली जाती हैं तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के आहार एवं भोजन तैयार किए जाते हैं हर प्रान्त व जाति का कुछ विशेष भोजन होता है लेकिन आजकल सभी प्रान्त के भोजन सभी स्थानों पर पकाए जाते हैं और उनका प्रचलन बढ़ता जा रहा है; जैसे—पंजाब के छोले भटूरे, मद्रास के इडली, डोसे, सांभर, ढोकला, रसम, उपमा आदि उत्तर में भी प्रचलित हैं। उन सबको सीखना भी एक कला है जिसका ज्ञान हमें इस विज्ञान द्वारा होता है।

व्यक्तियों को खिलाने (Feeding) की कला एवं विज्ञान, पोषण एवं आहार विज्ञान के प्रायोगिक ढंग से प्रयोग द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि इसके द्वारा व्यक्ति की शारीरिक एवं मानसिक आवश्यकता, उसके जीवन-चक्र की किसी भी अवस्था में उसकी पोषण अधिकार के लिए, योजना बनाने से लेकर भोजन पकाने और परोसने तक भी सीखना महत्त्वपूर्ण है जिससे व्यक्ति पोषण के सिद्धान्तों को प्रतिदिन आवश्यकतानुसार प्रयोग कर सके, साथ ही उसको उसका मूल्यांकन भी करते रहना चाहिए जिससे स्थिति के अनुसार परिवर्तन किया जा सके। पोषण सम्बन्धी देखभाल न केवल व्यक्ति के लिए ही वरन् समूह में भी वह महत्त्वपूर्ण होती है।

पोषण एवं आहार विज्ञान के उद्देश्य (Objectives of Nutrition and Food Science)

1. भोजन एवं पोषण का स्वास्थ्य, प्रसन्नता, कार्यकुशलता, दीर्घ आयु से सम्बन्ध को जानना और प्रयोग में लाना एवं लोगों (धार्मिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक आदि के अनुसार व्यक्तिगत अन्तर समझना) तथा भोजन के अर्थ को पहचानना।
2. लोगों को अच्छी व उपयुक्त आहार के चयन में सहायता करना यद्यपि भोज्य आदतों को बदलने में कठिनाई भी आ सकती है।
3. भोजन के प्रति उपयुक्त व्यवहार के महत्त्व को पहचानना।
4. समूह में लोगों की पोषण सम्बन्धी माँग में सुधार की आवश्यकता अनुभव करना तथा रोगी की देखभाल में पोषण के सिद्धान्तों के ज्ञान को प्रयोग करना तथा पोषण सम्बन्धी देखभाल के उत्तरदायित्व को समझना।
5. पोषक तत्त्वों के कार्यों को जानना।
6. रोगी को स्वस्थ बनाने में पोषण के महत्त्व को पहचानना।
7. विभिन्न आयु वर्ग के व्यक्तियों के पोषक तत्त्वों की आवश्यकताओं को जानना तथा भोजन उन पोषक तत्त्वों का स्रोत है, उसे समझना।
8. पोषण सम्बन्धी तथ्यों के स्रोतों की जानकारी।
9. रोग की दशाओं में आहार के सिद्धान्तों केा प्रतिपादित करना।
10. अच्छी भोज्य आदतों के तरीके (Techniques) का विकास।
11. सांस्कृतिक भोजन के तरीकों को समझना।
12. उत्तम पोषण हेतु आहार के चयन के लिए भोजन मूल्यों को जानने के लिए भोजन के संगठन में सारणियों का प्रयोग करना, भोज्य पदार्थों को समूहीकृत करना। आर्थिक, मनोवैज्ञानिक व सांस्कृतिक तथ्यों को ध्यान में रखते हुए आहार में समायोजन करना।
13. रोगियों द्वारा लिए गए भोजन को देखना और आहार नियोजक को उसका विवरण प्रस्तुत करना।
14. रोगियों को भोजन के समय सहायता करना।
15. रोगियों को आहार के महत्त्व को समझाते हुए आश्वस्त और उत्साहित करना।
16. रोगियों की देखभाल में सहायता हेतु सामुदायिक साधनों का प्रयोग करना। डॉक्टर, नर्स, आहार नियोजक के साथ काम करना।
17. रोगियों के साधारण प्रश्नों का उत्तर देना तथा उनके प्रश्नों का आहार नियोजक को प्रस्तावित करना।

इस प्रकार आहार एवं पोषण सम्बन्धी समस्त जानकारी हमें प्रदान करता है जो व्यक्ति भोजन करता है उसमें विभिन्न पोषक तत्त्व शरीर के लिए किस प्रकार महत्त्वपूर्ण हैं और विभिन्न व्यक्तियों के आयु, कार्य एवं स्वास्थ्य आदि के अनुसार उनकी पोषण सम्बन्धी कौन-सी आवश्यकताएँ, उसके अनुसार गुणात्मक और मात्रात्मक दृष्टि से कौन से भोज्य तत्त्वों की आवश्यकता है और कितनी मात्रा में उन्हें आहार में सम्मिलित किया जाए और किन भोज्य पदार्थों से उनकी प्राप्ति सम्भव है। अतः सभी वर्ग के व्यक्तियों के लिए उत्तम पोषण की व्यवस्था, आहार एवं पोषण विज्ञान द्वारा सम्भव है। व्यक्ति को अपनी आदतें, रुचि को छोड़कर आवश्यकतानुसार पोषक तत्त्व ग्रहण करने चाहिए जिससे वह पूर्णतया स्वस्थ रह सके।

प्र.3. पोषक तत्त्व से क्या आशय है? पोषक तत्त्वों की प्राप्ति के स्त्रोतों को विस्तारपूर्वक समझाइए।

उत्तर

पोषक तत्त्व (Nutrients)

"भोजन के अन्दर विद्यमान वे सभी तत्त्व जो शरीर निर्माण, ऊर्जा उत्पादन तथा शरीर की रोगों से रक्षा करने का कार्य करते हों, पोषक तत्त्व कहलाते हैं।"

भोजन के अन्दर पाए जाने वाले इन सभी पोषक तत्त्वों को छः समूहों में विभाजित किया जा सकता है—

1. प्रोटीन तथा अमीनो एसिड (Protein and Amino Acids), 2. श्वेतासार (कार्बोहाइड्रेट) (Carbohydrates), 3. वसा तथा वसीय अम्ल (Fats and Fatty Acids), 4. खनिज लवण (Mineral Elements), 5. विटामिन्स (Vitamins), 6. जल (Water)।

ये पोषक तत्त्व स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं कर पाते हैं। यह एक-दूसरे के सम्मिलित प्रयोग से कार्य करते हैं। विभिन्न भोज्य पदार्थों में पोषक की मात्रा भिन्न-भिन्न पायी जाती है। कुछ भोजन पदार्थ एक विशेष तत्त्व का उत्तम स्रोत होते हैं तो कुछ में इस तत्त्व की कमी पायी जाती है।

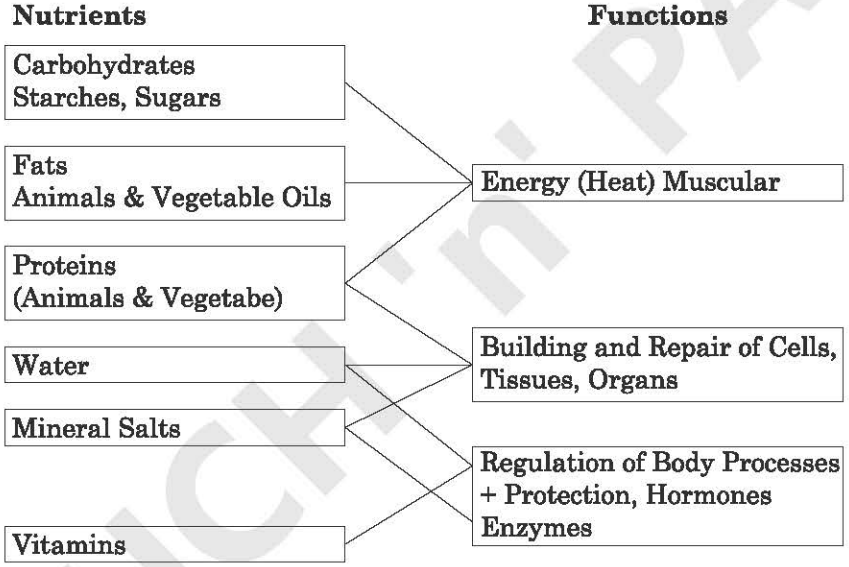

इन पौष्टिक तत्त्वों को भोजन के 'विशिष्ट अवयव' के नाम से भी जाना जाता है। ये एक प्रकार के रासायनिक पदार्थ होते हैं। इनके अतिरिक्त एक अन्य पोषक तत्त्व हमारे शरीर के लिए और आवश्यक है यह तत्त्व है सेल्यूलोज (Roughase) इसका हमारे शरीर में कोई पौष्टिक मूल्य नहीं है, फिर भी यह शरीर में मल को गति प्रदान करता है तथा आँतों में क्रमाकुंचन की गति को सामान्य बनाए रखता है। यह पौष्टिक तत्त्व हमें सब्जियों व फलों के छिलके, साबुत दालों व अनाजों के ऊपरी पर्त व चोकर आदि से प्राप्त होता है। जानवरों में इस तत्त्व का अपना अलग ही पौष्टिक महत्त्व है, क्योंकि उनके शरीर में इसे पचाने वाला Enzyme उपस्थित होता है अर्थात् जानवरों का मुख्य भोजन ही Roughage होता है।

पोषक तत्त्वों की प्राप्ति के स्त्रोत (Sources of Nutrients)

1. **कार्बोहाइड्रेट**—चावल, गेहूँ, ज्वार, बाजरा, मकई, साबुदाना, जई, आटा, मैदा, मुरमुरे, चूड़ा, दलिया, नूडल्स, बिस्कुट, ब्रेड, चीनी, गुड़, शहद, सूखे फल; जैसे—किशमिश, खजूर, अंजीर, दालें, शकरकन्द, जिमीकन्द, अरवी, जैम, जैली, मुरब्बे, मिठाइयाँ इत्यादि।
2. **वसा एवं तेल**—घी, मक्खन, मलाई, मारजरीन, चर्बी, चर्बीयुक्त मांस, अण्डे का पीला भाग, मछली, वनस्पति घी, सभी प्रकार के तिलहर तथा खाने योग्य तेल, नारियल, बादाम, मूँगफली, काजू, बादाम, अखरोट, पिस्ता इत्यादि।
3. **प्रोटीन**—दूध तथा दूध से बने भोज्य पदार्थ अण्डे, मांस, मछली, यकृत, सभी प्रकार की दालें, बीज, फलियाँ, राजमा, मटर, सोयाबीन, मूँगफली, काजू, तिल इत्यादि।

4. **खनिज लवण**—(i) **कैल्सियम**—दूध, अण्डा, दही, सभी प्रकार के साग; जैसे—पालक, मैथी, बथुआ, हरा धनिया, पुदीना, सलाद पत्ते, सूखी मछली, तिल, पनीर, खोया इत्यादि।
   (ii) **फॉस्फोरस**—दूध, अण्डा, मांस, मछली, पनीर, अनाज, दालें, गिरी व तिलहन।
   (iii) **लौह लवण**—मांस, मछली, अण्डा, यकृत, अनाज, फलियाँ, हरी पत्ती वाली सब्जियाँ, गुड़, सूखे फल, किशमिश, खजूर, अंजीर, तिलहन, काष्ठफल इत्यादि।
   (iv) **पोटेशियम**—अनाज, दालें, सभी हरी एवं जड़ वाली सब्जियाँ, दूध, दही, छाछ, पनीर, अण्डा, सोयाबीन, मांस, मछली इत्यादि।
   (v) **सोडियम**—नमक, जल एवं लगभग सभी खाद्य पदार्थों में विशेष रूप से अनाज और हरी सब्जियाँ।
   (vi) **आयोडीन**—जल, हरे पत्ते वाली सब्जियाँ, मछली तथा आयोडीनयुक्त नमक।
5. **विटामिन**—(i) **विटामिन 'ए'**—मछली के यकृत का तेल (कॉड एवं शार्क में ज्यादा), यकृत, मक्खन, घी, अण्डा, दूध, पनीर, हरी पत्ती वाली सब्जियाँ, लाल साग, हरा साग, हरा आम, कच्चा टमाटर, गाजर, पपीता, आम इत्यादि।
   (ii) **विटामिन 'डी'**—मछली के यकृत का तेल (विशेषकर कॉड तथा शार्क मछली) यकृत, अण्डा, मक्खन, घी, दूध इत्यादि।
   (iii) **विटामिन 'इ'**—सभी प्रकार के तेल, हरी पत्तेदार सब्जियाँ, मेवा, दाल, साबुत अनाज (यकृत, हृदय, गुर्दे, दूध, अण्डों) में, किन्तु कम मात्रा में मिलता है।
   (iv) **विटामिन 'के'**—हरी पत्तेदार सब्जी; जैसे—पालक, गोभी, फूल गोभी, सोयाबीन, वनस्पति तेल इसके प्रमुख स्रोत हैं। अनाज, फल व अन्य सब्जियों में कम मात्रा में मिलता है। सुअर का जिगर इसकी प्राप्ति का प्रमुख साधन है।
   (v) **विटामिन 'बी' (थायमीन)**—खमीर, सम्पूर्ण अनाज, गेहूँ, चावल, हाथ से कुटा चावल व उसका चावल, ज्वार, बाजरा, साबुत तथा छिलके वाली दालें, बीज, सोयाबीन, मूँगफली, तिल, काजू, मटर, फलियाँ, मांस, मछली, दूध, अण्डे का पीला भाग इत्यादि।
   (vi) **विटामिन 'बी$_2$'—(राइबोफ्लेविन)**—खमीर, यकृत, अण्डा, पनीर, दूध, मांस, मछली, सम्पूर्ण अनाज, सभी प्रकार की दालें, फलियाँ, हरे साग इत्यादि।
   (vii) **नियासिन**—खमीर, मूँगफली का आटा, मूँगफली, यकृत, सम्पूर्ण अनाज, मांस, मछली, फलियाँ इत्यादि।
   (viii) **विटामिन 'सी'—(ऐस्कॉर्बिक अम्ल)**—आँवला, अमरूद, नींबू, सन्तरा, रसभरी, अनन्नास, पपीता, टमाटर, सहजन तथा सहजन की पत्तियाँ, हरी धनियाँ, साग, चौलाई, अंकुरित दालें एवं अनाज इत्यादि।

प्र.4. अन्न वर्ग और दलहन वर्ग के संघटन का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

अनाज (Cereals)

यह मनुष्य का मुख्य खाद्य है। इसमें चावल, गेहूँ, तन्दूर, ज्वार, बाजरा, मकई, जौ और जई इत्यादि हैं। आदत और वातावरण के अनुसार और जहाँ जिस अन्न की अधिकता होती है, वहाँ उसका उपयोग अधिक होता है। भारत, जापान, चीन, लंका और सुमात्रा में चावल का उपयोग अधिक होता है। यूरोप तथ अमेरिका में गेहूँ और मकई का उपयोग होता है।

संघटन—अन्न में प्रोटीन कम मात्रा में होता है और वह भी अन्न की जाति पर निर्भर करता है। कार्बोज 60–80 प्रतिशत, प्रोटीन 6–12 प्रतिशत और वसा नाम मात्र की होती है। खनिजों में लोहा, सल्फर, फॉस्फोरस, चूना, सोडियम और मैग्नीशियम के लवण होते हैं। विटामिन डी की कमी से चूने का समीकरण ठीक से नहीं होता है। इसकी अधिकता होने से पेट में पथरी हो जाती है। इसलिए जिस खाद्य में चूना पाया जाए, उसके साथ ऐसे खाद्य द्रव्य को खाना चाहिए, जिसमें विटामिन डी हो।

अनाज की संरचना—अनाज के प्रत्येक दाने में निम्नलिखित भाग होते हैं—

1. **छिलका** (Bran Covering)—इसकी रचना सेल्यूलोज से बनी होती है तथा इसमें विटामिन और खनिज तत्त्व पाए जाते हैं। यह दाने का बाहरी आवरण होता है यह दाने की रक्षा करता है भूसी का निर्माण इसके अलग होने पर होता है।
2. **ऐल्यूरॉन** (Aleurone)—बीज का यह भाग प्रोटीन, थायमिन तथा फॉस्फोरस से बनता है तथा छिलके के नीचे स्थित होता है।

3. **भ्रूणकोष** (Endosperm)—बीज के इस भाग का निर्माण स्टार्च, प्रोटीन, वसा तथा खनिज पदार्थों के योग से होता है। यह भाग बीच का प्रमुख भाग होता है।
4. **जनन कोशिका** (Germ Cell)—यह भाग बीज के अंकुरण वाला स्थान है। इसमें राइबोफ्लेबिन अत्यधिक मात्रा में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रोटीन तथा वसा भी कुछ मात्रा में उपलब्ध होती है।
5. **स्कुटैलम** (Scutellum)—यह एक ऊतकीय संरचना है जो जनन कोशिका एवं भ्रूणकोष के मध्य स्थित होती है। यह पौधे के विकास में सहयोग देती है। इसमें एन्जाइम्स पाए जाते हैं।

अनाजों की उपयोगिता—1. अनाज शरीर को सर्वाधिक ऊर्जा प्रदान करते हैं।

2. अनाजों के द्वारा विभिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थों का निर्माण होता है जिनके कारण भोजन में विविधता उत्पन्न हो जाती है और वह अधिक स्वादिष्ट एवं आकर्षक दिखाई देता है।
3. यह अधिकांशत: सुपाच्य होते हैं।
4. इनको बड़ी मात्रा में उत्पन्न किया जा सकता है।
5. इनको सावधानी से रखने पर बहुत समय सुरक्षित रखा जा सकता है।

गेहूँ—अन्न में यह सर्वोत्तम माना जाता है। इसके उपयोग से मनुष्य ज्यादा बलिष्ठ और स्वस्थ रहता है।
गेहूँ में जो प्रोटीन पाया जाता है, उसको ग्लुटीन (Gluten)कहते हैं। बढ़िया गेहूँ में यह 10–14 प्रतिशत और घटिया गेहूँ में 8–9 प्रतिशत पाया जाता है। गेहूँ के अंकुर में प्रोटीन और वसा पाया जाता है। इसकी भूसी में कार्बोज भी अधिक होता है। लवण का भाग इसके छिलके या भूसी में रहता है। इसमें लोहा, फॉस्फोरस, सल्फर, सोडियम और मैग्नीशियम हैं। गेहूँ का प्रयोग विशेषकर आटा पिसवाकर या दलिया बनाकर किया जाता है। पर, आटे का प्रयोग रोटी, पावरोटी, पैस्ट्री तथा केक सभी चीजों के बनाने में किया जाता है। जब यह मिल में पिसवाया जाता है तो इसका लवण नष्ट हो जाता है। इसका दलिया सबसे उपकारी है। इसको चक्की में पीसकर इसके टुकड़े किए जाते हैं। बढ़िया आटा सफेद रहता है और उसमें किसी प्रकार की गंध नहीं होती है। बहुत दिनों तक अंधेरे तथा नमी भरे स्थान पर रखा हुआ आटा खराब हो जाता है। उसका स्वाद, उसकी गंध तो खराब होती ही है, उसकी पौष्टिकता भी कम हो जाती है। गेहूँ का ऊपरी छिलका नहीं हटाना चाहिए और न चोकर निकालना चाहिए। चोकर पेट को साफ करता है और ऊपरी छिलके में लवण रहता है। मैदे से आटा बहुत अच्छा माना गया है। आटे के दानेदार भाग को 'सुज्जी' कहा गया है। यह स्वास्थ्य के लिए अच्छा है।

गेहूँ से बनने वाले खाद्य पदार्थ—पावरोटी, बिस्कुट, केक, मेकरोनी, कचौड़ी, चपाती, रोटी, पराँठे। इसके अतिरिक्त मीठी चीजें, मिठाइयाँ बालुसाही, हलवा, सेवई, अनेक खाद्य पदार्थ बनते हैं। पावरोटी का व्यवहार पाश्चात्य देशों में अधिक होता है। यह मुलायम और हल्की होती है। स्पंजी होने के कारण इसको आसानी से चबाया जाता है। इसके बनाने में खमीर मिलाया जाता है, जिससे छिद्रित होकर यह हल्की हो जाती है। कुछ लोग खमीर के बदले इसमें सोडा मिलाते हैं। अगर आटे को गूँथकर छोड़ दिया जाए, तो उसमें वायु में जीवाणु से आपसे आप खमीरीकरण या किण्वीकरण द्वारा आटा हल्का हो जाता है। इसकी रोटी बनाने से रोटी पावरोटी की तरह नहीं, फिर भी सामान्य रोटी से बहुत हल्की होती है। ताजा रोटी ज्यादा मीठी और मुलायम होती है।

चना—चना भी अनाजों का एक मुख्य प्रकार है तथा इसका प्रयोग अनेक रूपों में किया जाता है। इसकी एक विशेषता यह है कि अनाजों की श्रेणी का सदस्य होने पर भी इसे दाल के रूप में भी प्रयोग में लाया जाता है। चने के द्वारा हमें आयरन व प्रोटीन तत्त्वों की प्राप्ति होती है। अंकुरित चने का प्रयोग शरीर को ऊर्जा व पौष्टिकता प्रदान करता है।

चावल—जहाँ धान की उत्पत्ति अधिक होती है, वहाँ के लोग चावल का अधिक उपयाग करते हैं। भारत में असम, बिहार, बंगाल, मद्रास और उड़ीसा के लोग इसका उपयोग अधिक करते हैं। भारत में चावल दो प्रकार के होते हैं—भुजिया और अरवा। चावल जो उबालकर तथा उबालने के बाद सुखाकर कुटवाया जाता है, उसे भुजिया का उसिना चावल कहते हैं पर जो धान यों ही सुखाकर कुटवाया जाता है, उसे अरवा चावल कहते हैं। उसिना चावल अधिक पौष्टिक होता है। मील का या पॉलिश किया चावल स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है क्योंकि इसकी धान्यत्वचा या भूसा निकाल लिया जाता है जिसमें प्रोटीन और लवण होता है। हाथ और ढेंकी के कुटे हुए चावल में इसकी ऊपरी परत नहीं निकलती है, इसलिए यह अधिक पौष्टिक माना गया है। चावल में प्रोटीन, वसा और खनिज द्रव्य बहुत कम मात्रा में होते हैं। इसमें कार्बोज की अधिकता रहती है। चावल का कार्बोज अधिक सुविधा से पच जाता है तथा इसका शोषण भी अच्छी तरह होता है। इसको दाल और घी के साथ खाने से प्रोटीन तथा वसा की कमी पूरी हो जाती है। बंगाल और मद्रास में इसका उपयोग मछली तथा कई स्थानों में मांस के साथ किया जाता है। चावल का मांड नहीं निकालना चाहिए। मांड निकालने से कार्बोज, लवण और विटामिन सब निकल जाते हैं और निस्सार भाग रह जाता है। इसलिए

खूब साफ धोने के बाद उतने ही जल में चावल को पकाना चाहिए, जितना वह सोखे। घुन लगा और अधिक दिनों तक रखा हुआ चावल नहीं खाना चाहिए, क्योंकि इसकी शक्ति नष्ट हो चुकी होती है। चावल को सुरक्षित रखने के लिए उसे सूखी जगह में लकड़ी पर रखना चाहिए। नमी से चावल खराब हो जाता है।

भात से अधिक सुपाच्य खिचड़ी होती है। दाल, घी, मिलाने तथा मांड नहीं निकालने से यह अधिक पौष्टिक होती है। इस कारण जिनका पाचन ठीक नहीं रहता, उन्हें तथा रोगियों को खिचड़ी दी जाती है। इसके अतिरिक्त चूरा मूढ़ी और खील धान से ही बनाया जाता है। इसमें मूढ़ी और खील चूरा से अधिक सुपाच्य हैं। चावल बहुत प्रकार के होते हैं और विविध नामों से जाने जाते हैं।

जौ (Barley)—यह पौष्टिक अन्न है। इसमें खनिज द्रव्य की मात्रा अधिक होती है। प्रोटीन भी करीब-करीब गेहूँ के बराबर है। गेहूँ की तरह इसका आटा चिकना और लसीला नहीं होता है। कारण गेहूँ की तरह इसमें ग्लूटीन नामक प्रोटीन नहीं होता है। इसमें एल्ब्युमिन, ग्लुब्युमिन और एलब्युओज रहता है। इस कारण यह रोगियों के लिए उपयुक्त है। इसकी रोटी कुछ रूखी होती है। जौ के चूर्ण को उबालकर रोगियों को दिया जाता है। जौ जब अल्प अंकुरित होता है, उसे सुखा दिया जाता है। इसको माल्टमिश्रित दूध कहते हैं। इसका उपयोग पेय पदार्थ के रूप में किया जाता है। माल्टमिश्रित जौ का उपयोग बहुत से टॉनिकों और औषधियों में किया जाता है।

जई—इसमें पौष्टिक शक्ति अधिक होती है। गेहूँ की तरह इसमें भी ग्लूटीन नहीं होता है। इसका प्रोटीन गेहूँ के प्रोटीन से अलग होता है। इसकी रोटी रूखी होती है और बेली नहीं जाती है। इसका पाचन गेहूँ और जौ से कठिन है। इसका उपयोग घोड़े के दाने में किया जाता है।

ज्वार और बाजरा—जहाँ यह अधिक पैदा होता है, वहाँ इसका उपयोग बिहार और बंगाल की अपेक्षा ज्यादा होता है। खाद्य के रूप में इसका व्यवहार गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश और कुछ अन्य प्रान्तों में होता है। गेहूँ के आटे के साथ मिलाकर इसकी रोटी अच्छी बनती है। गेहूँ और जौ से यह निम्न स्तर का है।

मकई—खाद्य के रूप में इसका व्यवहार भारत के अतिरिक्त इटली, यूरोप और अमेरिका में होता है। इसमें भी ग्लुटीन नामक प्रोटीन नहीं है। इसकी भी रोटी गेहूँ की तरह नहीं बनायी जा सकती है, पर इसमें प्रोटीन और वसा दोनों हैं। सिर्फ मकई और दूषित मकई के प्रयोग से पेलेग्रा नामक रोग होता है। मकई का शोषण आँतों में अच्छी तरह होता है। गेहूँ और जौ की रोटी का आहार करने वाले को सुस्ती कम होती है। कारण इसमें पानी का अंश कम होता है। चावल में पानी का अंश अधिक रहता है। इसलिए मूत्र त्यागने की आवश्यकता अधिक होती है। जलशोध और वात के रोगियों को इसका उपयोग कम करना चाहिए। जो मनुष्य सदा रोटी खाते हैं, उन्हें तरल पदार्थ, दूध, दाल और रेसे वाली सब्जियाँ अधिक खानी चाहिए, ताकि वे उचित मात्रा में मूत्र त्याग करें अन्यथा पेट में पथरी होने की सम्भावना रहती है।

दलहन वर्ग अथवा दालें (Pulses)

जो मनुष्य अपनी आर्थिक स्थिति के कारण दूध, मांस, मछली और पाशविक प्रोटीन का उपयोग नहीं कर पाते हैं, उनके लिए दाल अति उपयोगी है। दालों में विशेष रूप से प्रोटीन होता है। कुछ दालों में प्रोटीन 1 : 2 और कार्बोज 1 : 3 के अनुपात में होते हैं। उड़द, मसूर, अरहर, मूँग, चना, मटर का उपयोग अधिक होता है। शाकाहारी परिवारों में दालें प्रोटीन प्राप्ति का मुख्य साधन हैं। अंकुरित दालों का प्रयोग शरीर के लिए अत्यन्त लाभकारी है। दालों में वसा की कमी आती है, इसलिए इसके साथ घी का प्रयोग करना चाहिए। दाल में खनिज लवण अधिक मात्रा में पाया जाता है। मटर तथ सेम में गन्धक और अरहर, मोठ, मसूर में लोहा पाया जाता है। जिस मनुष्य को वात या गठिया हो, उसको दाल का प्रयोग कम करना चाहिए। यह पचने में भारी होती है और वायु पैदा करती है। दालों में विटामिन सी और बी अधिक होता है। साबुत दालों को अंकुरित करके खाने से विटामिन की मात्रा अधिक हो जाती है—दालों को चुनकर साफ करना चाहिए। अधिक नहीं धोना चाहिए अन्यथा इसका खनिज लवण नष्ट हो जाता है।

सोयाबीन—यह भी एक प्रकार का दलहन है। इसका उपयोग पहले चीन एवं जापान में हुआ। इन दिनों इसका प्रयोग भारतवर्ष में होने लगा है। इसका उत्पादन मध्य प्रदेश में सबसे अधिक होता है। दालों में यह सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इसमें प्रोटीन सबसे अधिक मात्रा में पाया जाता है और अन्य दालों में इसका प्रयोग उत्तम दर्जे का होता है। अन्य दालों में वसा की कमी रही है, पर इसमें 17 प्रतिशत से अधिक वसा है। गेहूँ के आटे के साथ इसका आटा मिलाकर रोटी बनाकर खायी जाती है। इस प्रकार की रोटी की पौष्टिकता और अधिक बढ़ जाती है। इसके दूध में बिस्कुट और दही इत्यादि भी बनाया जाता है। प्रोटीन की दृष्टि से एक पाव सोयाबीन, ढाई पाव मांस तथा 14 अण्डे के प्रोटीन के बराबर है।

सोयाबीन के बाद दूसरा स्थान उड़द और मोठ का आता है। इसको मांस के बाद माना गया है। इसमें जो प्रोटीन होता है, उसको लेग्युमीन या वनस्पति केसीन कहते हैं। इसमें अन्य दालों से खनिज द्रव्य (कैल्शियम, पोटेशियम और सल्फर) अधिक होते हैं।

मसूर—इसमें विटामिन बी अधिक पाया जाता है। खनिज लवण में लोहा और फास्फोरस होता है। प्रोटीन अधिक मात्रा में होता है। दालों के प्रोटीन से प्यूरीनीक और यूरिक एसिड उत्पन्न होता है इसलिए वात के रोगी को दाल अधिक नहीं खानी चाहिए। इस प्रकार दाल का स्थान खाद्य में अति आवश्यक है।

प्र.5. पशु-जगत से प्राप्त खाद्य पदार्थों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

उत्तर

पशु-जगत से प्राप्त खाद्य पदार्थ
(Food Material Obtain from Animals)

वह खाद्य पदार्थ जो हमें पशुओं द्वारा प्राप्त होते हैं, पशु-जगत से खाद्य पदार्थ कहलाते हैं। यह निम्नलिखित हैं—

1. मांस और मछली (Meat & Fish),
2. अण्डा (Egg),
3. दूध (Milk),
4. शहद (Honey)।

1. **मांस और मछली** (Meat & Fish)—यूरोप तथा अन्य ठण्डे देशों में मांस का प्रयोग नियमित भोजन के रूप में किया जाता है। हमारे भारतवर्ष में भी कुछ लोगों के द्वारा मांस का प्रयोग किया जाता है तथा पूर्वी उ०प्र० और बंगाल आदि प्रान्तों में मछली का खाद्य पदार्थ के रूप में अधिक प्रयोग किया जाता है।
   मांस समूह में लोहे की मात्रा विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण होती है। इसके अतिरिक्त फॉस्फोरस, सल्फर, पोटेशियम तथा सोडियम की मात्रा भी इस समूह में अधिक होती है। इस समूह के सभी भोज्य पदार्थों में विटामिन बी काम्पलैक्स की अच्छी मात्रा उपस्थित होती है। यकृत विटामिन ए का प्रमुख स्रोत है।
   मछली में मांस की अपेक्षा जल की मात्रा अधिक होती है तथा यह अधिक सुपाच्य होती है।
   मांसाहारी व्यक्तियों को मांस के प्रयोग में बहुत सावधानी रखनी चाहिए, क्योंकि अशुद्ध मांस का प्रयोग शरीर में विभिन्न रोग पैदा करता है। मांस हमें प्राय: बकरी, मुर्गा, भेड़, हिरन, सुअर, खरगोश आदि पशुओं से प्राप्त होता है। मांस खरीदते समय निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए—
   (i) रोगग्रस्त पशुओं का मांस दुर्गन्धयुक्त होता है।
   (ii) अच्छा मांस छूकर देखने पर सख्त व लचीला होता है।
   (iii) इसका रंग हल्का लाला होता है।
   (iv) चर्बी सफेद और कड़ी होती है।
   (v) पकाने पर सिकुड़ता नहीं है।
   (vi) पानी की सतह पर सूखा रहता है।
2. **अण्डा** (Egg)—खाने के लिए सामान्यत: मुर्गी के अण्डों का प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी बतख के अण्डे भी खाने में प्रयोग किए जाते हैं। यह एक सुपाच्य व पौष्टिक पदार्थ है।
   अण्डे की संरचना के निम्नलिखित भाग होते हैं—
   बाहरी सख्त भाग (Shell)—यह सबसे बाहरी आवरण है तथा कैल्शियम कार्बोनेट का बना होता है तथा फॉस्फोरस की भी कुछ मात्रा पायी जाती है। अन्दर भ्रूण को ऑक्सीजन प्रदान करने के लिए इस सतह पर छोटे-छोटे असंख्य छिद्र होते हैं।
   झिल्ली आवरण—शैल के नीचे झिल्ली का आवरण होता है अण्डे के चौड़े हिस्से में यह दो भागों में विभाजित हो जाता है जिसके बीच में वायु भरी रहती है।
   श्वेत भाग—यह झिल्ली आवरण के नीचे पाया जाता है। इसके अन्दर एक श्वेत रंग का पारदर्शी पदार्थ भरा रहता है।
   पीला भाग (Yolk)—अण्डे का पीला भाग सबसे अन्दर की ओर होता है। वह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और पौष्टिक होता है।
   पोषक तत्त्व—अण्डे में प्रोटीन 12%, पानी 75% तथा खनिज लवण 1% पाए जाते हैं।
   उबाल कर अथवा दूध में मथकर खाने से अण्डा बहुत लाभकारी होता है तथा शारीरिक विकास में सहायता देता है।

TOUCH 'n PASS

3. **दूध** (Milk)—पशु जगत से प्राप्त खाद्य पदार्थों में दूध एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पदार्थ है। सम्पूर्ण मानव जाति द्वारा दूध का प्रयोग किया जाता है।
स्तनधारियों की स्तन ग्रन्थि से निकलने वाला पदार्थ दूध कहलाता है। मनुष्यों में बच्चों के द्वारा माँ के दूध के ग्रहण करने के अतिरिक्त गाय, भैंस, बकरी के दूध का प्रयोग किया जाता है।
दूध की रासायनिक संरचना—दूध में निम्नलिखित पोषक तत्त्व पाए जाते हैं—
वसा—दूध में पायस (Emulsion) रूप में वसा पायी जाती है जिसकी मात्रा लगभग 3.8% होती है। यह एक सुपाच्य वसा है। दूध में पामिटिक, ओलीक, ब्यूटेरिक वसीय अम्ल पाए जाते हैं।
कार्बोहाइड्रेट—दूध में लैक्टोज नाम का कार्बोहाइड्रेट मिलता है। इसकी मात्रा 4.8 होती है। माँ के दूध में लैक्टोज की मात्रा सर्वाधिक होती है। यह एक ऊर्जा प्रदान करने वाला पदार्थ है जो पाचन क्रिया में भी सहायता देता है।
प्रोटीन—दूध में 3.5% प्रोटीन पाया जाता है। इसमें पाए जाने वाली मुख्य प्रोटीन—केसीन, लैक्टएल्बूमिन तथा लैक्टग्लोबिन हैं जिनमें नाइट्रोजन तत्त्व मुख्य रूप में मिलता है।
खनिज तत्त्व—दूध में कैल्शियम, सोडियम, फॉस्फोरस तथा आयरन आदि खनिज लवण कार्बोनेट, सल्फेट तथा क्लोराइड के रूप में मिलते हैं। कुछ मात्रा में मैग्नीशियम, आयोडीन तथा पोटेशियम भी मिलते हैं। यह तत्त्व जल में कोलाइडल अवस्था में रहते हैं तथा दूध को पौष्टिकता प्रदान करते हैं।
विटामिन तथा एन्जाइम—दूध में विटामिन A और B प्रचुर मात्रा में होते हैं तथा अल्प मात्रा में विटामिन C भी मिलता है। दूध को उबालने पर उसमें पाया जाने वाला विटामिन C प्राय: नष्ट हो जाता है।
दूध में लाइपेज, लैक्टेज तथा फॉस्फोरस नामक एन्जाइम्स मिलते हैं। अधिक समय रखा रहने पर इन्हीं के द्वारा दूध खराब हो जाता है।
जल—दूध में जल 80–90 प्रतिशत होता है तथा दूध में पाए जाने वाले अनेक पोषक तत्त्वों के लिए घोलक का कार्य करता है।
दूध के प्रकार—(i) ताजा दूध (Fresh Milk),
(ii) पाउडर दूध (Powder Milk),
(iii) वसा रहित दूध (Skimmed Milk),
(iv) गाढ़ा दूध (Condorsed Milk)।
ताजा दूध—गाय, भैंस, बकरी आदि से प्राप्त दूध ताजा दूध कहलाता है। स्वास्थ्य के लिए यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है तथा इसमें सभी पोषक तत्त्व पाए जाते हैं।
पाउडर दूध—इसे ताजे अथवा वसा रहित दूध से बनाया जाता है। इसको बनाने के लिए दूध में पायी जाने वाली सारी मात्रा सुखा दी जाती है और पाउडर को वायु रहित डिब्बों में सील बन्द कर दिया जाता है। इसका प्रयोग प्राय: किसी कारणवश माँ का दूध न पी पाने वाले बच्चों के लिए लाभकारी होता है।
वसा रहित दूध—जिस दूध से वसा को अलग कर लिया जाता है, वह वसा रहित कहलाता है। वसा रहित दूध में विटामिन की मात्रा भी बहुत कम हो जाती है। अत: स्वस्थ लोगों तथा विकास की अवस्था वाले बच्चों को इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए।
गाढ़ा दूध—पानी की मात्रा को लगभग दो-तिहाई सुखाकर गाढ़ा दूध प्राप्त किया जाता है। डिब्बों अथवा बोतलों में इनका संरक्षण करते समय इससे कुछ मात्रा में चीनी मिला दी जाती है जिससे इसमें कुछ कैलरी ऊर्जा की वृद्धि हो जाती है। आजकल प्रचलित मिल्कमेड इसी प्रकार का दूध है।

4. **शहद** (Honey)—शहद यद्यपि फूलों के पराग से बनता है किन्तु इसके बनने में मधुमक्खी का महत्त्वपूर्ण योगदान है या हम यह भी कह सकते हैं कि बिना मधुमक्खी के शहद का निर्माण नहीं हो सकता इसलिए इसे पशु प्रदत्त पदार्थ की श्रेणी में रखा जाता है। यह एक पौष्टिक पदार्थ है जो शरीर को शक्तिशाली बनाता है। इसमें कार्बोहाइड्रेट अधिक मात्रा में पाया जाता है। शहद का प्रयोग विभिन्न औषधियों के साथ किया जाता है।

इस प्रकार हमने देखा कि प्रत्येक खाद्य पदार्थ अपने पोषक तत्त्वों के अनुसार शरीर के लिए आवश्यक अथवा अनावश्यक होता है। खाद्य पदार्थों को ग्रहण करते समय व्यक्ति को अपने स्वास्थ्य, आयु तथा कार्य एवं शारीरिक क्षमताओं को ध्यान में रखना चाहिए। यदि व्यक्ति किसी रोग से पीड़ित है तो भी उसे इस बात का पता अपने चिकित्सक के द्वारा कर लेना चाहिए कि वह अपने रोग के अनुसार किन पदार्थों का सेवन कर सकता है और किन का नहीं।

प्र.6. जीवाणु की संरचना का वर्णन कजिए। इसकी लाभप्रद क्रियाओं एवं आर्थिक महत्त्व का भी उल्लेख कीजिए।

उत्तर

बैक्टीरिया (Bacteria)

ये एककोशिकीय अणुजीव हैं। इनकी कोशिका विभिन्न आकारों की होती है। जब कोशिका का आकार गोल होता है तो इन्हें कोकस (बहुवचन कोकाई) या Coccus (Plural Cocci) कहते हैं, यदि कोशिका का आकार लम्बा छड़ के समान होता है तो इन्हें बेसीलस (बहुवचन बेसीलाई) Bacillus (Plural Bacilli) कहते हैं। कुछ बैक्टीरियों का आकार मुड़ी हुई छड़ या कोमा (,) संकेत के समान होता है, इन्हें विब्रियो (Vibrio) कहते हैं तथा यदि बैक्टीरिया का आकार सर्पाकार होता है तो इन्हें स्पाइरिलम (Spirillum) कहते हैं।

इन बैक्टीरिया का गुणन (Multiplication) होने पर कुछ कोशिकाएँ तो आपस में अलग-अलग होती जाती हैं, इस पर कुछ बैक्टीरियों में कोशिकाएँ आपस में जुड़ी रहती हैं। इन बैक्टीरिया के जुड़े रहने का क्रम भी इन बैक्टीरियों में अन्तर बताता है। जैसे यदि बैक्टीरिया एक कतार में आपस में जुड़े रहते हैं तो इन्हें स्ट्रैप्टो (Strepto) कहते हैं। यदि ये बैक्टीरिया गुच्छों के रूप में जुड़े रते हैं तो इन्हें स्ट्रैफिलो (Staphylo) कहते हैं। कोकाई, बेसीलाई, विब्रियो तथा स्पांइरिलम सभी प्रकार के बैक्टीरिया स्ट्रप्टो अथवा स्टैफिलो स्थिति में हो सकते हैं तथा उसी तरह से उन बैक्टीरियों का नाम होता है; जैसे—स्ट्रैप्टो कोकाई, स्टैफिलो कोकाई, स्ट्रैप्टो बेसीलाई तथा स्टैफिलो बेसीलाई। इसके अतिरिक्त ये बैक्टीरिया दो, चार या आठ की संख्या में भी उपस्थित रहते हैं तथा उसी तरह से उनका नाम होता है।

एक बैक्टीरिया की कोशिका में निम्नलिखित रचनाएँ होती हैं—

1. कोशिका भित्ति (Cell Wall),
2. सायटोप्लास्मिक कला (Cytoplasmic Membrane),
3. कोशिका द्रव राइबोसोम्स के साथ (RNA with Ribosomes),
4. केन्द्रक क्रोमेटिन (Nuclear Chromatin DNA),
5. फ्लेजिला (Flagella) (बैक्टीरिया की गतिशीलता के लिए रोम),
6. कैप्सूल (Capsule) या आवरण।

कुछ बैक्टीरिया प्रजनन के लिए अथवा आवरणयुक्त प्रतिरोधक अवस्था ग्रहण करने के लिए बीजाणु (Spores) का निर्माण करते हैं, जो प्रतिकूल परिस्थितियों को भी सहन करने की क्षमता रखते हैं। अनुकूल परिस्थितियों में ये जीवाणु अंकुरित होकर फिर बैक्टीरिया की कोशिक का निर्माण करते हैं। भोजन के संरक्षण की विधि में स्टेरेलाइजेशन विधि के द्वारा बीजाणुओं का नाश किया जा सकता है।

बैक्टीरिया की लाभप्रद क्रियाएँ (Beneficial Activities of Bacteria)

1. **कृषि और बैक्टीरिया** (Agriculture & Bacteria)—भूमि में विभिन्न मृत प्राणियों तथा पौधों के अवशेष खाद के रूप में उपस्थित होते हैं। बैक्टीरिया इनको तोड़ (Decompose) कर पहले अमोनियम संयोगों में बदल देता है। फिर नाइट्राइट व नाइट्रेट में बदल देता है। कुछ सहजीवी बैक्टीरिया वायुमण्डल की स्वतन्त्र नाइट्रोजन को स्थिर करके भूमि में एकत्रित करते हैं। इस तरह भूमि की उर्वरा क्षमता बनी रहती है।
2. **उद्योग और बैक्टीरिया** (Industry & Bacteria)—बैक्टीरिया का विभिन्न उद्योगों में भी विशेष महत्त्व है; जैसे—
   (i) **जूट उद्योग**—जूट तथा सन के पौधों से रेशों से पृथक् करने का कार्य भी बैक्टीरिया के द्वारा ही होता है। जूट तथा सन के तनों में उपस्थित पैक्टिन पदार्थों को जलीय विघटन तथा किण्वन के द्वारा ये रेशों से पृथक् कर देते हैं।
   (ii) **डेरी उद्योग**—डेरी उद्योग में बहुत-सी क्रियाओं की आवश्यकता होती है। दूध से मक्खन, दही व पनीर बनने की क्रिया बैक्टीरिया की किण्वन (Fermentation) क्रिया पर ही आधारित है।
   (iii) **सिरका का निर्माण**—बैक्टीरिया का उपयोग निम्न गुण वाली सिरका के निर्माण में (जिसमें 5% से 10% तक ऐसीटिक एसिड होता है) किया जाता है।

(iv) **चमड़ा उद्योग**—जानवरों की मृत त्वचा का चमड़े में बदलना भी कुछ बैक्टीरिया की क्रियाओं के द्वारा ही सम्भव होता है।

(v) **तम्बाकू व चाय का उद्योग**—चाय व तम्बाकू की पत्तियों का रंग, आकार तथा सुगन्ध सुधारने की क्रिया बैक्टीरिया की किण्वन क्रिया के द्वारा ही होती है।

(vi) **औषधि उद्योग**—हमारे शरीर में रोग उत्पन्न करने वाले बैक्टीरिया जब कुछ मात्रा में कृत्रिम (Cultured) ढंग से प्रवेश कराए जाते हैं तो ये शरीर में कुछ रासायनिक पदार्थ उत्पन्न करते हैं। ये पदार्थ शरीर में उन बैक्टीरिया के विष को नष्ट कर देते हैं। आजकल वैक्सीन व सीरम का औषधि शास्त्र में प्रयोग इसी सिद्धान्त पर निर्भर करता है। इसी तरह कुछ रोगाणुनाशक औषधियाँ बैक्टीरिया की चयापचय की क्रियाओं के द्वारा प्राप्त होती हैं। इन्हें एण्टीबायोटिक्स (Antibiotics) कहते हैं। स्ट्रैप्टोमाइसिन, टैरामाइसिन, क्लोरोमायसिटिन आदि विभिन्न एण्टीबायोटिक्स के ही उदाहरण हैं।

3. **मानव का स्वास्थ्य व बैक्टीरिया** (Human Health and Bacteria)—मानव तथा अन्य जन्तुओं की आँतों में बहुत संख्या में बैक्टीरिया उपस्थित रहते हैं जो उनकी पाचन क्रिया को तीव्र कर देते हैं। ये बैक्टीरिया शरीर के लिए विटामिन बी-कॉम्पलैक्स का भी निर्माण करते हैं, जिससे शरीर की पोषक स्थिति में सुधार होता है।
4. **स्वच्छता का कार्य** (As a Cleaning Agent)—बैक्टीरिया स्वच्छता के कार्य में भी विशेष सहायक होते हैं। ये भूमि के कार्बनिक जटिल पदार्थों को गैस तथा उनके अन्य सरल तत्त्वों में परिवर्तित कर देते हैं। इस प्रकार कूड़ा-करकट व अन्य वर्ज्य पदार्थों के रूप में परिवर्तन (Sewage Disposition) में सहायता करते हैं।

बैक्टीरिया का आर्थिक महत्त्व
(Economic Importance of Bacteria)

बैक्टीरिया की कुछ जातियाँ प्राणियों तथा पौधों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण होती हैं; इस पर साथ ही कुछ जातियाँ इनके लिए बहुत घातक होती हैं। ये जातियाँ मनुष्यों, जानवरों तथा पौधों में भयानक रोग फैलाती हैं। इसके साथ ही भोज्य पदार्थों को नष्ट कर देती हैं। लाभदायक जातियाँ हमको स्वस्थ रखती हैं, पोषक तत्त्व प्रदान करती हैं, औषधि का निर्माण करती हैं तथा विभिन्न व्यवसायों में सहायक होती हैं। इस तरह बैक्टीरिया हमारे लिए मित्र व शत्रु दोनों का कार्य करते हैं।

प्र.7. खमीर की संरचना का वर्णन कीजिए। इसके लाभों एवं आर्थिक महत्त्व पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

खमीर (Yeast)

खमीर फंजाई (Fungi) समूह के अन्तर्गत आते हैं। बैक्टीरिया के समान खमीर की कुछ जातियाँ रोग उत्पन्न करती हैं तथा कुछ जातियाँ किण्वन क्रिया के कारण आर्थिक महत्त्व की होती हैं।

खमीर भी बैक्टीरिया के समान एककोशिकीय जीव होते हैं, इस पर इनकी कोशिका की रचना, आकार व कोशिकाओं के व्यवस्थित होने के ढंग में विभिन्नता होती है। यीस्ट की कोशिकाएँ अधिकतर अण्डाकार या दीर्घ वृत्ताकार होती हैं। इनमें फ्लेजिला की उपस्थिति नहीं होती है। अत: यीस्ट की कोई कोशिका गतिशील नहीं होती है। परिपक्व यीस्ट की कोशिका में वेक्योल्स (Vacuoles) की उपस्थिति होती है। कोशिका में एक स्पष्ट न्यूक्लियस या केन्द्रक (Nucleus) होता है।

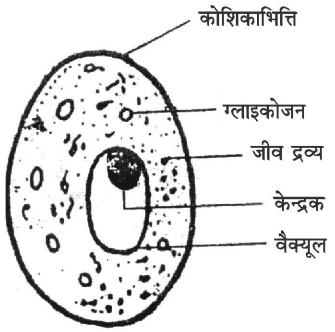

चित्र : खमीर की संरचना

खमीर के चारों ओर मोटी दीवार उपस्थिति रहती है बीच में जीवद्रव्य भरा रहता है इसमें छोटे-छोटे कण उपस्थित रहते हैं जो कि ग्लाइकोजन के कण हैं। बीच में गोल स्थान दिखायी देता है जिसे केन्द्रक वैक्यूल (Nucleus Vacuole) कहते हैं। इसी वैक्यूल द्वारा इसे जीवाणु से भिन्न रूप से पहचाना जाता है। वैक्यूल में केन्द्रक उपस्थित रहता है। खमीर में एक अथवा अधिक वैक्यूल पाए जा सकते हैं।

खमीर में फ्लेजेला नहीं पाए जाते तथा गतिशील नहीं होती है। यह केवल नम वातावरण में जीवित रहती है। किन्तु इसे बैक्टीरिया की अपेक्षा कम तथा फंजाई की अपेक्षा अधिक नमी चाहिए। यह 25°C–39°C ताप पर तेजी से बढ़ती है जो कि आदर्श तापक्रम है। 35°C–36°C तापक्रम पर नष्ट हो जाती है। खमीर अम्लीय माध्यम में आसानी से उगती है।

यीस्ट कोशिका में नई कोशिकाओं का निर्माण अधिकतर मुकुलन या बडिंग (Budding) विधि से होता है। नई कोशिकाएँ पहले छोटी होती हैं, इसके बाद में विकसित होकर वह भी बडिंग (Budding) करना प्रारम्भ कर देती हैं। इसके अतिरिक्त इनका जनन गुणन-विभाजन की विधि से भी होता है। ये कोशिकाएँ मिलकर तथा जाइगोट कोशिका बनाकर एस्कोस्पोर का निर्माण करती हैं, जो अनुकूल परिस्थितियों में वृद्धि करके नयी कोशिकाओं का निर्माण करते हैं।

लाभप्रद क्रियाएँ (Beneficial Activities)

1. **एल्कोहल युक्त पेय पदार्थों में उपयोग**—जब यीस्ट शर्करा के घोल; जैसे—अंगूर के रस, खजूर के रस आदि में प्रवेश कराया जाता है या उगता है तो यीस्ट का जायसमेज एन्जाइम किण्वन (Fermentation) की क्रिया प्रारम्भ कर देता है। इस क्रिया में ग्लूकोज तथा अन्य शर्कराएँ टूट (Decompose) हो जाती हैं तथा एल्कोहल व कार्बन डाइ-ऑक्साइड मुख्य रूप से बनते हैं, परन्तु इस क्रिया के समय ऑक्सीजन अनुपस्थित होनी चाहिए। ऑक्सीजन की उपस्थिति में एल्कोहल की कम मात्रा बनती है।
   इस क्रिया से अंकुरित जौ (Barley) से बीयर (Beer) शराब बनायी जाती है। जौ को पानी में भिगोकर उचित ताप पर अंकुरित करते हैं। जौ का स्टार्च डायस्टेज तथा माल्टेज एन्जाइम की सहायता से सरल शर्करा में परिवर्तित हो जाता है। इस सरल शर्करा पर यीस्ट क्रिया करके एल्कोहल का निर्माण करते हैं। अंगूर के रस से ब्राण्डी तथा खजूर के रस से ताड़ी (Toddy) खमीर की क्रिया के द्वारा ही बनायी जाती है।
   यदि किण्वन की क्रिया के समय ऑक्सीजन की उपस्थिति होती है तो ऐसीटिक एसिड व ग्लिसरीन का निर्माण होता है। अत: सिरका व ग्लिसरॉल भी यीस्ट की क्रिया के द्वारा प्राप्त किए जाते हैं।
   यीस्ट की क्रिया से स्प्रिट युक्त पेय पदार्थ भी निर्मित किए जाते हैं। ह्विस्की, रम, जिन आदि निर्माण में यीस्ट का उपयोग होता है। व्यापारिक रीति से कुछ स्प्रिट बनाने में भी यीस्ट का उपयोग किया जाता है।
2. **डबल रोटी बनाने में उपयोग**—डबल रोटी बनाने में यीस्ट का उपयोग प्रमुख रूप से किया जाता है। यीस्ट को मैदे के साथ गूँथकर रोटी की लोई के रूप में रख दिया जाता है। यीस्ट मैदे के स्टार्च के साथ क्रिया करके एल्कोहल व कार्बन डाइ-ऑक्साइड का निर्माण करते हैं। जब रोटी भट्टी में पकती है तो यह गैस गरम होकर रोटी से बाहर निकल जाती है तथा रोटी को छिद्रयुक्त, हल्की व स्पंजी बना देती है। गरम करने की क्रिया के दौरान एल्कोहल नष्ट हो जाता है।
3. **पोषक महत्त्व**—खमीर का अपना पोषक महत्त्व भी है। इसमें प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेट, एन्जाइम तथा विटामिन बी-कॉम्पलैक्स की उपस्थिति होती है। विटामिन बी-कॉम्पलैक्स का विशेष रूप से यह प्रमुख साधन है। सूखी यीस्ट का प्रयाग इसकी हीनता को दूर करने के लिए किया जाता है। इसके अतिरिक्त भोजन को आसानी से पचाने में भी यीस्ट सहायक होता है।

यीस्ट या खमीर का आर्थिक महत्त्व (Economic Importance of Yeast)

यीस्ट उन भोज्य पदार्थों में तीव्र गति से वृद्धि करते हैं, जो शर्करा युक्त होते हैं; जैसे—गन्ने का रस, अंगूर का रस, फलों के रस, ताड़ी (Toddy) तथा पुष्प मकरन्द आदि। यीस्ट इन भोज्य पदार्थों की शर्करा को किण्वन के द्वारा एल्कोहल में परिवर्तित कर देता है। यह क्रिया यीस्ट में उपस्थित एक एन्जाइम के द्वारा होती है जिसे जायमेज कहते हैं। खमीर की कुछ जातियाँ मृतोपजीवी तथा कुछ जातियाँ परजीवी होती हैं।

❐

UNIT-IV

भोजन पकाने की विधियाँ
Cooking Methods

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. भोजन पकाने के कोई दो उद्देश्य लिखिए।

उत्तर 1. भोजन को कीटाणु रहित बनाना।
2. भोजन को स्वादिष्ट व आकर्षक बनाना।

प्र.2. तलने की किसी एक विधि को संक्षेप में लिखिए।

उत्तर तलने की गहरी विधि में कढ़ाई में इतना घी या तेल डाला जाता है कि वस्तुएँ उसमें डूब जाती हैं और तली में नहीं लगने पाती। धीमी-धीमी आँच में तलने से वस्तु का बाहरी भाग लाल या गुलाबी तथा कुछ सख्त हो जाता है। अन्दर का भाग मुलायम रहता है। पूड़ी, कचौड़ी, पकौड़ी, समोसे, गुलाब जामुन, इमरती, जलेबी आदि इसी प्रकार बनाए जाते हैं। तली हुई वस्तुएँ स्वादिष्ट तो बहुत होती हैं परन्तु गरिष्ठ हो जाती हैं, अतः इनका प्रयोग कभी-कभी ही करना चाहिए।

प्र.3. भोजन पकाते समय बरतने वाली दो सावधानियों को बताइए।

उत्तर 1. भोजन को ढँककर पकाना चाहिए। पकाते समय भोजन खुला छोड़ने पर भोजन के जल में घुलनशील तत्त्व जल के साथ वाष्पीकृत हो जाते हैं तथा भोजन की सुगन्ध भी कम हो जाती है।
2. भोजन पकाते समय व्यक्ति को अपने शरीर की सफाई, बर्तन व झाड़न की सफाई तथा भोज्य पदार्थ की सफाई पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

प्र.4. भोजन पकाने की सर्वोत्तम विधि कौन-सी है?

उत्तर जल द्वारा भोजन पकाने की सर्वोत्तम विधि है।

प्र.5. भोज्य पदार्थों में पौष्टिकता को बढ़ाने के लिए विभिन्न विधियाँ कौन-कौन सी हैं?

उत्तर भोज्य पदार्थों की पौष्टिकता को निम्न विधियों द्वारा बढ़ाया जा सकता है—
1. अंकुरीकरण, 2. खमीरीकरण, 3. स्थानापन्न, 4. भोज्य पदार्थों का मिश्रित उपयोग, 5. फोर्टीफिकेशन एवं समृद्धि।

प्र.6. इडली बनाने की प्रक्रिया समझाइए।

उत्तर दक्षिण भारत का लोकप्रिय भोजन आज सम्पूर्ण भारत में अपनी प्रसिद्धि बना चुका है। इसमें चावल, उड़द की दाल 2 : 1 को भिगोकर अच्छी तरह पीस लिया जाता है फिर दोनों को अच्छी तरह मिलाकर स्वाद के अनुसार नमक डालकर 12-18 घण्टे खमीरीकृत होने के लिए रख दिया जाता है। इससे यह मिश्रण फूल जाता है तथा इसे नारियल की चटनी व सांभर के साथ परोसकर खाया जाता है।

प्र.7. डबल रोटी बनाने की प्रक्रिया लिखिए।

उत्तर डबलरोटी बनाने के लिए यीस्ट का उपयोग सम्पूर्ण विश्व में किया जाता है। डबलरोटी का आटा गूँथते समय उसमें यीस्ट घोलकर मिला दिया जाता है। डबलरोटी के मिश्रण में उपस्थित शर्करा का यीस्ट उपयोग होता है फिर जाइमेज एन्जाइम के द्वारा स्टार्च को डेक्सट्रीन, माल्टोज और फिर ग्लूकोज में बदल देता है अन्त में इसी ग्लूकोज का उपयोग कर यीस्ट कार्बन डाइ-ऑक्साइड, गैस, पानी व ऐल्कोहॉल बनाता है जिससे मिश्रण फूल जाता है। इसी फूले हुए आटे के मिश्रण को भट्टी में बेक कर डबलरोटी तैयार की जाती है।
अधिकांश व्यक्ति ऐसा भोजन लेना पसन्द करते हैं जिसमें वसा की मात्रा कम हो, ज्यादा पौष्टिक हो तथा आसानी से पच जाता हो।

प्र.8. ढोकला बनाने की प्रक्रिया बताइए।

उत्तर यह चावल व चने की दाल के खमीरीकरण से बनने वाला पदार्थ है। यह विशेषकर गुजरात में काफी लोकप्रिय है। खमीरीकृत घोल को थालियों में भाप के द्वारा पका लिया जाता है फिर डायमण्ड कट पीस में काटकर, राई, हरी मिर्च, करीपत्ता, तेल एवं पानी से इसे तड़का लगा दिया जाता है। इसके बाद में घिसी हुई गिरी से सजाकर परोसते हैं।

प्र.9. स्थानापन्न से क्या तात्पर्य है?

उत्तर स्थानापन्न से तात्पर्य है कि एक भोज्य पदार्थ को उसका रूप बदलकर दूसरे रूप में भोजन की तरह ग्रहण करना साथ ही इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि भोज्य पदार्थ में उपस्थित पौष्टिक तत्त्वों की हानि न हो। यह भोज्य पदार्थ चाहे आंशिक रूप से बदला जाए या पूर्ण रूप से।

उदाहरण—1. दूध के स्थान पर मट्ठा व दही का सेवन करना।

2. सादा मटर पुलाव के स्थान पर मटर पनीर या मिक्स्ड वेजीटेबिल पुलाव का सेवन करना।

जब प्राकृतिक भोज्य पदार्थ को उसी के दूसरे रूप में (Manufactured Foods) में स्थानापन्न किया जाता है तब इस भोज्य पदार्थ के दूसरे रूप में कुछ पोषक तत्त्व मिला दिए जाते हैं जिससे उसके पोषक मूल्य कम-से-कम प्राकृतिक भोज्य पदार्थ के पोषक मूल्य के बराबर हो सकें।

प्र.10. पूरकता किसे कहते हैं?

उत्तर प्राय: देखा गया है कि भोज्य पदार्थ में एक या एक से अधिक पोषक तत्त्व की कमी होती है। इस कमी को पूरा करने के लिए ऐसे भोज्य पदार्थों का इस्तेमाल किया जाता है जिनमें उन पोषक तत्त्वों की अधिकता होती है जिससे उन दोनों भोज्य पदार्थों को साथ लेने से आवश्यक वह सभी पौष्टिक तत्त्व प्राप्त हो जाते हैं; जैसे—अनाजों (Cereals) में लायसिन (Lysine) एवं थ्रियोनिन (Threonine) की कमी पायी जाती है जबकि दालों में इसकी अधिकता होती है। इसी तरह से दालों में मिथियोनिक (Methonine) अमीनो अम्ल की भी कमी होती है तथा अनाजों में इसकी अधिकता होती है। इसलिए रोटी को दाल के साथ एवं चावल को भी दाल के साथ खाने से सभी अमीनो अम्लों की पूर्ति की जाती है तथा प्रोटीन उच्च गुणवत्ता का हो जाता है। अत: यह दोनों आपस में एक-दूसरे के पूरक कहलाते हैं और इसी को पूरकता (Supplementation) कहते हैं।

प्र.11. दूध पूरकता का उदाहरण बताइए।

उत्तर दूध पूरकता का सबसे प्रमुख उदाहरण है तथा दूध को छोटे बच्चों का एक पूरक आहार कहा जाता है, क्योंकि इसमें बच्चे की वृद्धि के लिए आवश्यक सभी पोषक तत्त्व विद्यमान रहते हैं इसलिए दूध को अनाज या अन्य पदार्थों के साथ मिलाकर देने में उन पदार्थों की पौष्टिकता भी बढ़ जाती है।

प्र.12. सम्पन्नता का क्या अर्थ है?

उत्तर सम्पन्नता का अर्थ है कि केवल उन्हीं भोज्य पदार्थों को पोषक तत्त्वों से सम्पन्न किया जाता है जिनके पोषक तत्त्व उन भोज्य पदार्थों की प्रोसेसिंग के समय नष्ट हो जाते हैं या कम हो जाते हैं। भोज्य पदार्थों को सम्पन्न बनाने में उतनी ही मात्रा में पोषक तत्त्व मिलाया जाता है जिससे कि प्रोसेसिंग के बाद भोज्य पदार्थों में पोषक तत्त्वों की मात्रा प्राकृतिक रूप के समकक्ष हो जाए।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. पकाने से भोजन के रूप, रंग व गन्ध पर क्या प्रभाव पड़ता है?

उत्तर

पकाने पर भोजन के रंग, रूप व गन्ध पर प्रभाव
(Effect of Cooking on Colour, Form and Smell of Food)

1. **रंग**—भोज्य पदार्थ पकाने पर उसमें उपस्थित प्राकृतिक रंग प्रभावित होते हैं। भोज्य पदार्थ में मुख्यत: चार प्राकृतिक रंग होते हैं—
   (i) **क्लोरोफिल**—यह हरे रंग का पदार्थ है जो हरी पत्तीदार सब्जियों और फलों में पाया जाता है; जैसे—पालक, मैथी, पुदीना व चौलाई आदि। भोजन पकाने से ताप का क्लोरोफिल पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, इस पर माध्यम अम्लीय व क्षारीय होने से यह अवश्य प्रभावित होता है। अम्लीय माध्यम में पकाने पर भोज्य पदार्थ में पीलापन आ जाता है तथा क्षारीय माध्यम में क्लोरोफिल का हरा रंग और भी उभरकर आता है।

(ii) **कैरोटीन**—यह पीले रंग का पदार्थ है जो पीली, नारंगी व हरी सब्जियों में पाया जाता है। इस रंग पर ताप, अम्लीय या क्षारीय माध्यम से कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(iii) **एन्थोसाइनिन**—यह लाल, जामुनी रंग का पदार्थ है जो मुख्यत: चुकन्दर, जामुन व काली गाजर आदि में पाया जाता है। ताप से यह अप्रभावित रहता है, पर अम्लीय माध्यम में यह हल्के लाल रंग का तथा क्षारीय माध्यम में यह नीला हो जाता है।

(iv) **फ्लेवोन्स**—यह सफेद रंग की सब्जियों; जैसे—आलू, गोभी व प्याज में पाया जाता है। ताप व अम्लीय वातावरण से तो यह अप्रभावित रहता है किन्तु क्षारीय वातावरण में यह पीला रंग ग्रहण कर लेता है।

चीनी को अधिक गर्म करने पर वह सुनहरी, फिर कत्थई तथा अधिक गर्म करने पर काली हो जाती है। इस विशेष क्रिया को **कैरामलाइजेशन** (Caramalization) कहते हैं।

2. **टैक्सचर**—भोजन पकाने से उसमें उपस्थित सैल्यूलोज मुलायम व नरम हो जाता है। अब यह अधिक सुपाच्य हो जाता है। पकाने की क्रिया में स्टार्च के कण फूट जाते हैं जिससे स्टार्च युक्त खाद्य पदार्थ में परिवर्तन आ जाता है। ऐसा भोजन ढीला (Mashed) हो जाता है; जैसे—आलू, शकरकन्दी, चावल व साबूदाना। प्रोटीनयुक्त पदार्थों को पकाने में उसकी प्रोटीन जम जाती है; जैसे—अण्डा, माँस, मछली आदि।
3. **गंध**—कुछ भोज्य पदार्थों की अवांछनीय गंध भोजन पकने से नष्ट हो जाती है; जैसे—मछली, प्याज व शलजम आदि। कुछ भोज्य पदार्थ पकने पर और अधिक सुगन्धित हो जाते हैं। भोजन की गंध भोजन पकाने की क्रिया से विशेष रूप से प्रभावित होती है। भोजन को जल द्वारा पकाने की अपेक्षा वसा व हवा द्वारा पकाना उसे अधिक सुगन्धित बनाता है। भोजन को तलने व भूनने से भोजन में विशेष सुगन्ध आ जाती है। भाप द्वारा पकाने में कुछ अवांछनीय गन्ध कम हो जाती है। जल द्वारा भोजन पकाने में कुछ पोषण तत्त्व जल में भी आ जाते हैं जिससे भोजन का रसा भी रंग युक्त व स्वादिष्ट हो जाता है तथा उसमें गाढ़ापन आ जाता है; जैसे—प्याज, टमाटर, चुकन्दर, पालक व आलू आदि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भोजन पकाने पर उसमें रूप, रंग व गंध में परिवर्तन आ जाते हैं। भोज्य पदार्थ में आने वाले विभिन्न परिवर्तन भोज्य पदार्थ पकाने की विधियों पर निर्भर करते हैं। अत: इन सब बातों को देखते हुए हमें उचित तरीकों से भोजन पकाना चाहिए ताकि वह सुपाच्य, स्वादिष्ट, आकर्षक व पौष्टिक हो।

प्र.2. भोजन पकाने से पोषक तत्त्वों पर पड़ने वाले प्रभाव बताइए।

उत्तर भोजन पकाने का पोषक तत्त्वों पर प्रभाव निम्न प्रकार हैं—

कार्बोहाइड्रेट—भोजन में उपस्थित स्टार्च उचित पाचन के लिए भोजन को पकाना आवश्यक है। गीले स्टार्च के पकने से स्टार्च कण फूटकर फट जाते हैं तथा उनका जिलेटनीकरण हो जाता है। पका हुआ स्टार्च कच्चे स्टार्च की अपेक्षा जल्दी पच जाता है। वनस्पति कोशिकाओं की बाहरी दीवार भी पकाने की क्रिया में टूट जाती है जिससे अन्दर के तत्त्व आसानी से पच जाते हैं।

वसा—भोजन पकाने से वसा के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। बहुत अधिक ताप पर बहुत देर तक वसा गर्म करने से वसा के फैटी एसिड विभक्त हो जाते हैं जो स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालते हैं।

प्रोटीन—पकाने की क्रिया से प्रोटीन जमकर सिकुड़ जाती है। हल्की पकी हुई प्रोटीन कच्ची प्रोटीन की अपेक्षा जल्दी पच जाती है; पर भोजन के अधिक पकाने से जैसे अधिक भूनने व तलने की क्रिया में प्रोटीन का पोषण महत्त्व कम हो जाता है। पकाने की क्रिया से दालों की प्रोटीन का पोषक मूल्य बढ़ जाता है।

विटामिन्स

विटामिन 'ए' व कैरोटीन—विटामिन 'ए' व कैरोटीन के जल में अघुलनशील होने के कारण ये तत्त्व भोजन के जल में नहीं आ पाते तथा यह जल फेंकने पर विटामिन 'ए' की कोई हानि नहीं होती है। तलने या भूनने की क्रिया में सब्जियों में काफी मात्रा में विटामिन व कैरोटीन का Loss हो जाता है।

थायमिन—भोजन को पकाते समय कुछ थायमिन से विभक्तिकरण के कारण थायमिन की हानि होती है। थायमिन पानी में घुलनशील होने के कारण भोजन के पानी में आ जाता है। यदि यह पानी फेंक दिया जाता है तो थायमिन की हानि होती है। यदि चना या राजमा पकाते हुए खाने का सोडा प्रयोग किया जाता है तो भोज्य पदार्थ में उपस्थित सारा थायमिन नष्ट हो जाता है। उबालने की अपेक्षा स्टीमिंग में सबसे कम नुकसान होता है।

राइबोफ्लेविन—खाना पकाते समय तेज प्रकाश के सम्पर्क में आने पर भोजन का राइबोफ्लेविन नष्ट हो जाता है। ऊष्मा तथा क्षार की क्रिया से भी राइबोफ्लेविन नष्ट हो जाता है। राइबोफ्लेविन भी जल में घुलनशील होने के कारण भोजन के जल में आ जाता है जिसे फेंक देने पर राइबोफ्लेवन की हानि होती है। सोडा का प्रयोग करने पर भी यह नष्ट हो जाता है।

खनिज तत्त्व

पके भोजन का पानी फेंक देने से कैल्सियम, फास्फोरस, लोहा, सोडियम, पोटेशियम, मैंग्नीशियम आदि विभिन्न खनिज तत्त्वों की हानि होती है। भोज्य-पदार्थों को कठोर पानी (Hard Water) में पकाने से पानी का कैल्सियम भोजन में आ जाता है। इसी तरह भोजन को लोहे के चाकू से काटने या लोहे के बर्तन में पकाने से भोजन में लोहे की मात्रा बढ़ जाती है। भोजन में नमक का प्रयोग उसमें सोडियम की मात्रा बढ़ा देता है।

प्र.3. भोजन पकाते समय क्या-क्या सावधानियाँ बरतनी चाहिए? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर हम भोजन को अधिक स्वादिष्ट बनाने के लिए अनेक पाक-विधियों का प्रयोग करके भोजन पकाते हैं। लेकिन भोजन पकाते समय यह भी देखना आवश्यक है कि भोजन स्वादिष्ट बनने के साथ-साथ उसके पोषक मूल्य में कमी न आए। अत: हमें भोजन पकाते समय निम्नलिखित सावधानियाँ बरतनी चाहिए—

1. सब्जियों को जहाँ तक सम्भव हो छिलके सहित ही पकाना चाहिए। छिलके सहित पकाने से भोज्य तत्त्वों की हानि कम होती है।
2. विभिन्न सब्जियों, विशेष रूप से हरी पत्ती वाली सब्जियों को धोकर फिर काटना चाहिए। काटकर धोने से कई भोज्य तत्त्व नष्ट हो जाते हैं।
3. सब्जियों को बहुत छोटे-छोटे टुकड़ों में नहीं काटना चाहिए। बहुत छोटे आकार के टुकड़ों से भी भोज्य तत्त्वों की हानि अधिक होती है।
4. भोज्य पदार्थों को बहुत अधिक समय तक पानी में नहीं भिगोना चाहिए तथा भीगे हुए भोजन के पानी को नहीं फेंकना चाहिए बल्कि भोजन को पकाने में प्रयोग कर लेना चाहिए।
5. भोजन पकाने में प्रयोग किए गए पानी को फेंकना नहीं चाहिए। पानी में भोजन के कई तत्त्व आ जाते हैं। पानी फेंकने से भोज्य तत्त्वों की हानि होती है।
6. भोज्य पदार्थों को बहुत अधिक समय तक नहीं पकाना चाहिए। बहुत अधिक समय तक पकाने से भोजन के पोषक तत्त्व नष्ट हो जाते हैं। अत: भोजन को उस समय तक ही पकाया जाए जितना कि उसके वांछित गलने के लिए आवश्यक है।
7. भोजन को ढँककर पकाना चाहिए। पकाते समय भोजन खुला छोड़ने पर भोजन के जल में घुलनशील तत्त्व जल के साथ वाष्पीकृत हो जाते हैं तथा भोजन की सुगन्ध भी कम हो जाती है।
8. खाने के सोडे का प्रयोग कुछ बड़े भोज्य पदार्थ; जैसे—चना या राजमा आदि को गलाने के लिए किया जाता है, पर खाने का सोडा प्रयोग करने से भोज्य पदार्थों का विटामिन 'बी' काम्पलेक्स नष्ट हो जाता है। अत: खाने के सोडे का प्रयोग नहीं करना चाहिए।
9. भोजन को बार-बार गर्म नहीं करना चाहिए। बार-बार गर्म करने से भी भोजन के तत्त्व नष्ट हो जाते हैं।
10. भोजन में घी, तेल तथा मिर्च-मसाले का अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिए। ये पदार्थ भोजन के प्राकृतिक स्वाद को नष्ट कर देते हैं।
11. प्रोटीन युक्त पदार्थों; जैसे—अण्डा, माँस, मछली, पनीर आदि को धीमी आग पर पकाना चाहिए अन्यथा ये पदार्थ कड़े हो जाएँगे।
12. भोजन पकाते समय व्यक्ति को अपने शरीर की सफाई, बर्तन व झाड़न की सफाई तथा भोज्य पदार्थ की सफाई पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

प्र.4. प्रेशर कुकर के सिद्धान्त को समझाइए।

उत्तर

प्रेशर कुकर का सिद्धान्त
(Theory of Pressure Cooker)

प्रेशर कुकर एक भगोने के समान धातु का बना बर्तन होता है। जिसमें ढक्कन उसमें पूरी तरह फिट हो जाता है जिससे बर्तन ढँकने पर वाष्प किनारे से न निकल सके। भोजन को पकाने के लिए बर्तन में नीचे पानी डालकर रख दिया जाता है तथा कुकर की जाली के ऊपर कुकर के पेन में वांछित भोजन रख दिया जाता है। कुकर को ढँककर आग पर रखने से पानी की वाष्प बननी शुरू होती है

जो कि ढक्कन बन्द होने के कारण बाहर नहीं निकल पाती है। जैसे-जैसे वाष्प की मात्रा बढ़ती जाती है, उसका दबाव बढ़ता जाता है जिससे पानी के उबलने का तापक्रम बढ़ता जाता है। बहुत अधिक दबाव बढ़ने पर अतिरिक्त वाष्प की मात्रा कुकर के ढक्कन में लगे वेट वाल्व के द्वारा बाहर निकल जाती है। इसे ही सीटी बजना कहते हैं। कभी-कभी वेट वाल्व के ठीक कार्य न कर पाने के कारण अतिरिक्त वाष्प नहीं निकल पाती है। इस स्थिति में दबाव व ताप बढ़ने के कारण ढक्कन में ही एक किनारे लगा सेफ्टी वाल्व गल जाता है व उसके द्वारा भाप बाहर निकल जाती है। यदि वेट वाल्व व सेफ्टी वाल्व दोनों ही कार्य न करें, उस स्थिति में दबाव बढ़ने के कारण कुकर फट जाता है। यह स्थिति खतरनाक होती है। अत: इन दोनों वाल्वों का ठीक तरह कार्य करना आवश्यक है।

इस विधि से भोजन बहुत कम समय में ही पककर तैयार हो जाता है तथा परिश्रम व ईंधन दोनों ही कम खर्च होते हैं। भोजन ढँककर पकाने के कारण भोजन के तत्त्व नष्ट नहीं होते हैं। एक साथ ही दो या दो से अधिक भोजन पककर तैयार हो जाते हैं तथा भोजन स्वादिष्ट पकता है। प्रत्येक भोज्य पदार्थ के पकने का एक निश्चित समय होता है। कड़े भोजन का समय 20 से 30 मिनट तथा मुलायम भोजन कम-से-कम 2-3 मिनट में पक्कर तैयार हो जाता है।

प्र.5. खमीरीकरण के लाभ बताइए।

उत्तर

खमीरीकरण के लाभ (Advantages of Fermentation)

1. **पोषक तत्त्वों के जैविक मूल्यों** (Biological Value) **में वृद्धि**—खमीरीकरण के द्वारा आवश्यक अमीनो एसिड (Essential Amino Acids) की उपलब्धता बढ़ जाती है विशेषकर दालों एवं फलियों के खमीरीकरण से। प्रोटीन का पोषण मूल्य बढ़ जाता है। यीस्ट को विटामिन-बी-कॉम्प्लेक्स का बहुत बड़ा स्रोत माना जाता है, खमीरीकरण के बाद मुख्यत: राइबोफ्लेविन (Riboflavin), नियासिन (Niacin), थायमिन (Thiamin) की मात्रा बढ़ जाती है।
2. **भोज्य पदार्थों का सुपाच्य हो जाना**—खमीरीकरण के उपरान्त पदार्थ बहुत ही नर्म एवं स्पंजी हो जाते हैं तथा वजन में हल्के होने के कारण पाचन में बहुत आसान हो जाते हैं तथा शीघ्र पच जाते हैं।
3. **भोज्य पदार्थ को रुचिकर एवं स्वादिष्ट बनाना**—खमीरीकरण से भोज्य पदार्थों की अम्लीयता बढ़ जाती है जिससे विशेष प्रकार का खट्टा स्वाद उसमें आ जाता है और भोजन अधिक स्वादिष्ट लगने लगता है।
4. **भोज्य पदार्थों के आयतन में वृद्धि**—खमीरीकरण से उत्पन्न गैसें भोज्य पदार्थों का आयतन बढ़ा देती हैं। गैस का निर्माण जितना अधिक होगा आयतन में वृद्धि भी उतनी ही अधिक होगी।
5. **भोज्य पदार्थों के संरक्षण में** (Preservation)—खमीरीकरण की क्रिया के उपरान्त जो रासायनिक सरल पदार्थ बचते हैं, जैसे लेक्टिक अम्ल (Lactic Acid) तथा ऐल्कोहॉल (Alcohol) वह भोज्य पदार्थों के संरक्षण में काम करते हैं। इनके द्वारा भोजन में उपस्थित हानिकारक जीवाणुओं की वृद्धि रुक जाती है जिससे भोज्य पदार्थ खराब होने से बच जाता है; जैसे—क्लोस्ट्रिडियम बोटुलिनियम (Clostridium Botulinium) लेक्टिक एसिड एवं ऐल्कोहॉल की उपस्थिति के विषैले पदार्थ (Toxins) उत्पन्न नहीं करता है।
6. **विटामिन्स बनाने वाली फैक्ट्रियों में** (Industrial Production of Some Vitamins)—खमीरीकरण की क्रिया के बाद भोज्य पदार्थों में विटामिन 'बी' कॉम्प्लेक्स की मात्रा काफी बढ़ जाती है। खमीरीकरण को इसी गुण का विटामिन्स बनाने वाली फैक्ट्रियाँ उपयोग में लाती हैं।

प्र.6. अनाजों पर आधारित प्रोटीन सम्पूरित पदार्थों का नाम तथा संगठन लिखिए।

उत्तर

अनाजों पर आधारित प्रोटीन सम्पूरित पदार्थ (Protein Completed Material based on Cereals)

छोटे शिशुओं तथा बच्चों के लिए विभिन्न प्रकार के प्रोटीन सम्पूरित पदार्थ विकसित किए गए हैं। इन्हें विटामिन व खनिज तत्त्वों से दृढ़ (Fortify) भी किया गया है। यदि ये पदार्थ शिशुओं व बच्चों को इतनी मात्रा में दिए जाएँ कि इनसे 20 ग्राम अतिरिक्त प्रोटीन प्रतिदिन प्राप्त हो तो ये आहार की सम्पूर्ण कमियों को ठीक करने के साथ-साथ वृद्धि में भी सहायक होते हैं। इनका विवरण निम्न तालिका में दिया जा रहा है—

क्र०सं०	पदार्थ	संगठन	प्रोटीन प्रतिशत
1.	माल्ट फूड	अनाज का माल्ट, मूँगफली व चने का आटा, स्कीम मिल्क पाउडर, कैल्सियम व विटामिन	31.9
2.	सम्पूरित मैकरोनी	गेहूँ, कसाबा, मूँगफली व चने का आटा, कैल्सियम व विटामिन	18.0

3.	न्यूट्रो मैकरोनी	गेहूँ व मूँगफली का आटा, कैल्सियम व विटामिन	19.3
4.	न्यूट्रो बिस्कुट	गेहूँ का आटा, मूँगफली के प्रोटीन, मूँगफली, कैल्सियम व विटामिन	16.5
5.	बाल आहार	अनाज का आटा, मूँगफली, सोयाबीन, कॉटन-सीड व चने का आटा, कैल्सियम व विटामिन	12.5

प्र.7. सम्पूरित आहार पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर

सम्पूरित आहार (Completed Food)

1. **इण्डियन मल्टीपर्पस फूड** (M.P.F.)—यह C. F. T. R. I. मैसूर के द्वारा निर्मित किया गया पदार्थ है। इसमें 75 प्रतिशत कम वसा वाला मूँगफली का आटा व 25 प्रतिशत चने का आटा मिलाया जाता है तथा इसे विटामिन A, B, B_1, B_2 तथा कैल्सियम कार्बोनेट से दृढ़ किया जाता है। इसमें 42 प्रतिशत प्रोटीन पाया जाता है। 25 ग्राम प्रतिदिन M. P. F. का प्रयोग करने पर 10 ग्राम प्रोटीन व दैनिक आवश्यकताओं का आधार विटामिन 'ए' कैल्सियम व राइबोफ्लेविन प्राप्त हो जाता है।
2. **सप्लीमेंटरी फूड**—यह श्री अविनाश लिंगम होम साइन्स कॉलेज फोर वूमेन के द्वारा तैयार किया गया पदार्थ है। इसमें 30 भाग चुने हुए मक्के का आटा, 20 भाग मूँग की दाल का आटा, 10 भाग भुनी हुई मूँगफली का आटा व 20 भाग गुड़ मिलाया जाता है। इसमें 14.4 प्रतिशत प्रोटीन प्राप्त होता है। प्रतिदिन 80 ग्राम देने पर 11.5 प्रोटीन तथा 305 कैलोरी प्राप्त होती है।
3. **बाल आहार** (Bal Ahar)—यह भी C.F.T.R.I. मैसूर के द्वारा निर्मित पदार्थ है। इसमें 70 प्रतिशत सम्पूर्ण गेहूँ का आटा, 20 प्रतिशत मूँगफली का आटा व 10 प्रतिशत भुने चने का आटा होता है। इसे कैल्सियम लवणों का विटामिन से दृढ़ किया जाता है। इसमें 20 प्रतिशत प्रोटीन पाया जाता है। प्रतिदिन 50 ग्राम बाल आहार देने पर 10 ग्राम प्रोटीन प्राप्त होता है तथा विटामिन 'ए' राइबोफ्लेविन व कैल्सियम की दैनिक आवश्यकता का आधा पूर्ण हो जाता है।
4. **माल्ट फूड**—यह भी C. F. T. R. I. मैसूर के द्वारा विकसित किया गया पदार्थ है। इसमें अनाजों का माल्ट 40 भाग, कम वसा वाला मूँगफली का आटा 40 भाग, चूने का आटा 20 भाग मिलाया जाता है। इसे विटामिन व कैल्सियम के लवण से दृढ़ किया जाता है। इसमें 28 प्रतिशत प्रोटीन पाया जाता है। 40 ग्राम प्रतिदिन माल्ट-फूड देने पर 10 ग्राम प्रोटीन तथा विटामिन 'ए', कैल्सियम व राइबोफ्लेविन की आधी आवश्यकता पूर्ण हो जाती है।

प्र.8. भोज्य पदार्थों की दृढ़ता से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

भोजन की दृढ़ता (Fortification of Foods)

सारे संसार के वैज्ञानिक विकसित देशों से निम्न आय वर्ग में व्याप्त कुपोषण की समस्या को दूर करने के लिए प्रयासरत हैं। आज सम्भव हो सका है कि कुछ आवश्यक Food Commodities Low Cost पर बनायी जाने लगी हैं तथा उनके भोजन में जो भी पौष्टिक तत्त्व कम होता है, फोर्टीफाई कर दिया जाता है।

1. Fortification means the "the addition of one or more nutrients in the food stuff in which these nutrients are naturally absent or found in very less amount."
2. The term fortification of a food stuff denotes the addition to the foods of one or more dietary essentials in amount higher than those present in the food in natural state and also addition of nutrients and present in the natural state.

हमारे देश एवं अन्य विकासशील देशों में कुपोषण से ग्रसित व्यक्तियों की बहुतायत है। इसके दो मुख्य कारण हैं अज्ञानता एवं गरीबी। अज्ञानता के कारण लोगों को यह भी नहीं पता होता है कि बाजार में ऐसी भी भोज्य पदार्थ उपलब्ध हैं जिन्हें दृढ़ता एवं सम्पन्नता प्रदान कर इस योग्य बनाया गया है जिससे कि उस तत्त्व की कमी से होने वाले रोग से आसानी से बचा जा सकता है, जैसे आयोडीन युक्त नमक खाने से घेंघा नामक बीमारी से बचा जा सकता है। जिन पदार्थों में जिस-जिस अमीनों एसिड एवं विटामिन्स की कमी होती है उनको उसमें मिला देने से भोज्य पदार्थ में दृढ़ता आ जाती है अर्थात् उस भोज्य पदार्थ को लेने से उसके प्राकृतिक रूप से लेने पर उत्पन्न बीमारी नहीं होती है जैसा कि अग्र उपकरणों से आसानी से समझा जा सकता है—

1. पॉलिश किए हुए चावल में विटामिन-थायमीन (Thiamine) की कमी हो जाती है। जब यह देखने में आया कि इस पॉलिश किए गए चावल को खाने के उपरान्त बेरी-बेरी के रोग से ग्रस्त व्यक्तियों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई है तो इस पॉलिश किए गए चावल को थायमीन से दृढ़ (Fortified) कर इस्तेमाल में लाया जाने लगा।
2. मक्के में विटामिन नियासिन (Niacin) की कमी पायी जाती है। अमेरिका में मक्के को नियासिन से दृढ़ कर 'पेलाग्रा' में अत्यधिक कमी कर दी गई है।

भोज्य पदार्थों की दृढ़ता से तात्पर्य है कि, "भोज्य पदार्थों में प्राकृतिक रूप से अनुपस्थित या बहुत कम मात्रा में उपस्थित एक या अधिक पोषक तत्त्वों को उनमें मिलाना या उनकी मात्रा में वृद्धि करना।"

सम्पन्नता का अर्थ है कि केवल उन्हीं भोज्य पदार्थों को पोषक तत्त्वों से सम्पन्न किया जाता है जिनके पोषक तत्त्व उन भोज्य पदार्थों की प्रोसेसिंग के समय नष्ट हो जाते हैं या कम हो जाते हैं। भोज्य पदार्थों को सम्पन्न बनाने में उतनी ही मात्रा में पोषक तत्त्व मिलाया जाता है जिससे कि प्रोसेसिंग के बाद भोज्य पदार्थों में पोषक तत्त्वों की मात्रा प्राकृतिक रूप के समकक्ष हो जाए।

प्र.9. भोज्य पदार्थों को दृढ़ता एवं सम्पन्नता प्रदान करने के उद्देश्य बताइए।

उत्तर भोज्य पदार्थों को दृढ़ता एवं सम्पन्नता प्रदान करने के उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

1. **पोषक तत्त्वों के प्राकृतिक स्तर को बनाए रखना**—जब भोज्य पदार्थों को विभिन्न प्रक्रियाओं से गुजारा जाता है; जैसे—संग्रह, मिलिंग, निर्जलीकरण, बेकिंग, पकाना, भूनना, तलना, डिब्बा बन्दी इत्यादि तो उसके पोषक तत्त्वों की मात्रा प्राकृतिक स्तर से कम हो जाती है। इसलिए भोज्य पदार्थों की प्राकृतिक पोषकता को बनाए रखने के लिए उन्हें सम्पन्न (Enrich) किया जाता है।
2. **भोज्य पदार्थों को अधिक पोषक बनाना**—सभी खाद्य पदार्थ पोषक की दृष्टि से समान नहीं होते हैं। कुछ में कोई विशेष पोषक तत्त्व अधिक होता है जबकि दूसरे में बहुत कम या बिल्कुल नहीं पाया जाता है। अत: भोज्य पदार्थों में पोषक तत्त्वों को मिलाकर अधिक पोषक बना दिया जाता है। उदाहरण—दूध में लोह तत्त्व बहुत अधिक पाया जाता है, जब दूध पाउडर के रूप में बनाया जाता है तब उसे लोहे से Fortify कर दिया जाता है।
3. **स्वास्थ्य की दृष्टि से भोज्य पदार्थ को दृढ़ता प्रदान करना**—आज की इस भागमभाग जिन्दगी में व्यक्ति अपने भोजन की ओर अधिक ध्यान नहीं दे पाता है जो कुछ बाजार में उपलब्ध होता है उसी को भोजन के रूप में लेता है। उदाहरण—मैदे एवं ब्रैड में विटामिन 'बी' कॉम्प्लेक्स एवं लोह लवण को मिलाकर इसे अधिक पौष्टिक बना दिया जाता है जिसे व्यक्ति के स्वास्थ्य पर असर न पड़े।
   नमक में आयोडीन मिलाकर घैंघा के रोग को रोकना।
4. **स्थानापन्न भोज्य पदार्थों के पौष्टिक मान को समकक्ष बनाना**—कई भोज्य पदार्थों को एक-दूसरे के बदले प्रयोग में लाया जाता है; जैसे—मार्जरिन को मक्खन के स्थान पर प्रयोग करने के लिए मार्जरिन में विटामिन 'ए' एवं 'डी' की मात्रा बढ़ा दी जाती है। उसी तरह से अन्य फलों के रस को संतरे के रस के समकक्ष बनाने के लिए उसमें विटामिन 'सी' की मात्रा मिला दी जाती है।
5. **भोज्य पदार्थों को स्वयं में अधिक पौष्टिक बनाने के लिए**—कुछ भोज्य पदार्थों में किसी एक तत्त्व की अधिकता एवं दूसरे तत्त्व की कमी होती है, कमी वाला तत्त्व उस भोज्य पदार्थ में मिलाकर उसे स्वयं में अधिक पौष्टिक बना दिया जाता है। उदाहरण—कार्बोहाइड्रेट से बनी मिठाइयों को थायमिन एवं नियासिन से दृढ़ बनाना।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. भोजन पकाने की आवश्यकताओं का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

भोजन पकाने की आवश्यकता
(Needs of Cooking Food)

वातावरण में उपस्थित कई भोज्य पदार्थ तो सीधे कच्चे खाने की स्थिति में होते हैं; जैसे—फल व कुछ सब्जियाँ। इस पर अन्य पदार्थ कच्चे नहीं खाए जा सकते हैं। अत: उन्हें पकाने की आवश्यकता होती है। भोजन पकाने के कई उद्देश्य होते हैं; जैसे—

1. **भोजन को सुपाच्य बनाना**—भोज्य पदार्थ जटिल होते हैं, अगर इनको कच्चा ही खाया जाए तो यह ठीक तरह पच नहीं पाते हैं। अत: इन्हें सुपाच्य बनाने के लिए पकाना आवश्यक होता है। भोजन पकाने की क्रिया में कार्बोहाइड्रेट का स्टार्च,

सैल्यूलोज, माँस के माँसपेशीय तन्तु विशेष रूप से कोमल हो जाते हैं, पानी शोषित कर फूल जाते हैं व छोटे-छोटे टुकड़ों में टूट जाते हैं। अनाज, दालों, कढ़ी, सब्जियों; जैसे—आलू, अरवी आदि का पकाना विशेष आवश्यक होता है। कच्चा व अधपका भोजन खाने से पाचन क्रिया खराब हो जाती है और पेट में दर्द होने लगता है।

2. **भोजन को स्वादिष्ट व आकर्षक बनाना व उसके रूप में सुधार लाना**—पकाने से भोजन देखने में और अधिक आकर्षक व स्वादिष्ट हो जाता है, उसके रंग, बनावट, आकार तथा गन्ध में परिवर्तन हो जाता है, जिससे भोजन रुचिकर हो जाता है। भोजन के स्टार्च के कारण पकने के बाद हल्का मीठापन देते हैं और सोंधी गन्ध आती है। भोजन को पकाने से भोजन की तीव्र गन्ध जो अनचाही होती है, दूर हो जाती है; जैसे—प्याज की गन्ध या शलजम की गन्ध। तलने व उबलने की क्रिया के बाद भोज्य पदार्थ का रंग व रूप भी अधिक अच्छा हो जाता है। ये सभी परिवर्तन निम्न प्रकार से होते हैं—
   (i) **रूप व आकार में परिवर्तन**—भोजन कच्चे रूप में अन्य रूप में उपस्थित होता है। कच्चा स्टार्च व कच्ची प्रोटीन खाने में भी स्वादिष्ट नहीं होती और उनके ऊपर सैल्यूलोज का आवरण रहता है लेकिन पकाने से उसके रूप में परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ—आलू को उबालकर उनके कटलेट बनाने से उसके स्वरूप में परिवर्तन हो जाता है। इसी प्रकार अन्य भोज्य पदार्थों को पकाने से भी उनके आकार व रूप में परिवर्तन आ जाता है। सुन्दर आकार वाले भोज्य पदार्थ व्यक्ति का ध्यान आकर्षित करते हैं और सभी को पसन्द आते हैं।
   (ii) **रंग में परिवर्तन**—भोजन का रंग भोजन को सुन्दर व आकर्षक बनाने में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। व्यक्ति भोजन को उसके सुन्दर रंग के कारण ही देखकर आकर्षित होता है और उसकी भूख में भी वृद्धि होती है। भोज्य पदार्थों को खरीदते समय उसके गुणों की विवेचना रंग देखकर की जाती है; जैसे—पीले टमाटर, पीली गाजर, हरे सन्तरे, पीला तरबूज आदि कोई भी खरीदना पसन्द नहीं करता। भोजन पकाते समय भी रंगों के प्रयोग को ध्यान में रखना आवश्यक है जिससे वह लोगों का ध्यान आकर्षित कर सके। मिठाई में हरे, नीले, बैंगनी रंगों का उपयोग हानिकारक होता है। प्राकृतिक रूप में प्रदान करने वाले 4 रंग वर्णक उपस्थित रहते हैं—
      (a) **क्लोरोफिल**—यह सब्जियों व फलों को हरा रंग प्रदान करता है।
      (b) **कैरोटीन आइड्स**—ये फलों तथा सब्जियों को लाल, पीला तथा नारंगी रंग प्रदान करती हैं।
      (c) **एन्थोसायनिन**—ये सब्जियों व फलों को बैंगनी, नीला तथा कलासाही रंग प्रदान करता है।
      (d) **फैलेवान तथा फैलेवानॉल**—ये फलों व सब्जियों को पीला रंग प्रदान करते हैं।
      फलों और सब्जियों को पकाते समय इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि उसमें उपस्थित रंग कम से कम नष्ट हों।
   (iii) **बनावट में परिवर्तन**—भोजन को पकाने से उनकी बनावट में अत्यधिक परिवर्तन आ जाता है। भोजन की बनावट का अर्थ है कि भोज्य पदार्थ किस प्रकार का है; जैसे—कोमल, सख्त, लचीला, स्पंजी, लसीला, कुरकुरा या रेशेदार। पकाने से भोज्य पदार्थों की बनावट में परिवर्तन आ जाता है; जैसे—दाल और आलू पकाने से वे मुलायम हो जाते हैं तथा पूड़ी, कचौड़ी तथा समौसे आदि तलने से वे कुरकुरे हो जाते हैं। भोज्य पदार्थों की बनावट उसके पौष्टिक तत्त्वों की मात्रा, उसकी भौतिक स्थिति और उसमें उपस्थित वायु कोषों के आकार आदि पर निर्भर करती है।
   (iv) **स्वाद एवं गन्ध में परिवर्तन**—भोजन को पकाने से भोजन स्वादिष्ट हो जाता है। भोजन का स्वाद उसमें डाले गए घी, मसाले आदि के कारण भी होता है। पकाने के पश्चात् भोजन सुगन्धित हो जाता है। कुछ भोजनों में पकाने की क्रिया में गन्ध युक्त पदार्थ डाले जाते हैं जो उसकी सुगन्ध बढ़ाते हैं; जैसे—खीर में इलायची व केसर का प्रयोग अथवा केक में एसन्स का प्रयोग। इसके अतिरिक्त भोजन की अनचाही गन्ध भी पकाने से दूर हो जाती है; जैसे—मछली की गन्ध पकाने के बाद दूर हो जाती है। भोज्य पदार्थ को घी में तलने से सोंधापन आ जाता है। अच्छे चावलों की सुगन्ध पकाने से दो गुनी हो जाती है। सुन्दर और सुगन्धित भोज्य सामग्री का मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है।
3. **भोजन के रोग जीवाणुओं को नष्ट करना**—भोज्य पदार्थों में वातावरण के विभिन्न माध्यमों से कई जीवाणु प्रवेश कर जाते हैं। यदि भोजन को कच्चा ही खाया जाए। उस स्थिति में ये जीवाणु शरीर में पहुँच जाते हैं तथा शरीर को रोगी बना देते हैं। इन स्थितियों से बचने के लिए यदि भोजन को पका लिया जाए तो अधिक ताप पर आने के कारण भोजन के जीवाणु नष्ट हो जाते हैं तथा भोजन सुरक्षित हो जाता है।

4. **भोजन में विभिन्नता लाना**—भोजन पकाने से एक ही खाद्य पदार्थ को विभिन्न रूपों में व्यंजक बनाकर परोसा जा सकता है। इस प्रकर भोजन में विभिन्नता लायी जा सकती है, उदाहरण के लिए—आलू एक ही खाद्य पदार्थ है लेकिन पकाकर उसे विभिन्न रूपों में परोसा जा सकता है; जैसे—आलू की सब्जी, चिप्स, टिक्की, कटलेट, हलवा आदि।

इसके अतिरिक्त भोजन पकाने से कई लाभ होते हैं। भोज्य पदार्थ को पकाने से वह मुलायम हो जाता है जिससे वृद्ध व्यक्ति उन्हें आसानी से खा लेते हैं। भोजन पकाने की क्रिया के दौरान मिर्च व मसाले मिलने से भोजन के स्वाद में वृद्धि हो जाती है। भोजन संरक्षण में भी पकाने की क्रिया लाभदायक होती है।

भोजन पकाने में कुछ हानियाँ भी हैं। पकाने की क्रिया से भोजन में उपस्थित कई तत्त्व जैसे विटामिन्स व खनिज तत्त्व नष्ट हो जाते हैं इसलिए प्रतिदिन आहार में कुछ भोज्य-पदार्थ कच्चे भी खाने चाहिए; जैसे—फल व सब्जी की सलाद। बहुत तले हुए भोज्य पदार्थ भी गरिष्ठ होने के कारण रोगी को हानि पहुँचाते हैं।

प्र.2. भोजन पकाने की विधियाँ कौन-कौन सी हैं? सविस्तार लिखिए।

उत्तर

भोजन पकाने की विधियाँ
(Methods of Cooking Food)

प्रतिदिन विभिन्न ढंगों से भोजन हमारे घरों में पकाया जाता है। उबालना, तलना, भूनना व सेंकना तथा भाप से पकाना आदि सभी विधियाँ प्रयोग में लायी जाती हैं। इन विधियों में भोज्य-पदार्थ विभिन्न माध्यों से घिरा रहता है; जैसे—उबालने में जल, तलने में वसा, भूनने में हवा तथा भाप द्वारा पकाने में भोजन भाप से घिरा रहता है। अत: भोजन के पकाते समय उसके माध्यम को ध्यान में रखते हुए भोजन चार विधियों से पकाया जाता है—

1. **जल द्वारा पकाना**—जैसा पहले बताया गया है कि इस विधि में भोजन पूरी तरह से जल से घिरा रहता है। इस विधि को भी जल की मात्रा व जल तापक्रम को ध्यान में रखते हुए तीन विधियों में विभाजित किया जाता है—
   (i) **उबालना** (Boiling)—पानी 100°C या 112°C ताप पर उबलता है, इस पर यदि उसमें कोई भोज्य पदार्थ या नमक डाल दिया जाए तो उबालने का तापक्रम और बढ़ जाता है। उबलने के तापक्रम पर बर्तन की निचली सतह का पानी आग से गर्मी पाकर तेजी से ऊपर उठता है तथा ऊपरी सतह पर जाकर बुलबुलों के रूप में ऊपर उठकर फूटता है। बुलबुले फूटने व वाष्प के तेजी से बनने लगने पर पता लगा है कि उबलने की क्रिया प्रारम्भ हो गई है। भोजन पकाने की उबालने की विधि में भोजन पूरी तरह पानी से घिरा रहता है तथा पानी में निरन्तर उबलने की क्रिया होती रहती है। पानी को वाष्प के रूप में उड़ने से बचाने के लिए भोजन को ढककर उबाला जाता है। इससे पानी का ताप भी कम नष्ट होता है व भोजन जल्दी पकता है। भोजन पकने का समय भोज्य पदार्थ की प्रकृति पर निर्भर करता है। आकार में छोटा व कोमल भोजन जल्दी पकता है, आकार में बड़ा व कड़े भोज्य पदार्थ को पकाने में अधिक समय लगता है।

   आलू-अरबी उबालना, दाल चावल व कुछ सब्जियाँ पकाना इसी विधि के द्वारा होता है। इस विधि में भोज्य पदार्थ के पोषक तत्त्व निकलकर जल में आ जाते हैं; जैसे—दाल, सब्जियों तथा सूप में। पर यह जल अतिरिक्त होने पर फेंकना नहीं चाहिए अन्यथा भोज्य तत्त्वों की हानि होगी। आलू, अरबी आदि सब्जियों को छिलके सहित ही उबालना चाहिए जिससे उनके भोज्य तत्त्व निकलकर जल में न आ सकें।

   इस विधि से बना हुआ भोज्य पदार्थ सुपाच्य होता है, जल्दी पककर तैयार हो जाता है तथा कम खर्चीला होता है।

   (ii) **खदकना** (Simmering)—खदकना व उबालने की विधि में विशेष अन्तर पानी के तापक्रम का होता है। इस विधि में भोजन 180°F से 210°F तापक्रम पर गर्म किया जाता है। पानी का तापक्रम उबलने के तापक्रम तक न पहुँच पाने के कारण पानी के बुलबुले ऊपरी सतह तक पहुँचने के पहले ही फूट जाते हैं। यही विधि खदकना कहलाती है। इस विधि में तापक्रम कम होने के कारण उबालने की अपेक्षा अधिक समय लगता है। अधिक प्रोटीन युक्त भोज्य पदार्थों को खदकने की विधि द्वारा ही पकाते हैं। अण्डा व माँस पकाने के लिए भी कम तापक्रम ही रखा जाता है। तेज तापक्रम होने पर भोजन की प्रोटीन कड़ी हो जाएगी तथा अन्दर का भाग कच्चा रह जाएगा। पानी को खदकते समय वाष्पीकृत होने से बचाने के लिए ढककर रखना चाहिए।

   (iii) **कम आग व कम पानी में पकाना** (Stewing)—यदि भोजन पकाते समय उसमें पानी व ताप दोनों ही बहुत कम रखे जाएँ तो यही विधि स्ट्यूइंग कहलाती है। इस विधि में पानी का ताप खदकने के ताप से कम होता है।

TOUCH 'n' PASS

180°F या इससे भी कम तापक्रम स्ट्यूइंग विधि के लिए उत्तम रहता है। इस विधि से भोजन पकाने में समय अधिक लगता है, पर भोजन बहुत अधिक स्वादिष्ट बनता है। इस विधि में भी भोजन ढक्कर पकता है तथा पानी का भी बहुत कम प्रयोग होता है। अत: इस विधि द्वारा पका भोजन पोषक युक्त बना रहता है। सूखी सब्जियाँ तथा मांस विशेष रूप से इस विधि के द्वारा पकायी जाती है। ताप कम होने के कारण इसमें वस्तु के जलने का भय नहीं रहता है, पर कठोर भोजन को पकाने में विशेष रूप से समय अधिक लग जाता है।

2. **हवा द्वारा पकाना**—यदि भोज्य पदार्थ तथा आग के बीच कोई अन्य माध्यम नहीं है तो हवा आग की गर्मी लेकर पदार्थ को पहुँचाती है। इस विधि द्वारा पका भोजन हवा द्वारा पका हुआ कहलाता है। इस विधि में हवा के साथ कोई अन्य धातु अथवा ऊष्मा के सुचालक भी भोज्य पदार्थ को पकाने में सहायता करते हैं; जैसे—राख, रेत, बालू आदि। हवा द्वारा भोजन कई ढंगों से पकाया जाता है; जैसे—

   (i) **भूनना या सेकना** (Roasting or Broiling)—इस विधि में भोजन सीधे आग के सम्पर्क में होता है। आग की लौ हवा भोजन को अन्दर तक गलाकर पका देती है। बैंगन, आलू व भुट्टा आदि भूनने के लिए यही विधि अपनायी जाती है। रोटी फुलाने के लिए भी उसे सीधे आग पर रखा जाता है जिससे वह पूरी तरह सिक जाती है। कुछ भोज्य पदार्थ जैसे—डबलरोटी तथा मांस आदि को भूनने के लिए तार की जाली या सलाखों का प्रयोग होता है। भोजन इस विधि में हवा के ही सम्पर्क में रहता है। यह विधि ग्रिलिंग (Griling) कहलाती है। इसके अतिरिक्त गर्म राख में शकरकन्दी का भूनना अथवा भाड़ पर रेत अथवा बालू द्वारा चना, लाई, मटर, मूँगफली आदि का भूनना Roasting या Broiling ही कहलाता है।

   (ii) **धातु के बर्तन में भूनना** (Pan Broiling)—इस विधि में भोजन को भूनने के लिए बर्तन जैसे तवा या कढ़ाई का प्रयोग किया जाता है, पर अन्य कोई माध्यम प्रयोग नहीं होता है। आग की गर्मी से धातु गर्म हो जाती है तथा यह धातु की गर्मी भोजन को पका देती है। तवे पर रोटी सेकना, सूजी, दलिया, आटा आदि इस विधि से भूनते हैं।

   (iii) **तन्दूर में पकाना** (Baking)—इसमें भोज्य पदार्थ एक विशेष प्रकार की भट्टी या तन्दूर या ओवन (Oven) में पकता है। यह विधि वास्तव में भूनने की ही विधि है, पर इस विधि में गर्म हवा बाहर ठण्डी हवा से मिल नहीं पाती है। गर्म हवा एक सीमित आकार में रहती है, जिससे हवा का तापक्रम भी बढ़ जाता है तथा भोजन शीघ्र पक जाता है। इस विधि का प्रयोग भी प्राचीन समय से होता आ रहा है। तब देशी भट्टियाँ या तन्दूर हुआ करते थे जिनमें तन्दूर की रोटी पकायी जाती थी। अब भी व्यापारिक मात्रा में भोज्य पदार्थ को बेक करने के लिए बड़ी-बड़ी भट्टियों या तन्दूर का ही प्रयोग किया जाता है। घरेलू रीति से भोज्य पदार्थ बेक करने के लिए एक छोटा बॉक्सनुमा डिब्बा जिसे ओबन कहते हैं, इसके काम में लाया जाता है।
   यह बॉक्सनुमा बर्तन इसी सिद्धान्त पर बना होता है कि अँगीठी की आग को बाहर की ठण्डी हवा न मिल सके। सारी ऊष्मा ओवन के अन्दर ही रहती है। ओवन की हवा समान तापक्रम पर गर्म रहती है। ओवन के बॉक्स में रैक बने होते हैं। उन पर जो भोज्य पदार्थ बेक करना है, टिन या ट्रे में रख दिया जाता है। निश्चित तापक्रम पर निश्चित समय में भोज्य पदार्थ पक जाता है। इस साधारण ओवन में तापक्रम निर्भर करता है। अगर गैस तेज जल रही है तो ओवन का ताप अधिक होगा, अगर धीमी जल रही है तो ओवन का तापक्रम कम होगा। ओवन का तापक्रम जानने के लिए कुछ दूसरे प्रकार के ओवन बनाए गए हैं जिनमें ताप नियन्त्रण के लिए ताप नियन्त्रक (Temperature Regulator) लगा होता है तथा उसके ऊपर तापक्रम भी लिखा होता है। यदि अधिक तापक्रम जैसे 450°F चाहिए तो रेगुलेटर को 450°F लिखे हुए पोइण्ट पर घुमा देते हैं। यदि कम तापक्रम जैसे 250°F चाहिए तो रेगुलेटर को 250°F ताप लिखे हुए पोइण्ट की तरफ घुमा देते हैं। इस तरह का प्रबन्ध कुकिंग रेंज (Cooking Range) के ओवन तथा इलेक्ट्रिक ओवन में होता है। इलेक्ट्रिक ओवन में ऊष्मा हीटर की तरह बिजली में एलीमेण्ट में उत्पन्न की जाती है। यह ऊष्मा ढके हुए बर्तन के अन्दर रहती है तथा ओवन में रखे भोज्य पदार्थ को बेक कर देती है। ओवन में इन सभी भोज्य पदार्थों को रखने से पहले ओवन को गर्म कर लेना चाहिए जिससे भोज्य पदार्थ को रखते ही उसे निश्चित ताप मिलना प्रारम्भ हो जाए। मुख्य रूप से केक, पेस्टी, बिस्कुट, नानखटाई आदि इसी विधि से पकायी जाती हैं। मांस भी बेक किया जा सकता है। कुछ सब्जियों के व्यंजन जैसे पाईडिश आदि भी ओवन में बनती है। भरवाँ टमाटर तथा अन्य सब्जियों को भी ट्रे में रखकर बेक कर सकते हैं तथा पुडिंग भी बेक करके बनायी जाती है।

ये भोज्य पदार्थ पकाने के लिए ओवन घर में भी तैयार किए जा सकते हैं तथा ओवन के बॉक्स के रूप में कनस्तर का प्रयोग किया जाता है। कनस्तर की एक साइड गोल बर्नर के अनुसार काट ली जाती है तथा इसके अन्दर एक रैक फिट कर दी जाती है जिस पर भोज्य पदार्थ रखा जाता है। इस कनस्तर में कोई ताप नियन्त्रक नहीं हो पाता है। अँगीठी या स्टोव की आग को भोज्य पदार्थ के अनुसार धीमी या तेज रखा जाता है। अधिक वसा, नमी व कड़े भोज्य पदार्थों को बेक करने के लिए तेज तापक्रम आवश्यक होता है। कम वसा, नमी व कोमल भोज्य पदार्थों को बेक करने के लिए कम तापक्रम रखा जाता है।

किसी भी प्रकार के ओवन के ढक्कन या दरवाजे को बार-बार नहीं खोलना चाहिए अन्यथा अन्दर की गर्म हवा निकलती रहेगी। ट्रे या टिन में भोज्य पदार्थ रखने से पहले उन पर चिकनाई लगा लेनी चाहिए जिससे भोज्य पदार्थ पकने के बाद आसानी से उठ आए।

3. **चिकनाई द्वारा पकाना**—इस विधि में भोज्य पदार्थ चारों तरफ से किसी चिकनाई; जैसे—घी या तेल से घिरा रहता है। ऊष्मा पहले चिकनाई द्वारा ग्रहण की जाती है फिर चिकनाई ऊष्मा को भोज्य पदार्थ में पहुँचाती है। वसा अधिक तापक्रम पर उबलने के कारण वह अधिक ऊष्मा को अवशोषित कर लेती है। अत: भोज्य का ऊर्जा मूल्य बढ़ जाता है, इस पर भोजन गरिष्ठ हो जाने के कारण सुपाच्य नहीं रहता है।

इस विधि द्वारा भोज्य पदार्थ जल्दी पककर तैयार हो जाता है। भोज्य पदार्थ को तलने के लिए आवश्यक वसा की मात्रा को ध्यान में रखते हुए यह विधि भी तीन प्रकार की हो सकती है—

(i) **गहरा तलना** (Deep Frying)—इस विधि में घी अथवा तेल की मात्रा इतनी ली जाती है कि भोज्य पदार्थ उसमें डालने पर पूरा डूब जाए। गहरे तलने की क्रिया कढ़ाई में की जाती है। इस विधि द्वारा पूड़ी, कचौड़ी, समौसे, कटलेट आदि तले जाते हैं। तलते समय घी अथवा तेल का तापक्रम तेज होना चाहिए, अन्यथा भोज्य पदार्थ डालने के कारण भी कढ़ाई का तापक्रम मंद हो जाता है। अत: थोड़ा-थोड़ा करके भोजन तलना चाहिए। भोज्य से अतिरिक्त घी की मात्रा निकालने के लिए भोजन तलकर अवशोषक कागज या बाँसी कागज पर निकाल लेना चाहिए। यह विधि भोजन की गरिष्ठता को कम कर देगी। कई बार बहुत छोटे-छोटे भोज्य पदार्थों को तलकर निकालने में परेशानी होती है। अत: तलने के लिए एक छलनी का प्रयोग होता है जिसमें भोज्य पदार्थ डालकर गर्म घी को कढ़ाई में डाल देते हैं। भोजन के तलने के बाद छलनी उठा लेते हैं जिससे सारा घी निचुड़ जाए।

कई बार भोज्य पदार्थ को घी कढ़ाई में डालने पर भोज्य पदार्थ फटकर बिखरने लगता है। ऐसे भोज्य पदार्थ को और मथने पर अथवा मैदा, बेसन, फिटा अण्डा या डबलरोटी का चूरा ऊपर लपेटने पर उसका घी में फटकर बिखरना बन्द हो जाता है।

(ii) **उथला तलना** (Shallow Frying)—इस विधि में वसा की मात्रा कुल इतनी प्रयोग की जाती है कि भोजन बर्तन से चिपके नहीं। यह क्रिया कढ़ाई या फ्राई पैन (Fry Pan) या तवे पर की जाती है। पराँठा, चीला, डोसा, आमलेट, आलूचिप्स आदि इसी विधि के द्वारा तले जाते हैं। भोज्य पदार्थ को पहले एक तरफ घी लगाकर एक तरफ तला जाता है, फिर दूसरी तरफ घी लगाकर दूसरी तरफ तला जाता है। इस विधि में आग अपेक्षाकृत धीमी होनी चाहिए।

(iii) **तलने की शुष्क विधि** (Dry Frying)—इस विधि में बाहरी वसा का प्रयोग नहीं किया जाता है। भोज्य पदार्थ की प्राकृतिक वसा ही निकलकर भोजन को तलने में सहायता करती है तथा भोजन को बर्तन से चिपकने से बचाती है। खोया को भूनना, मूँगफली के दानों को भूनना वास्तव में तलने की शुष्क विधि ही है। मांस के टुकड़े, मछली आदि के तलने पर उनमें उपस्थित वसा निकलकर तलने में सहायता करती है। बेकन (Bacon) तथा सॉसेज (Sausage) इसी विधि से पकाए जाते हैं।

तलने की विभिन्न विधियों में वसा बहुत गर्म नहीं होना चाहिए। बहुत अधिक तेज ताप पर बहुत देर तक गर्म करने पर वसा अपने यौगिकों—ग्लिसरौल व फैटी एसिड में विभक्त हो जाता है। घी से बहुत धुँआ निकलने लगता है तथा एक्रोलीन नामक गैस बनने लगती है जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होती है। यह गले में खराश भी उत्पन्न करती है।

4. **वाष्प द्वारा पकाना**—जल का गैस रूप वाष्प कहलाता है। जब जल उबाला जाता है तो उबालने के बाद वाष्प अथवा भाप में परिवर्तित हो जाता है और वाष्प के रूप में बर्तन को उठाकर ऊपर जाने लगता है। इस वाष्प का तापक्रम भी 212°F या 100°C होता है तथा गैस रूप में होने के कारण वह भोजन को जल्दी पका देता है। यदि उबलते पानी से बनी वाष्प को उड़ने न दिया जाए बल्कि बर्तन को ढक दिया जाए तथा भोजन को भाप में रखा जाए तो भोजन भाप के द्वारा गलकर पक जाता है। इस विधि में भोजन के भाप के सम्पर्क को ध्यान में रखते हुए भाप द्वारा पकाने की दो विधियाँ कही जाती हैं—
   (i) **प्रत्यक्ष विधि**—इस विधि में भोजन भाप के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आता है। भाप बनाने के लिए भगोने में पानी भरकर उबालने के लिए रख देते हैं तथा भगोने को ढक्कन से ढक देते हैं जिससे बनी हुई भाप भगोने के ही अन्दर रहे। जिस भोजन को भाप के द्वारा पकाना है उसे एक कप में तार की जाली पर रखकर भगोने के ऊपरी भाग में बाँध देते हैं तथा ढक्कन फिर ढक देते हैं। भगोने में पानी उबलने से भाप बनकर उठकर कपड़ा या जाली में रखे भोजन को पका देती है। फूलगोभी, टमाटर, आटा आदि इसी विधि के द्वारा भाप से पकाए जाते हैं।
   प्रत्यक्ष विधि से भोजन पकाने की एक और विधि इडली बनाने में प्रयोग में लायी जाती है। इडली बनाने के लिए एक विशेष स्टैण्ड का प्रयोग किया जाता है जिसमें छोटी-छोटी कटोरियाँ बनी होती हैं। इन कटोरियों में इडली का मिश्रण भर दिया जाता है तथा स्टैण्ड को भगोने व प्रेशर कुकर में रख देते हैं। भगोने में नीचे थोड़ा पानी डाल देते हैं जो उबलने पर भाप में परिवर्तित होकर कटोरियों में रखे इडली के मिश्रण को पकाने लगता है।
   (ii) **अप्रत्यक्ष विधि**—इस विधि में भाप भोजन के सीधे सम्पर्क में नहीं आती है क्योंकि भोजन एक बर्तन से ढका रहता है, इस पर भोजन भाप के द्वारा ही पकता है। खमण्ड व ढोकला भी इसी विधि के द्वारा पकाए जाते हैं। खमण्ड व ढोकला के मिश्रण को एक बर्तन में रखकर दूसरे बर्तन से ढककर भाप में पकाते हैं। विभिन्न पुडिंग भी भाप के द्वारा अप्रत्यक्ष विधि से ही पकायी जाती हैं।

   भाप द्वारा पकाने की विधियों में भोज्य तत्त्वों की हानि कम होती है। जल में घुलनशील भोजन के तत्त्व भी भोजन के ही अन्दर उपस्थित रहते हैं। भोजन हल्का व सुपाच्य होता है पर भोजन अन्य विधियों की अपेक्षा बहुत अधिक स्वादिष्ट नहीं होता है।

वाष्प के दबाव द्वारा पकाना (Pressure Cooking)—इस विधि भी कुछ अंश में वाष्प द्वारा भोजन पकाने की ही विधि है। इस विधि में वाष्प का दबाव उत्पन्न किया जाता है। दबाव उत्पन्न करने से पानी का क्वथनांक (Boiling Point) बढ़ जाता है अर्थात् पानी अधिक तापक्रम पर उबलता है। इस तरह भोज्य पदार्थों को अधिक तापक्रम मिलता है जिससे वस्तु जल्दी पककर तैयार हो जाती है।

सामान्य रूप में पानी 100°C पर उबलता है अगर वातावरण का दबाव कम होगा तो पानी कम तापक्रम पर ही उबलने लगेगा, जैसा कि पहाड़ों पर होता है। इसी कारण वहाँ दाल पूरी तरह न पककर कच्ची रह जाती है। अगर वातावरण का दबाव अधिक होगा तो पानी 100°C पर न उबलकर उससे भी अधिक ताप पर उबलेगा। पानी का ताप बढ़ने के कारण पानी में उपस्थित भोज्य पदार्थ जल्दी पककर तैयार हो जाता है। इसके साथ में बर्तन में उपस्थित वाष्प भी भोजन को जल्दी पकाने में सहायता करती है। इस विधि से भोजन एक विशेष निर्मित बर्तन जिसे 'प्रेशर कुकर' कहते हैं, उसमें पकाया जाता है।

प्र.3. अंकुरण से आप क्या समझते हैं? अंकुरण के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ एवं महत्त्व पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

अंकुरण (Germination)

'Raw grains or beans to be eaten in a palatable form'

अंकुरण भोज्य पदार्थों की पौष्टिकता को बढ़ाने की यह विधि है, जिसके द्वारा अपने आहार में बिना किसी लागत को बढ़ाए पोषक तत्त्वों की मात्रा बढ़ जाती है तथा भोजन भी जल्दी पच जाता है। अंकुरण केवल साबुत एवं साबुत दालों में ही किया जा सकता है। अंकुरण के द्वारा इन अनाजों एवं दालों में भौतिक एवं रासायनिक परिवर्तन आ जाते हैं तथा ये अधिक पौष्टिक बन जाते हैं। स्वस्थ बीज तभी अंकुरित होते हैं जबकि उनके लिए परिस्थितियाँ अनुकूल हों।

अंकुरण के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ (Essential Conditions for Germination)

1. **नमी तथा आर्द्रता** (Humidity)—सामान्यत: बीजों में आर्द्रता 7–10% तक होती है, इतनी आर्द्रता पर बीज अंकुरित नहीं हो पाते हैं। बीज अंकुरित होने के लिए नमी की अति आवश्यकता होती है। बीज अंकुरित तभी होता है जब बीज की कोशिकाओं का जीवद्रव्य (Protoplasm) पानी से संतृप्त हो जाता है और रासायनिक क्रियाएँ प्रारम्भ हो जाती हैं।

2. **तापमान** (Temperature)—बीजों का अंकुरण एक उचित तापमान पर ही होता है, तापमान बहुत अधिक होने अथवा कम होने पर बीज अंकुरित नहीं होते हैं। बीजों को अंकुरित होने के लिए उचित तापमान 25°C से 35°C के बीच होना चाहिए। शीतकाल में बीजों को अंकुरित करने के लिए पानी को कुछ गर्म कर दिया जाता है जिससे बीज जल्दी अंकुरित हो जाते हैं।
3. **ऑक्सीजन** (Oxygen)—अंकुरण की क्रिया के लिए ऊर्जा की आवश्यकता होती है यह ऊर्जा बीजों में संचित भोजन का अपचय करके प्राप्त होती है, भोजन के अपचय के लिए ऑक्सीजन का मिलना बहुत जरूरी है।

अंकुरण की विधि—बीजों के अंकुरण की विधि को दो अवस्थाओं में बाँट सकते हैं—

1. **भिगोना** (Soaking)—यह अंकुरण की पहली अवस्था है। इस अवस्था में बीजों को एक बर्तन में लेकर पानी में भिगोया जाता है। यह अवस्था पोषण के हिसाब से एक महत्त्वपूर्ण अवस्था है, क्योंकि—
   (i) **पानी की मात्रा**—बीजों को अत्यधिक पानी में भिगोने पर सारा पानी बीजों द्वारा शोषित नहीं हो पाता है तथा बीजों में उपस्थित पानी में घुलनशील विटामिन्स बचे हुए पानी के साथ बेकार चले जाते हैं जिससे कि इन विटामिन्स की इन बीजों में कमी हो जाती है।
   बीजों को कम पानी में भिगोने पर बीज पूरी तरह से अंकुरित नहीं हो पाते हैं। अत: बीजों को भिगोने में उतना ही पानी लेना चाहिए जितना कि आवश्यक हो। यह गृहिणी को अनुभव से आ जाता है। आमतौर पर गेहूँ, ज्वार, बाजरा, साबुत अरहर आदि के लिए आयतन से आधे पानी की आवश्यकता होती है। चने, छोले, राजमा, मटर आदि के लिए कुछ ज्यादा पानी अर्थात् आयतन के तीन-चौथाई की आवश्यकता होती है।
   (ii) भिगोने का समय भी बीजों के अंकुरण पर गहरा प्रभाव डालता है। सामान्यतौर पर बीजों को 10–12 घण्टे के लिए भिगोया जाता है। यदि पानी में ज्यादा समय तक इन्हें भिगो दिया जाए तो एक खराब गन्ध बीजों से आने लगती है और बीज विघटित होने लगते हैं। जैसे बाजरा को भिगोने में 6–9 घण्टे, हरी मूँग, काले उरद, गेहूँ के लिए 9–12 घण्टे, चने, काबली चने, छोले आदि 12–15 घण्टे।
2. **कुल्ले फूटना** (Sprouting)—यह अंकुरण की दूसरी अवस्था है। यह कई प्रकार से पूरी की जा सकती है। ज्यादातर प्रचलित विधियाँ निम्न हैं—
   (i) भीगने के बाद फूले हुए बीजों को एक गीले सूती कपड़े में बाँधकर लटका दिया जाता है तथा 10–12 घण्टे के लिए एक उचित तापमान पर छोड़ दिया जाता है। जब कपड़ा सूखा लगे तब उस पर पानी छिड़क दिया जाता है। तब हम देखते हैं कि इन बीजों में कुल्ले फूटने लगते हैं।
   (ii) भीगे हुए बीजों को छलनी में लेकर तथा छलनी को पानी से भरे बर्तन के ऊपर रखकर उसे एक महीन सूती कपड़े से ढक दिया जाता है। 10–12 घण्टे के बाद उसमें से कुल्ले फूटने लगते हैं।
   (iii) भीगे हुए बीजों को एक मिट्टी के बर्तन में भरकर तथा उसका मुँह एक सूती कपड़े से बन्द कर दिया जाता है तथा बर्तन एवं कपड़े को पर्याप्त नमी दी जाती है। 10–12 घण्टे बाद इसमें कुल्ले फूटने लगते हैं।

अंकुरण का महत्त्व (Importance of Germination)

अंकुरण के समय बीजों में बहुत-सी रासायनिक क्रियाएँ होती हैं; जैसे—जल अपघटन (Hydrolysis), संश्लेषण (Synthesis), अपचय (Break-down) तथा बहुत-से एन्जाइम्स क्रियाशील हो जाते हैं; जैसे—एमाइलेज (Amylase), प्रोटीएस (Protease), फाइटेज (Phytase), साइटेज (Cytase) आदि जिससे इनका पोषण मूल्य अत्यधिक बढ़ जाता है—

1. **पोषण मूल्यों का बढ़ना**—विटामिन-सी (Vitamin-C) जो कि सूखी दालों एवं अनाजों में पूर्णत: अनुपस्थित होता है। अंकुरण के बाद इन्हीं में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है जैसे चने एवं मटर में अंकुरण के 24 घण्टों बाद विटामिन-सी (Vitamin-C) की मात्रा 196 mg. तक पायी जाती है।
   (i) विटामिन-बी-कॉम्प्लेक्स (Vitamin-B-Complex); जैसे—थाइमिन, राइबोफ्लेबिन, नियासिन, बायोटिन आदि की मात्रा अंकुरण के बाद अत्यधिक मात्रा में बढ़ जाती है।
   (ii) मुक्त लोह-लवण (Ionisable Iron) की भी मात्रा बढ़ जाती है।
   (iii) प्रोटीन की मात्रा में वृद्धि—नया बनने वाला बीजाङ्कुर प्रोटीन के द्वारा ही बना है। अत: प्रोटीन की मात्रा अंकुरण के बाद अत्यधिक मात्रा में बढ़ जाती है।

2. **भोजन की पाचनशीलता में वृद्धि**—(i) अंकुरण प्रक्रिया में अनाजों के ऊपर सैल्यूलोज (Cellulose) की परत मुलायम हो जाती है जिससे अनाज सुपाच्य हो जाता है।
   (ii) साबुत दालों एवं धान्यों में वायु उत्पन्न करने का गुण (Flatulence) पाया जाता है जिससे इसका अत्यधिक सेवन पाचन की दृष्टि से ठीक नहीं होता है।
   (iii) बीजों में उपस्थित वसा अपघटित होकर पहले वसीय अम्ल व ग्लिसराल में बदलती है व फिर यह कार्बोज व अन्य यौगिकों में बदल जाती है। इसी कारण से छोटे बच्चों के आहार में अंकुरित बीजों को हम सुरक्षित रूप से उपयोग कर सकते हैं।
3. **हानिकारक तत्त्वों की मात्रा में कमी**—अंकुरण से हानिकारक तत्त्वों की मात्रा घट जाती है। अनाजों एवं दालों में हानिकारक; जैसे—टैनिन (Tannin) एवं फाइटेट (Phytate) की उपस्थिति अधिक होती है जिससे अन्य पोषक तत्त्वों की उपलब्धता घट जाती है, लेकिन अंकुरित बीजों में ठीक इसका उल्टा हो जाता है। ट्रिपसिन इन्ही बीटर (Trypsin Inhibitor) एन्जाइम की क्रियाशीलता अंकुरण से घट जाती है। जिससे प्रोटीन का जैविक मूल्य बढ़ जाता है। अंकुरित अनाजों व दालों का प्रोटीन भी शीघ्र पच जाता है।
4. **कम समय में पकने का पौष्टिकता पर प्रभाव**—भीगे हुए बीज का छिलका काफी नरम पड़ जाता है जिससे उसको पकाने में अधिक तापमान की आवश्यकता नहीं होती और न ही लम्बे समय तक पकाना पड़ता है। जो पोषक तत्त्व ताप के लिए संवेदनशील होते हैं उनकी मात्रा अंकुरित बीजों में पकने के बाद भी ज्यादा बनी रहती है, जैसे लाइसिन (Lysine) अमीनो एसिड जो कि दालों में विद्यमान होता है। लम्बे समय तक पकाने के बाद इसकी मात्रा घट जाती है जबकि इन्हीं दालों को अंकुरित करके बनाया जाए तो इनकी मात्रा भरपूर रहती है। विटामिन 'बी' कॉम्प्लेक्स एवं विटामिन 'सी' की मात्रा भी ज्यादा समय तक पकाने में कम हो जाती है।
5. **उपचारात्मक आहार के रूप में उपयोग**—कब्ज के मरीजों को अंकुरित चना अथवा दालें देना बहुत लाभदायक होता है क्योंकि इनके छिलके में उपस्थित सैल्यूलोज (Cellulose) एक वल्क के रूप में कब्ज को ठीक करने का काम करता है। अंकुरित बीजों में विटामिन्स-बी, कॉम्प्लेक्स एवं विटामिन-सी की अधिकता होती है तथा अंकुरित बीज सुपाच्य भी हो जाते हैं इसलिए बीमार व्यक्ति को उसके आहार में अंकुरित भोजन देना लाभदायक होता है।
6. **भोजन में विविधता लाना**—प्रतिदिन दालों को एक ही रूप में लेने से मन उकता जाता है, लेकिन इन्हीं दालों को अंकुरित कर विभिन्न रूप में लेने से भोजन अच्छा लगने लगता है। जैसे अंकुरित दालों को सादा नमक एवं नींबू डालकर खाना।
   सलाद के रूप में लेना।
   नाश्ते में—(i) पकाकर खाना—भाप में हल्का भूनकर, (ii) पीसकर—चीला पकोड़े, कटलेट, डोसा आदि के रूप में।
7. मैथी के दानों को अंकुरित करके उनका कड़वापन कम कर सकते हैं—

Germination enhances the Vitamin-C content of legumes.	
24 hrs. germination	7-8 mg/100 gm
48 hrs. germination	10-12 mg/100 gm
72 hrs. germination	12-14 mg/100 gm

'Sprouting provides a way of increasing the nutrient content of foods without any additional cost. A most economical way of improving the diet.'

प्र.4. **खमीरीकरण से आप क्या समझते हैं? खमीरीकरण की क्रिया को प्रभावित करने वाले घटकों का विस्तृत वर्णन कीजिए।**

उत्तर

खमीरीकरण (Fermentation)

आज के युग में प्रत्येक व्यक्ति स्वास्थ्य के प्रति बहुत ज्यादा सचेत एवं जागरूक हो गया है। अधिकांश व्यक्ति ऐसा भोजन लेना पसन्द करते हैं जिसमें वसा की मात्रा कम हो, ज्यादा पौष्टिक हो तथा जो आसानी से पचने वाला हो। देश के दक्षिणी भाग में इस

प्रकार के भोजन का बहुत अधिक प्रचलन है। इस प्रकार के भोजन को जल्द पचने वाला हल्के भोजन के नाम से जाना जाता है तथा इसमें खमीरीकरण का बहुत बड़ा योगदान है। खमीरीकरण की क्रिया से अंकुरण की तरह ही पोषक तत्त्वों की मात्रा में बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है तथा स्वाद में नवीनता भी आ जाती है। भोजन नरम व स्पंजी हो जाता है।

खमीरीकरण की परिभाषा (Definition of Fermentation)

खमीरीकरण शब्द का अर्थ है अणु जीवों (Micro-organisms) अथवा एन्जाइम्स (Enzymes) की उपस्थिति में वायु रहित (anaerobic) परिस्थिति में जटिल कार्बनिक पदार्थों का धीरे-धीरे अपघटन (Decomposition) होकर सरल पदार्थ में बदलना।

The term fermentation means the "breakdown of Carbohydrate or Carbonic material by micro-organisms or enzymes under anaerobic conditions into simpler constituents."

सामान्यत: कार्बोहाइड्रेट या कार्बोहाइड्रेट जैसे पदार्थों का खमीरीकरण वायु रहित एवं वायु की उपस्थिति में होता है; जैसे—

1. लेक्टोज का लेक्टिक एसिड में बदलना *स्ट्रप्टोकोकस लेक्टिस (Streptococus Lactis)* के द्वारा वायु रहित परिस्थिति में होता है।

$$\text{Lactose Lactic} \xrightarrow[\text{(Anaerobic)}]{\textit{Streptococus lactis}} \text{Lactic Acid}$$

2. एथिल ऐल्कोहॉल का एसिटिक अम्ल में बदलाव *एसीटोवेक्टर एसीटाई (Acetobactor aceti)* बैक्टीरिया की उपस्थिति में वायु के (Aerobic) मिलने पर होता है।

$$\text{Ethyl Alcohol} \xrightarrow[\text{(Aerobic)}]{\text{Acetobactor Aceti}} \text{Lactic Acid}$$

खमीरीकरण से हमारा तात्पर्य केवल कार्बोहाइड्रेट अथवा कार्बोनिक पदार्थों के अपघटन से है जबकि प्रोटीन एवं वसा का भी खमीरीकरण हाता है जो कि भोज्य पदार्थों को खराब करने में सहायक होते हैं। प्रोटीन का अपघटन करने वाले अणुजीव, प्रोटीन एवं नाइट्रोजन युक्त पदार्थों को अपघटन कर भोजन को खराब एवं बदबूदार बना देते हैं।

$$\text{Protein \& Nitrogenous Compounds} \xrightarrow[\text{(Organisms)}]{\text{Proteolytic}} \text{Putrid + Rotten Odour}$$

इसी तरह से वसा का अपघटन वसीय अणुजीवों के द्वारा वसीय अम्ल में हो जाता है जिससे कि भोज्य पदार्थ में अजीब तरह की गन्ध आने लगती है।

$$\text{Lipids} \xrightarrow[\text{(Hydrolyze)}]{\text{Lipolytic Organisms}} \begin{matrix}\text{Free Fatty Acids}\\ \downarrow \\ \text{Rancidity}\end{matrix}$$

उत्तम गुणवत्ता का खमीरीकृत भोज्य पदार्थ बनाने के लिए जरूरी है कि खमीरीकरण को नियन्त्रण में किया जाए अर्थात् प्रोटीन एवं वसा का खमीरीकरण नगण्य हो। यह तभी सम्भव है जबकि खमीरीकरण केवल—

1. उन्हीं पदार्थों का किया जाए जिसमें कि कार्बोज की मात्रा अधिक हो—जिससे कि कार्बोज के खमीरीकरण के पश्चात् उत्पन्न पदार्थ, प्रोटीन एवं वसीय अणुजीवों की बढ़त (Growth) को रोक देते हैं। कार्बोहाइड्रेट एवं उससे सम्बन्धित पदार्थ खमीरीकरण के पश्चात् अल्कोहल, अम्ल एवं कार्बन डाइ-ऑक्साइड बनाते हैं।

$$\text{कार्बोहाइड्रेट एवं सम्बन्धित अणुजीव} \xrightarrow[\text{(वायुरहित)}]{\text{सम्बन्धित पदार्थ}} \text{अल्कोहल + अम्ल + कार्बन डाइ-ऑक्साइड}$$

$$\text{Carbohydrates \& related Compounds} \xrightarrow[\text{(Anaerotric)}]{\text{Fermentative Organisms}} \text{Alcohal + Acis + } CO_2$$

2. खमीरीकरण करते समय भोजन में ऐसे पदार्थ मिला दिए जाएँ अथवा ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी जाएँ जिसमें कि प्रोटीन एवं वसा का खमीरीकरण करने वाले अणुजीव संख्या में बढ़ ही न सकें। जैसे चीज (Cheese) में हल्का-सा नमक मिला देने से प्रोटीन का अपघटन कम हो जाता है तथा चीज खराब होने से बच जाती है।

TOUCH 'n' PASS

3. भोज्य पदार्थ की अम्लीयता वायुरहित (Anaerobic) परिस्थिति में प्रोटीन एवं वसा के खमीरीकरण को रोकती है। यही भोज्य पदार्थ ऑक्सीजन अथवा वायु की उपस्थिति में खराब होने लगते हैं, क्योंकि ऑक्सीजन के मिलते ही अम्ल का खमीरीकरण हो जाता है जिससे पदार्थ की अम्लीयता समाप्त हो जाती है और प्रोटीन एवं वसा का खमीरीकरण ज्यादा होने लगता है।

खमीरीकरण की क्रिया को प्रभावित करने वाले घटक
(Factors affecting Fermentation)

खमीरीकरण का मतलब होता है कि यीस्ट (Yeast), लाभदायक अणुजीवी (Fermentative Organisms or Bacterias) एवं एन्जाइम्स (Enzymes) की अनगिनत वृद्धि। यह अणुजीवी वातावरण एवं भोज्य पदार्थों में आसानी से मिल जाते हैं। खमीरीकरण की क्रिया प्राकृतिक रूप से कराने के लिए यीस्ट को बाजार से भी प्राप्त किया जा सकता है। यह बाजार में केक (Cake) के रूप में मिलता है या अनाज का पेस्ट बनाकर कुछ घण्टे रख दिया जाता है जिससे वह पेस्ट फूल जाता है और खमीरीकरण के प्रयोग के लिए काम में लाया जा सकता है। इनकी वृद्धि के लिए केवल सही वातावरण की आवश्यकता होती है। यदि वातावरण सही नहीं होगा तो भोज्य पदार्थ का खमीरीकरण नहीं होगा। सही वातावरण के लिए निम्न बातों का होना आवश्यकहै—

1. **तापमान** (Temperature)—खमीरीकरण के लिए एक उचित तापमान की आवश्यकता पड़ती है। फ्रिज (Refrigerator) में रखी हुई वस्तुओं में खमीरीकरण नहीं होता है और न ही उबलते हुए पानी में भोज्य पदार्थों का खमीरीकरण होता है। खमीरीकरण के लिए उचित तापमान 28°C से 35°C के बीच होना चाहिए। 28°C से नीचे तापमान पर यीस्ट की वृद्धि बहुत कम हो जाती है तथा 50°C पर यीस्ट नष्ट होने लगती है।
2. **पी-एच०** (pH)—खमीरीकरण के लिए भोज्य पदार्थों का अम्लीय होना बहुत जरूरी है। खमीरीकरण के लिए सर्वाधिक उपयुक्त अम्लीयता (pH) 6–8 के बीच होनी चाहिए।
3. **आर्द्रता** (Humidity or Moisture)—अच्छे खमीरीकरण के लिए थोड़ी नमी की भी आवश्यकता होती है।

प्र.5. विभिन्न भोज्य पदार्थों का फॉर्टीफिकेशन करने की विधि का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

विभिन्न भोज्य पदार्थों का फॉर्टीफिकेशन
(Fortification of Various Food Materials)

1. **अनाज व उनसे निर्मित पदार्थों का फॉर्टीफिकेशन**—अनाज व उनसे बने विभिन्न पदार्थों को विटामिन व खनिज लवणों के द्वारा फॉर्टोफाई किया जाता है—
   (i) **आटे का फॉर्टोफिकेशन**—आटे की मिलिंग के बाद उसे पैक करने से पहले उसमें विटामिन व खनिज लवण का प्री-मिक्स (Premix) मिलाया जाता है। 100 पौण्ड आटे में 1 औंस प्री-मिक्स मिलाया जाता है। यह प्री-मिक्स थायमिन, राइबोफ्लेविन, नियासिन, कैल्सियम तथा लौह-लवण का मिश्रण होता है। रूबिन (Rubin) ने 1966 में यह सुझाव दिया था कि इस प्री-मिक्स में विटामिन E, B_6 तथा लाइसिन एमीनो अम्ल भी मिलाया जाना चाहिए। 1966 में ही जॉर्डन में सबसे पहले शुष्क रूप में विटामिन 'ए' आटे में मिलाया गया।

विभिन्न देशों में आटे के फॉर्टीफिकेशन के लिए बनाए गए स्टैण्डर्ड (मि०ग्राम/पौण्ड)

देश	थायमिन	राइबोफ्लेविन	नियासिन	कैल्सियम	आयरन
ब्राजील	2.1	1.1	—	1100	14
कनाडा	1.9	1.1	14	565	12–16
चाइल	2.0	0.6	6	—	6
डेनमार्क	2.3	2.3	—	900	14
इंग्लैण्ड	0.9	—	4	550	3
स्वीडन	1.8	0.5	10–18	—	14
अमेरिका	2.5	1.2–1.5	16–20	500–625	12–16.6

(ii) **ब्रेड का फॉर्टीफिकेशन**—पहले जब आटे का फॉर्टीफिकेशन नहीं किया जाता है, उस समय कुछ बेकरी में ब्रेड का फॉर्टीफिकेशन किया जाता था। यीस्ट, थायमिन व गेहूँ के जर्म (germ) को मिलाकर ब्रेड को अधिक पोषक बनाने की कोशिश की जाती थी। 1941 में ब्रेड में प्रोमिक्स, टेबलेट के द्वारा फॉर्टीफिकेशन किया जाने लगा। 1943 में थायमिन, नियासिन व लोह लवण के अलावा राइबोफ्लेविन भी मिलाया जाने लगा।

(iii) **मैकरोनी पदार्थ का फॉर्टीफिकेशन**—मैकरोनी पदार्थों में अतिरिक्त रूप से विटामिन व खनिज लवण मिलाए जाते हैं, क्योंकि मैकरोनी को ज्यादा पानी में पकाकर, उसका पानी फेंक दिया जाता है जिससे करीब 30–35% अधिक विटामिन व खनिज तत्त्वों की हानि देखी जाती है। पानी में प्रीमिक्स घोल कर उसे सूजी या आटे के मिश्रण में मिलाकर उसे मैकरोनी तैयार की जाती है।

(iv) **चावल का फॉर्टीफिकेशन**—चावल का फॉर्टीफिकेशन कई विधियों से किया जाता है। 1945 पर अमेरिकी वैज्ञानिकों ने प्रीमिक्स का उपयोग कर चावल को दृढ़ किया। इसमें चावल पर थायमिन, नियासिन व लौह लवण के घोल की एक परत चढ़ाई जाती थी तथा फिर इस पर एक अन्य परत चढ़ाई जाती थी जो कि पहले वाली परत को पानी के सम्पर्क से बचाए रखती थी। इस तरह के चावल को साधारण चावल में 1 अनुपात 200 के हिसाब से मिलाया जाता था। दूसरी विधि में चावल पर विटामिन व लौह लवण की परत चढ़ाकर ऊपर से पानी प्रतिरोधी व कैल्सियम फॉस्फेट की दूसरी परत चढ़ा दी जाती थी। तीसरी विधि में प्रीमिक्स के पाउडर से चावल के आकार के दाने ही बना लिए जाते हैं तथा इन्हें चावल में 1 : 200 के अनुपात में मिला दिया जाता है। इस विधि का यह फायदा है कि इसमें पानी प्रतिरोधक परत की आवश्यकता नहीं होती।

विभिन्न देशों में पॉलिश किए गए चावल के फॉर्टीफिकेशन के स्टैण्डर्ड (मि० ग्राम/पौण्ड)

देश	थायमिन	राइबोफ्लेविन	नियासिन	कैल्सियम	आयरन
अमेरिका					
(निम्नतम)	2.0	12	16.0	500	13
(अधिकतम)	3.0	1.8	32.0	750	26
थाईलैण्ड	2.0	12	12.0	—	13
फिलीपिन्स	2.0	—	16.0	—	13

(v) **ब्रेकफास्ट अनाजों का फॉर्टीफिकेशन**—इनके निर्माण के समय काफी मात्रा में विटामिनों की हानि देखी जाती है। अत: निम्नलिखित पोषक तत्त्व मिलाकर इनका पोषण मूल्य बढ़ाया जा सकता है—

पोषक तत्त्व	निम्नतम मात्रा (मि०ग्रा०/औंस)	अधिकतम मात्रा (मि०ग्रा०/औंस)
थाइमिन	0.12	0.25
राइबोफ्लेबिन	0.03	0.06
नियासिन	1.1	2.2
आयरन	0.7	1.5

2. **दूध, दूध से बने पदार्थों व वसा का फॉर्टीफिकेशन**

(i) **दूध से बने पदार्थ**—गाय के दूध में विटामिन डी, विटामिन सी, विटामिन B_6, फोलिक एसिड व लौह लवण की मात्रा कम होती है। अधिकतर देशों में दूध को विटामिन डी से ही फोर्टीफॉई किया जाता है। अमेरिका में विटामिन डी के अलावा अन्य पोषक तत्त्व भी मिलाए जाते हैं। भारतवर्ष में तैयार किए जाने वाले 'इन्फेंट मिल्क फूड' में विटामिन A, E, C, B_6 तथा लौह लवण मिलाया जाता है।

साधारण दूध व दृढ़ किए गए दूध में विटामिन व खनिज लवण की मात्रा

पोषक तत्त्व	निम्नतम मात्रा (मि०ग्रा०/औंस)	अधिकतम मात्रा (मि०ग्रा०/औंस)
विटामिन A (I. U.)	500–1000	4000
विटामिन D (I. U.)	5.15	400
विटामिन B_1 (mg)	0.35–0.40	1
विटामिन B_2 (mg)	1.5	2
विटामिन B_3 (mg)	0.2–1.2	10
लौह-लवण (mg)	2.26	10
आयोडीन (mg)	0.04–0.07	0.1

(ii) **मार्गरिन व हाइड्रोजिनेटेड फैट**—मार्गरिन का उपयोग मक्खन के स्थान पर किया जाता है तथा इसे अक्सर विटामिन ए व डी से फार्टीफॉइ किया जाता है। हाइड्रोजिनेटेड फैट को वनस्पति के नाम पर उपयोग में लाय जाता है। इसे विटामिन ए से फार्टीपॉय करना भारत में आवश्यक बना दिया जाता है। वनस्पति घी के एक लीटर में 22400 I. U. विटामिन A मिलाया जाता है।

3. **कार्बोहाइड्रेट एवं शर्करा से निर्मित पदार्थों को दृढ़ता प्रदान करना**—ऐसे भोज्य पदार्थों को जिसमें कार्बोहाइड्रेट्स अथवा शर्करा की अधिकता होती है उनसे उचित प्रयोग के लिए थायमिन एवं नियासिन की को-एन्जाइमों के रूप में आवश्यता पड़ती है। अत: ऐसे भोज्य पदार्थों को इन विटामिनों से दृढ़ कर अधिक ऊर्जा प्राप्ति की जाती है।
4. **फलों के रस एवं डिब्बाबन्द फलों को विटामिन 'सी' से दृढ़ करना।**
5. **नमक को आयोडीन द्वारा दृढ़ता प्रदान करना**—एक किलोग्राम नमक में 80 मिली ग्राम आयोडीन मिलाकर नमक और दृढ़ बना दिया जाता है (W.H.O.) के द्वारा भी इसे मान्यता प्राप्त है। भारत सरकार ने भी अब बिना आयोडीन वाला नमक बेचने पर प्रतिबन्ध लगा दिया है।
6. **अमीनो एसिड द्वारा दृढ़ प्रदान करना**—कुछ भोज्य पदार्थों में उच्चकोटि की प्रोटीन नहीं होती है अथवा उनमें स्वास्थ्य के लिए आवश्यक अमीनो एसिड की कमी होती है तो उन भोज्य पदार्थों की कमी वाले अमीनो एसिड मिलाकर उन्हें दृढ़ बना दिया जाता है।

उदाहरण—अनाजों का P. E. R. (Protein Efficiency Ratio) लाइसिन एवं थ्रियोनिन अमीनों एसिड को मिलाकर बनाया जा सकता है।

दालों एवं फलियों में मिथियोनिन मिलने से इनका P.E.R. 50–100% तक बढ़ाया जा सकता है।

मिथियोनिन मिलाने से गाय के दूध का P.E.R. मानव के दूध के समान हो जाता है।

❐

TOUCH 'n' PASS

PART–B

UNIT-V

मानव विकास का परिचय
Introduction to Human Development

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. बालक द्वारा विकास के विश्लेषण में किन तथ्यों का समावेश होता है?

उत्तर बालक विकास के अर्थ के विश्लेषण में निम्नलिखित तथ्यों का समावेश होता है—

1. मानव विकास एक सकारात्मक विज्ञान है।
2. मानव विकास गर्भावस्था से लेकर परिपक्वावस्था तक का अध्ययन है।
3. मानव विकास बालक के मानसिक विकास का अध्ययन करता है।
4. मानव विकास शारीरिक विकास का अध्ययन करता है।
5. मानव विकास अपनी विषय-सामग्री का अध्ययन विकासात्मक दृष्टिकोण से करता है।

प्र.2. वैज्ञानिक आइजनेक ने विकास के विषय में क्या कहा है?

उत्तर **आइजनेक** ने विकास के विषय में कहा है, "मानव में होने वाले परिवर्तन के क्रम की तीन अलग-अलग अवस्थाएँ होती हैं—

1. **विवृद्धि**—गर्भावस्था से परिपक्वावस्था तक होने वाले परिवर्तन वृद्धि के होते हैं।
2. **रचनात्मक परिवर्तन**—यह परिपक्वता की अवस्था में मनुष्य में परिपक्वता लाते हैं।
3. **ह्रास**—यह वह अवस्था है जब मानव प्रकृति ह्रास की हो जाती है अर्थात् वृद्धावस्था। इन विभिन्न अवस्थाओं में मानव दो प्रकार के परिवर्तन होते हैं—
   (i) सामान्य जो प्रत्येक मनुष्य में होते हैं।
   (ii) विशिष्ट परिवर्तन। यही विकास की प्रक्रिया है। बाल विकास में बालक के सर्वांगीण विकास के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया जाता है।

प्र.3. प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक हरलॉक ने बाल मनोविज्ञान तथा बाल विकास में क्या अन्तर बतलाए हैं?

उत्तर प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक **हरलॉक** ने बाल मनोविज्ञान तथा बाल विकास में निम्न अन्तर बतलाए हैं—

1. बाल विकास बालक के वातावरण एवं अनुभवों के प्रभाव को बाल मनोविज्ञान की अपेक्षा अधिक महत्त्व देता है।
2. बाल विकास बच्चे की विकासात्मक प्रक्रिया, उनकी प्रक्रियाओं में होने वाले क्रमिक बदलाव का अध्ययन करते हैं।
3. बाल विकास जब शिशु गर्भ में रहता है, तभी से उसका अध्ययन होता है परन्तु बाल मनोविज्ञान का अध्ययन शिशु के जन्म के पश्चात् शुरू होता है।
4. बाल विकास बालक की उम्र बढ़ने के साथ-साथ बालक के शारीरिक व्यवहार, रुचि तथा लक्ष्यों में हुए परिवर्तनों का अध्ययन करता है। बाल मनोविज्ञान बच्चों में आए परिवर्तनों के कारण परिवर्तनों से उनके व्यवहार का अध्ययन करता है।

TOUCH 'n PASS

प्र.4. बालक विकास के महत्त्व बताइए।

उत्तर बालक विकास को प्रभावित करने वाले तत्त्व निम्न प्रकार हैं—

1. वंशानुक्रम एवं वातावरण, 2. परिपक्वन, 3. शिक्षण एवं प्रशिक्षण, 4. वैयक्तिक विभिन्नता, 5. सामाजिक संगठन, 6. संस्कृति, 7. आर्थिक स्तर, 8. पोषण, 9. शुद्ध वायु व प्रकाश, 10. पारिवारिक वातावरण।

प्र.5. बालक विकास के अन्तर्गत विभिन्न असामान्यताओं के अध्ययन लिखिए।

उत्तर बाल विकास के अन्तर्गत न केवल सामान्य विशेषताओं व क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। बल्कि बालकों में असामान्यताओं का भी अध्ययन किया जाता है—

1. भाषा विकास दोष, 2. कुसमायोजन, 3. मानसिक रोग, 4. मानसिक न्यूनता, 5. बाल अपराध।

मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान के मूल सिद्धान्तों का अध्ययन (Study of the Basic Principles of Mental Hygiene) बाल विकास के अन्तर्गत असमान्ताओं के स्वरूप व उनके कारणों के अलावा उनके निराकरण के उपायों का अध्ययन किया जाता है। मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान के मूल सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाता है।

प्र.6. पूर्व किशोरावस्था की विशेषताएँ लिखिए।

उत्तर पूर्व किशोरावस्था की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं—

1. इस अवधि में विकास द्रुतगति से होता है।
2. इसकी अवधि लघु होती है।
3. लैंगिक शक्तियों का विकास भी होता है।
4. बालकों में पुरुषत्व तथा बलिकाओं में नारीत्व का विकास होता है।
5. इस अवधि में नकारात्मक की प्रवृत्ति अधिक मिलती है।
6. इस अवधि में चपलता, अस्थिरता एवं कौतूहल का प्रादुर्भाव होता है।

प्र.7. विकास की प्रमुख अवस्थाएँ बताइए।

उत्तर व्यक्ति का विकास चार अवस्थाओं में होता है—

1. शैशवावस्था जन्म से 5 से 6 वर्ष तक
2. बाल्यावस्था 5 या 6 वर्ष से 12 वर्ष तक
3. किशोरावस्था 12 से 18 वर्ष तक
4. प्रोढ़ावस्था 18 वर्ष के बाद।

प्र.8. वंशानुक्रम तथा वातावरण के प्रभाव को समझाइए।

उत्तर व्यक्ति के विकास में वंशानुक्रम के साथ-साथ, उसको मिलने वाले प्रारम्भिक वातावरण की प्रमुख तथा सार्थक भूमिका होती है, मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि जीवन के प्रारम्भिक कुछ महीनों/वर्षों का वातावरण व्यक्ति को अत्यधिक प्रभावित करता है। प्रारम्भिक वातावरण की सम्पन्नता होने पर वृद्धि तथा विकास की प्रक्रिया को गति एवं वांछित दिशा मिलती है। प्रोत्साहन वातावरण नि:सन्देह प्राणी के विकास को वंशानुक्रम तथा वातावरण परस्पर अन्तर्क्रिया करते हुए प्रभावित करते हैं।

प्र.9. विकास के मुख्य पहलुओं को बताइए।

उत्तर विकास की प्रत्येक अवस्था का अध्ययन निम्नलिखित पहलुओं के सन्दर्भ में किया जा सकता है—

1. शारीरिक विकास, 2. मानसिक विकास, 3. सामाजिक विकास, 4. गामक विकास, 5. संवेगात्मक विकास, 6. चारित्रिक विकास, 7. भाषा विकास।

प्र.10. वर्णान्ध माता और सामान्य पिता से किस प्रकार की सन्तानें उत्पन्न होती हैं?

उत्तर वर्णान्ध माता और सामान्य पिता से संकर लड़कियाँ वर्णान्ध नहीं जबकि वर्णान्ध लड़के उत्पन्न होते हैं।

TOUCH 'n' PASS

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. मानव विकास के अर्थ एवं परिभाषा की विवेचना कीजिए।

उत्तर

मानव विकास का अर्थ
(Meaning of Human Development)

किसी शब्द के वास्तविक अर्थ को समझने से पूर्व उस शब्द के शाब्दिक अर्थ को जानने की आवश्यकता होती है। शाब्दिक अर्थ (Etymological) के ज्ञान से शब्द की उत्पत्ति के विषय में जानकारी हो जाती है, साथ ही अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। मानव विकास शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है। मानव या बालक (Child) तथा विकास (Development)।

मानव का अर्थ (Meaning of Human)—बालक का तात्पर्य बाल्यावस्था (Childhood) अर्थात् जन्म से 12 वर्ष तक के व्यक्तियों से लगाते हैं किन्तु बाल विकास के अन्तर्गत बालक का गर्भावस्था (Conception) से लेकर युवावस्था (Youthhood) या परिपक्वावस्था (Maturity) तक के बालक से लगाते हैं। बाल विकास के अन्तर्गत बालक का तात्पर्य गर्भावस्था से युवावस्था के परिपक्वावस्था तक के व्यक्ति से है जिसमें विकास के साथ-साथ रचनात्मक परिवर्तन भी होते हैं।

विकास का अर्थ (Meaning of Development)—विकास एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसका प्रारम्भ गर्भाधान से होता है। यह जीवन-पर्यन्त किसी न किसी रूप में चलता रहता है। जन्म से पूर्व गर्भावस्था से विकास प्रारम्भ हो जाता है। आन्तरिक वातावरण से बाह्य वातावरण में आता है। प्राणी के जीवन विकास में शारीरिक, मानसिक क्षमताओं के स्वरूप में जो क्रमगत परिवर्तन होते हैं, उन्हीं को विकास कहते हैं। प्रथम अवस्था में रचनात्मक परिवर्तन होते हैं। दूसरी अवस्था में ह्रास के लक्षण अभिव्यक्ति होते हैं। विकास को तीन भागों में विभाजित किया गया है—उत्पत्ति (Origin), वृद्धि (Growth) एवं अपकर्ष (Fall)। यह क्रम में अद्‌भुत होते हैं। विकास प्राणी में पायी जाने वाली उस स्वाभाविक प्रक्रिया को कहते हैं जिसमें प्राणी में गर्भाधान से लेकर वृद्धावस्था तक अनेक क्रमिक शारीरिक व मानसिक परिवर्तन होते हैं।

मानव विकास की परिभाषाएँ
(Definitions of Human Development)

बाल विकास का अर्थ स्पष्ट करने के लिए विभिन्न विद्वानों ने उसकी परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं जो इस प्रकार हैं—

हरलॉक के अनुसार, "बाल विकास का क्षेत्र मनोवैज्ञानिक शोधों की वह शाखा है जो युवक का गर्भाधान से युवक होने तक अर्थात् ऐसे व्यक्ति को जो कि सेक्स की दृष्टि से परिपक्व होता है। किन्तु उसे प्रौढ़ावस्था से सम्बन्धित अधिकारों, सुविधाओं तथा उत्तरदायित्वों को रखने की दृष्टि से परिपक्व नहीं समझा जाता है, का अध्ययन करती है।"

बाल विकास बाल मनोविज्ञान का विकसित स्वरूप है। बाल मनोविज्ञान एवं बाल विकास का एक ही अर्थ है।

क्रो एवं क्रो के अनुसार, "बाल मनोविज्ञान वह विज्ञान है जो व्यक्ति के विकास का वैज्ञानिक अध्ययन गर्भकाल से किशोरावस्था तक करता है।"

जेम्स ड्रेवर के अनुसार, "बाल मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की वह शाखा है जो प्राणी के विकास का अध्ययन जन्म से परिपक्वावस्था तक करती है।"

उपर्युक्त सभी परिभाषाएँ बाल मनोविज्ञान बाल विकास की ही शाखा है, ऐसा साबित करती हैं क्योंकि बालक के विकास, व्यवहार, विकास को प्रभावित करने वाले विभिन्न पहलुओं के अध्ययन का क्षेत्र इसके अन्तर्गत आता है।

प्र.2. बचपनावस्था और उसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर

बचपनावस्था (Babyhood)

इस अवस्था की अवधि 2 सप्ताह से लेकर 2 वर्ष तक रहती है। इसमें शिशु असहाय अवस्था में रहता है और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आत्मनिर्भर न होकर पराश्रयी बना रहता है। इस अवस्था में शारीरिक एवं गर्भिक विकास परिलक्षित होते हैं। इस अवस्था में शिशु लेटने, बैठने और चलने-फिरने लगता है। उसमें वस्तुओं को छूने तथा हाथ फैलाने और उसे पकड़ने की गति पाई जाती है। शैशवावस्था में कई प्रवृत्तियाँ भी जन्म लेती हैं जैसे—निर्भरता, जिज्ञासा, तोड़फोड़ और अनुकरण की प्रवृत्ति। जिज्ञासा और अनुकरण की प्रवृत्ति प्रबल रहती है। शिशु का भाषा विकास भी प्रारम्भ हो जाता है। वह अस्पष्ट ध्वनियाँ तथा बलबलाने की क्रिया शुरू करता है। आठवें माह में बलबलाने का विकास हो जाता है। धीरे-धीरे वह एक शब्द का उच्चारण करने लगता है। यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें शिशु हँसना, नाराज होना, तोड़फोड़ करना, खेलना, खाना-पीना ग्रहण करना सीख लेता

है। इस अवस्था में मानसिक विकास भी थोड़ा बहुत हो चुका रहता है। वह कठिन समस्या के समय यथासम्भव हल करने का प्रयास करता है। यदि असफल हो जाता है तो रोता है। उसमें हँसी, खुशी, क्रोध, भय, घृणा, प्रेम, ईर्ष्या, द्वेष और आश्चर्य हर्ष आदि संवेगों का विकास होता है। नवजात शिशु में जन्म के समय कोई सामाजिक व्यवहार नहीं परिलक्षित होता है। जब वह निर्जीव एवं सजीव पदार्थों में अन्तर जानने लगता है तब उसमें सामाजिक व्यवहार प्रारम्भ होता है। बचपनावस्था में कुछ विशेष महत्त्व की बातें परिलक्षित होती हैं जो निम्नवत् हैं—

1. बचपनावस्था में वृद्धि एवं परिवर्तन की गति अति तीव्र होती है।
2. बचपनावस्था में पराश्रितता की समस्या कुछ कम हो जाती है।
3. बचपनावस्था में दिन समय, वजन, स्व-सामाजिक सौन्दर्य एवं हँसी सम्प्रत्ययों का विकास होता है।
4. बचपनावस्था में बीमारी, दुर्घटना तथा मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों से समायोजन आवश्यक होता है।
5. बचपनावस्था जीवन की आधारशिला है।

बचपनावस्था में जीवन के प्रथम दो वर्षों में वंशानुक्रम एवं पर्यावरण के प्रभाव से उसमें अनेक शीलगुण (Traits) आदतों (Habits) तथा व्यवहारों का विकास होता है। इस अवस्था में सामाजिक समझ का भी विकास होता है।

प्र.3. किशोरावस्था को परिभाषित कीजिए तथा इसकी प्रमुख विशेषताएँ बताइए।

उत्तर

किशोरावस्था (Adolescence)

इसका प्रसार 13-14 वर्ष से 17 वर्ष तक चलता है। इसी अवस्था में बालक एवं बालिकाओं में पुनरोत्पादन (Reproduction) कि क्षमता पायी जाती है। इस अवस्था में बालकों का शारीरिक, सामाजिक एवं मानसिक विकास चरम सीमा पर होता है। बालकों में बालिकाओं की तुलना में लैंगिक परिपक्वता विलम्ब में पायी जाती है। लैंगिक भावनाओं का जन्म इसी अवस्था में होता है। इसके फलस्वरूप किशोर एवं किशोरियों की अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इसी अवस्था में लड़कियों में मासिक धर्म शुरू हो जाती है। लड़कों की आवाज भारी हो जाती है। लड़कियों में वक्षस्थल तथा कूल्हें बढ़ने लगते हैं। लड़कियों की आवाज में कोमलता तथा मधुरता आने लगती है। इस अवस्था में सीखने की शक्ति प्रगाढ़ होती है। कल्पना की संकुलता के कारण नवकिशोर कल्पना जगत में बहुत विचरण करने लगता है। दिवास्वप्न खूब देखता है। स्वतन्त्र रहना पसन्द करता है। रुचियाँ अधिक गहरी तथा स्थायी होती हैं। विपरीत लिंगो के प्रति आकर्षण बढ़ने लगता है। इस अवस्था में भय, आकुलता, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, हर्ष प्रेम और कामवृत्ति; जैसे संवेग पाए जाते हैं। सिरिल वर्ट के अनुसार इस अवस्था में आपराधिक प्रवत्ति भी जन्म ले लेती है। इस अवस्था में टोली और समूह का बहुत प्रभाव पड़ता है। नैतिक विकास भी चरम सीमा पर होता है। कामप्रवृत्ति का ज्वारभाटा उठने लगता है। रुचियाँ बढ़ने लगती हैं निर्णय लने की क्षमता प्रदर्शित होने लगती है। बालक तथा बालिकाएँ पूरी तरह से परिपक्व लगते हैं। उनका व्यवहार परिमार्जित लगता है। तथा अनुशासन की प्रवृत्ति भी जन्म ले लेती है। इस अवस्था की प्रमुख विशेषताएँ निम्नवत् हैं—

1. इस अवधि में आन्तरिक परिवर्तन अधिक होता है।
2. इस अवस्था में विपरीत लिंगों के प्रति आकर्षण प्रमुख विशेषता है।
3. शारीरिक एवं लैंगिक परिपक्वता चरम सीमा पर होती है।
4. सामाजिक, नैतिक एवं मानसिक विकास भी तीव्रगति से होते हैं।
5. नवीन मूल्यों का अर्जन भी किया जाता है।
6. अहम् तादात्म्य की समस्या सर्वोपरि होती है।
7. किशोर एवं किशोरियों का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अवास्तविक अधिक होता है।

प्र.4. वृद्धावस्था से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर वृद्धावस्था (Old Age) विकास श्रृंखला की अन्तिम एवं महत्त्वपूर्ण अवस्था वृद्धावस्था है। इस अवस्था का प्रसार 60 वर्ष से लेकर व्यक्ति के मृत्यु तक है। यह आराम और शांत की अवस्था है। इस अवस्था में शारीरिक एवं मानसिक ह्रास दोनों होता है। वृद्धावस्था में काफी समस्याएँ जन्म ले लेती हैं। इस अवस्था में ह्रास की गति तीव्र होती है। व्यक्ति की कार्यक्षमता एवं सक्रियता में कमी आ जाती है। इस अवस्था को परिभाषित करते हुए हेनरी एवं कूमिंग (1953) ने लिखा है कि वृद्धावस्था जीवन की वांछित एवं पूर्व अवधियों से दूर होना है, ये पहले की अवस्थाएँ, उपयोग की अवस्थाएँ हैं।

"Old age is a period of moving away from some previous and more desirable period—The prime of life or the years of usefulness."

यह ऐसी अवस्था है जिसमें व्यक्ति कार्य से अवकाश प्राप्त करता है। कार्यावकाश के कारण उसका जीवन अमर हो जाता है। समय बिताना उसके लिए भार एवं कष्टमय हो जाता है। निष्क्रियता बढ़ जाती है। वह अपने को असहाय एवं असमर्थ समझने लगता है। पारिवारिक दायित्व का निर्वाह करना मुश्किल लगने लगता है। उसकी जिन्दगी दिशाविहीन एवं लक्ष्यविहीन लगने लगती है। इन कारणों से उसमें नैराश्य, हताशा एवं चिन्ता बढ़ने लगती है। जीवन के हरक्षेत्र में समायोजन करना मुश्किल हो जाता है। वृद्धावस्था ह्रास की अवधि है। इस अवधि में शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार के ह्रास होते हैं। शारीरिक क्षमता लगभग समाप्त होने लगती है। पुनरोत्पादक क्षमता में भी कमी आ जाती है। Tenny (1984) के अनुसार व्यक्ति इस अवधि में रह-रहकर बातें करता है तथा उसके अवधान में भी कमी आ जाती है। वृद्धावस्था में लोग एकाकीपन ज्यादा अनुभव करते हैं। वे परिवार में होने के बावजूद स्वयं को अकेला समझते हैं। उसका कारण यह है कि लोग वृद्धों से बात नहीं करते हैं तथा उन्हें भारस्वरूप समझने लगते हैं। इस अवस्था में वही व्यक्ति व्यर्थ समझा जाने लगता है जो अपने पहले की अवस्थाओं में एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति समझा जाता था। वृद्धों की स्थिति अल्पसंख्यकों जैसी हो जाती है। उसका सामाजिक सम्बन्ध कम होने लगता है। लोग इन्हें असहाय, निरक्षेप एवं मानसिक तथा शारीरिक रूप में विघटित मानने लगते हैं।

प्र.5. विकास प्रक्रिया सम्बन्धी परिवर्तन की विवेचना कीजिए।

उत्तर

विकास प्रक्रिया सम्बन्धी परिवर्तन
(Changes Related to Developmental Process)

विकास प्रक्रिया में परिवर्तन सन्निहित रहते हैं। इन परिवर्तनों को सामान्यत: चार भागों में बाँटा जा सकता है—

1. **आकार में परिवर्तन** (Changes in Size)—बालक जैसे-जैसे बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उसके शरीर के अंग-प्रत्यंगों में बढ़ोत्तरी एवं परिवर्तन दिखायी पड़ता है। उसका सिर, धड़, आँखें, आँतें, फेफड़े का आकार बढ़ने लगता है। उसका मानसिक विकास भी होता है। जिसके फलस्वरूप उसकी कल्पना शक्ति, अवधान, स्मृति तथा चिन्तन आदि शक्तियों का विकास होता है। शब्दकोषीय क्षमता में भी वृद्धि होती है। इन परिवर्तनों का अनुमान मनोवैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा सम्भव है।
2. **अनुपात में परिवर्तन** (Changes in Proportion)—शरीर के प्रत्येक भाग का विकास एवं परिवर्तन अलग-अलग होता है। हम देखते हैं कि बालक एवं प्रौढ़ में आनुपातिक अन्तर होता है। बालक प्रौढ़ के अनुपात में, अनुभवहीन, तर्कशून्य और अवास्तविक होता है। परन्तु आयु वृद्धि के फलस्वरूप उसमें परिवर्तन होता है। 6 वर्ष का बालक केवल आकार में ही बड़ा नहीं होता है बल्कि वह सामान्यत: समानुपातिकता और गुण में भी शिशु से अलग होता है। इसी तरह से प्रारम्भ में बच्चों की रुचि केवल अपने खिलौने तक ही सीमित रहती है। परन्तु आयु वृद्धि के फलस्वरूप उसकी रुचि पर्यावरण की अन्य वस्तुओं में बढ़ती है और स्वयं के प्रति घटने लगती है। इसी तरह से किशोरावस्था में व्यक्तियों की रुचि विपरीत लिंगों के प्रति बढ़ जाती है।
3. **पुराने लक्षणों का लोप** (Disappearance of Old features)—विकास के दौरान जहाँ एक ओर नवीन गुणों तथा विशेषताओं का जन्म होता है वहीं दूसरी ओर पुराने गुणों एवं आकृतियों का लोप भी होता है। **उदाहरणार्थ**—छोटी आयु में बालक घुटने के बल चलता है पर बड़ा होने पर पैर के सहारे चलने लगता है। उसका घुटने से चलना बन्द हो जाता है। अर्थात् उसका लोप हो जाता है। इसी तरह से सोचने की क्रिया के साथ बोलने की क्रिया का लोप हो जाता है। मनोवैज्ञानिकों का मतानुसार छाती में स्थित थाइमस ग्रन्थि और मस्तिष्क में स्थित पीनियल ग्रन्थि का बालक की आयु बढ़ने पर लोप हो जाता है।
4. **नए शीलगुणों का अर्जन** (Acquisition of New traits)—परिपक्वीकरण से बालक में नए गुणों का विकास होता है। शैशवावस्था में उसके दाँत उगने लगते हैं और किशोरावस्था में दाढ़ी, मूँछे निकलने लगती हैं। इसी प्रकार जिज्ञासा की प्रवृत्ति की अभिवृद्धि से वह नैतिक एवं धार्मिक मूल्यों में अभिरुचि लेने लगता है। किशोरावस्था में लैंगिक जानकारी, लैंगिक आवश्यकता का विकास, धार्मिक विकास, भाषा विकास एवं स्नायु बालक प्रवृत्तियाँ प्रमुख हैं।

प्र.6. अभिवृद्धि तथा विकास में अन्तर प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर

अभिवृद्धि तथा विकास में अन्तर

क्र०सं०	अभिवृद्धि	विकास
1.	अभिवृद्धि का स्वरूप बाह्य है।	विकास आन्तरिक गुण है।
2.	अभिवृद्धि सजीव वस्तुओं में एक निश्चित समय तक होती है।	विकास जीवन-पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है।

3.	अभिवृद्धि विकास का एक अंग है।	विकास स्वयं में एक पूर्ण प्रक्रिया है जो वृद्धि को स्वयं समेटे रहता है।
4.	अभिवृद्धि का कोई निश्चित क्रम नहीं है।	विकास क्रमबद्ध प्रक्रिया है।
5.	अभिवृद्धि की कोई निश्चित दिशा नहीं है।	विकास की एक निश्चित दिशा होती है।
6.	अभिवृद्धि का कोई लक्ष्य नहीं होता।	विकास लक्ष्य केन्द्रित है।
7.	अभिवृद्धि को मापा जा सकता है।	विकास का सीधा मापन सम्भव नहीं है।
8.	अभिवृद्धि केवल शारीरिक स्तर पर हाती है।	यह समस्त पक्षों में संयुक्त रूप से होता है।
9.	अभिवृद्धि के फलस्वरूप होने वाले परिवर्तन देखे जा सकते हैं।	विकास को देख पाना सम्भव नहीं है।

प्र.7. अभिवृद्धि तथा विकास के स्तर को समझाइए।

उत्तर

विकास के स्तर
(Stages of Development)

सभी मानव जीवों में अभिवृद्धि तथा विकास के विशेष स्तर होते हैं। एक स्तर की विशेषताएँ तथा व्यवहार दूसरे से भिन्न होते हैं। इसलिए शिक्षकों को विभिन्न स्तरों का ज्ञान होना आवश्यक है। विभिन्न स्तरों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में विभिन्न विशेषज्ञों ने स्पष्ट किया है। निम्न सारणी से यह स्पष्ट है—

वर्गीकरण का स्तर

क्र०सं०	मनोवैज्ञानिक			वर्गीकरण (स्तर)	आयु
1.	**रॉस**		(क)	शिशुकाल	1-3 वर्ष
			(ख)	आरम्भिक बचपन	3-6 वर्ष
			(ग)	बाद का बचपन	6-12 वर्ष
			(घ)	कैशौर्य	12-18 वर्ष
2.	**सेले**		(क)	शिशुकाल	1-5 वर्ष
			(ख)	बचपन	5-12 वर्ष
			(ग)	कैशौर्य	12-18 वर्ष
3.	**कोलेसनिक**		(क)	जन्म से पहले	गर्भाधान से जन्म तक (3-4 सप्ताह)
			(ख)	जन्म के तुरन्त बाद	1 या 2-15 महीने
			(ग)	आरम्भिक शिशुकाल	15-30 महीने
			(घ)	बाद का शिशुकाल	2.5-5 वर्ष
			(ङ)	आरम्भिक बचपन	5-9 वर्ष
			(च)	बाद का बचपन	9-12 वर्ष
			(छ)	कैशौर्य	12-21 वर्ष
4.	**रूच**	(i)	**जन्म से पहले का काल—**		गर्भाधान से 250 दिन तक
			(क)	गर्भाधान	0-2 सप्ताह
			(ख)	आरम्भिक भ्रूणावस्था	2-10 सप्ताह
			(ग)	बाद की भ्रूणावस्था	10 सप्ताह से जन्म तक

TOUCH n PASS

		(ii)	**बचपन**—		(जन्म से 3 वर्ष तक)
			(क)	शिशुकाल	जन्म से 3 वर्ष
			(ख)	आरम्भिक बचपन	3-6 वर्ष
			(ग)	बाद का बचपन	6-12 वर्ष
		(iii)	**कैशौर्य**		12-19 वर्ष
		(iv)	**प्रौढ़ता**		20 वर्ष

प्र.8. जाइगोट की संरचना की व्याख्या कीजिए।

उत्तर जाइगोट (Zygote) **की संरचना**—डिम्ब के तीन भाग होते हैं—कोशिका भित्ति, जीवद्रव्य, केन्द्रक। डिम्ब के चारों ओर सुरक्षा के लिए कोशिका भित्ति होती है जो अन्दर के भागों की रक्षा करती है इन्हीं कोशिका भित्ति के अन्दर जीवद्रव्य होता है जिससे डिम्ब पोषित होते हैं। बीच केन्द्रक होता है जो प्रोटीन की बनी धागेदार संरचनाएँ होती हैं। इन धागेदार संरचनाओं को क्रोमोसोम्स कहते हैं। इन्हीं क्रोमोसोम्स में जीन्स पाए जाते हैं।

जीन्स छोटे-छोटे कणदार संरचनाएँ हैं जो क्रोमोसोम्स में रहती हैं। इन्हीं के द्वारा गुण व दोषों का निर्धारण होता है। माता-पिता के विभिन्न गुणों का स्थानान्तरण नए जीव में क्रोमोसोम्स के द्वारा ही होता है। इसलिए इन्हें आनुवंशिकता का वाहक कहा जाता है। ये 46 होते हैं। इनमें असंख्य जीन्स पाए जाते हैं। इनमें 23 माता के और 23 पिता के होते हैं। माता के क्रोमोसोम्स एक ही प्रकार के होते हैं जिन्हें X क्रोमोसोम्स कहा जाता है। पिता में X तथा Y दोनों प्रकार के क्रोमोसोम्स होते हैं। पिता के शुक्राणु में 22 जोड़े क्रोमोसोम्स एक तरह के होते हैं। एक अलग होता है जिसे XY नाम दिया गया है। इन्हें सेक्स क्रोमोसोम कहते हैं क्योंकि लिंग निर्धारण यही करता है। X क्रोमोसोम्स का आकार बड़ा होता है तथा Y का छोटा होता है।

प्र.9. वातावरण के पक्ष में विभिन्न अध्ययनों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

वातावरण के पक्ष में अध्ययन
(Studies in Favour of Environment)

वातावरण को प्रभावित करने व प्रभाव को जानने के लिए कई अध्ययन किए गए हैं—

1. **वुडवर्थ** (Woodworth) **का अध्ययन**—वुडवर्थ ने अनाथ बच्चों पर परीक्षण किया व निष्कर्ष निकाला कि अच्छा वातावरण मिलने पर इन बच्चों का विकास माता-पिता के घरों की तुलना में अच्छा हुआ।
2. **स्कील्स** (Skeels) **का अध्ययन**—इन्होंने 150 ऐसे अवैध बच्चों का अध्ययन किया जिनके वंशानुक्रम का कोई ज्ञान नहीं था। इन बालकों को अनाथालय में रखा। समय-समय पर बालकों की बुद्धि का परीक्षण किया। दो वर्ष के बाद बुद्धिलब्धि बढ़ गई। बुद्धि विकास पर वातावरण का प्रभाव पड़ता है।
3. **गोर्डन** (Gordan) **का अध्ययन**—इन्होंने नदी के किनारे दो नाविकों के बच्चों का अध्ययन किया। उनकी बुद्धि कम होने का कारण मानसिक वातावरण का अभाव बताया क्योंकि वे समाज से अलग नदीं के किनारे रहते थे।
4. **वाटसन का विचार**—वाटसन (Watson) वातावरण के प्रबल समर्थक हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक 'Behaviourism' में लिखा है, "तुम मेरे पास एक दर्जन बच्चों को लाओ। उनके उचित विकास के लिए मेरा मनचाहा वातावरण उपस्थित रहेगा। में दावे के साथ कहता हूँ कि उनमें से किसी एक बालक को चुनकर डॉक्टर, वकील, कलाकार, सौदागर, नेता ही नहीं, भिखारी या चोर भी बना सकता हूँ चाहे उसके भीतर किसी भी प्रकार की योग्यता क्यों न हो।"
5. **न्यूमैन फ्रीमैन व होलजिंगर** (Newman, Freeman and Holzinger) **का अध्ययन**—इन मनोवैज्ञानिकों द्वारा 19 सामान्य जुड़वाँ बच्चों का अध्ययन किया गया। ये जुड़वाँ बच्चे अलग-अलग घरों में पाले गए। उन्होंने अपने परीक्षणों में यह देखा कि बच्चे के शारीरिक लक्षणों में बहुत कम अन्तर दिखाई दिया किन्तु व्यक्तित्व के लक्षणों में व्यापक अन्तर दिखाई दिया।
6. **कूले** (Coole) **का अध्ययन**—कूले ने यूरोप के 79 साहित्यकारों का अध्ययन किया। इनमें 45 उच्चवर्गीय 25 मध्यमवर्गीय व 2 निर्धन परिवार में पैदा हुए थे किन्तु इनके माता-पिता ने उच्च शिक्षा देने की व्यवस्था की थी इसलिए इनका उचित विकास हुआ। पर्यावरण व्यक्ति के विकास को प्रभावित करता है।

TOUCH 'n' PASS

प्र.10. वंशानुक्रम व वातावरण के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

वंशानुक्रम व वातावरण का महत्त्व
(Importance of Heredity and Environment)

बालक के विकास में वंशानुक्रम वातावरण दोनों का प्रभाव पड़ता है। वंशानुक्रम व वातावरण दोनों ही एक-दूसरे में पूरक हैं। दोनों का ही समान महत्त्व है। एक-दूसरे के साथ अन्त:क्रिया करके विकास आगे बढ़ाते हैं। विकासक्रम में दोनों तत्त्व साथ-साथ कार्य करते हैं। एक के कमजोर होने पर दूसरे पर प्रभाव पड़ता है।

मानव विकासक्रम में दोनों की उतनी ही आवश्यकता होती है जितनी एक पौधे के विकास के लिए बीज भूमि, जल व खाद की। जिस प्रकार बीज के बिना वृक्ष की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार वंशानुक्रम के बिना बीज की उत्पत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती है।

इसलिए कहा गया है कि आनुवंशिकता हमें क्षमताएँ देती है और वातावरण उन क्षमताओं का विकास करता है। वुडवर्थ ने वातावरण व वंशानुक्रम के महत्त्व को इस प्रकार व्यक्त किया है—गोभी और टमाटर के बीज को पास-पास बोकर समान वातावरण देने पर भी गोभी से गोभी व टमाटर से टमाटर का पौधा दूसरी जाति में परिवर्तित नहीं किया जा सकता है किन्तु पोषण की भिन्नता से एक ही जाति के अच्छे तथा बुरे नमूनों में परस्पर अन्तर दिखाई देता है।

मैकाइवर व पेज ने वंशानुक्रम तथा वातावरण के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा है, "जीवन की हर घटना दोनों का परिणाम होती है परिणाम के लिए उनमें से एक उतना ही आवश्यक है जितना कि दूसरा। न तो कोई कभी हटायी जा सकती है न ही कभी अलग ही की जा सकती है।"

वंशानुक्रम व वातावरण दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इसलिए गैरेट महोदय ने कहा कि "इससे अधिक निश्चित बात और कोई नहीं है कि आनुवंशिकता और पर्यावरण एक-दूसरे को सहयोग देने वाले प्रभाव हैं और दोनों ही बालक की सफलता के लिए अनिवार्य है।"

आनुवंशिकता और वातावरण के सापेक्षिक महत्त्व में केलॉग का अध्ययन उल्लेखनीय है। उन्होंने वनमानुष को मानव शिशु के साथ रखकर अध्ययन किया और निष्कर्ष निकाला कि यद्यपि वंशानुक्रम और वातावरण दोनों ही बालक के विकास के लिए आवश्यक हैं। उन्होंने अपने अध्ययन में देखा कि मानव शिशु उच्च बौद्धिक स्तर का होने पर पढ़ने-लिखने में वनमानुष से आगे बढ़ गया, जबकि वनमानुष उछलकूद व शारीरिक स्फूर्ति में मानव शिशु से आगे था। अत: स्पष्ट है कि विकास पर दोनों का प्रभाव पड़ता है।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. बाल मनोविज्ञान एवं बाल विकास से आप क्या समझते हैं? इसमें बाल विकास के विषय क्षेत्रों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

बाल मनोविज्ञान एवं बाल विकास का अर्थ
(Meaning of Child Psychology and Child Development)

बाल विकास बाल मनोविज्ञान का विकसित स्वरूप है। बाल मनोविज्ञान एवं बाल विकास का अन्तर समझने के पूर्व बाल मनोविज्ञान का अर्थ समझ लेना आवश्यक हो जाता है। गर्भावस्था से किशोरावस्था तक के व्यक्ति को मानसिक तथा शारीरिक क्रियाओं या अनुभव व व्यवहार, उसके विभिन्न पहलुओं, जैसे—शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक, चारित्रिक, नैतिक विकास का अध्ययन करता है। बाल मनोविज्ञान का विषय—क्षेत्र, उद्देश्य व उपयोगिता बाल विकास के समान होती है। बीसवीं शताब्दी के दूसरे व तीसरे दशक तक बाल मनोविज्ञान का क्षेत्र सीमित था। बालकों के संवेगों, खेलों, भाषा, विकास, बालकों के विभिन्न क्रियाकलापों व शारीरिक, मानसिक विशेषताओं का अध्ययन किया गया। इस प्रकार बाल मनोविज्ञान की लोकप्रियता बढ़ती गई और भिन्न-भिन्न आयु स्तर पर बाल-व्यवहार के विभिन्न क्षेत्रों का अध्ययन करना पर्याप्त नहीं होता क्योंकि इस अध्ययन से यह पता नहीं चल पाता कि व्यवहार विशेषताओं में क्या-क्या व किस प्रकार के परिवर्तन होते हैं। यह बाल विकास के अन्तर्गत आते हैं। यही बाल मनोविज्ञान का विस्तृत स्वरूप है।

जहाँ बाल मनोविज्ञान गर्भावस्था, शैशवावस्था, बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था तक के व्यवहार का अध्ययन करता था, वहीं बाल विकास इन अवस्थाओं के साथ युवावस्था व परिपक्वावस्था का अध्ययन करने लगा।

जहाँ बाल मनोविज्ञान विभिन्न आयु स्तर पर बालक के व्यवहार का अध्ययन करता है, वहीं बाल विकास बालकों की आयु वृद्धि के साथ उनके व्यवहार विशेषताओं में क्या, कब व किन कारणों में परिवर्तन होते हैं, इनका अध्ययन करता है।

बाल विकास का विषय क्षेत्र
(Domain of Child Development)

बाल विकास बालक के सम्पूर्ण जीवन का अध्ययन है। इसका विषय-क्षेत्र गर्भावस्था से लेकर युवावस्था तक की सभी अवस्थाओं से सभी पहलुओं का अध्ययन है। इसके अतिरिक्त इनके क्षेत्र के अन्तर्गत बाल विकास को प्रभावित करने वाले तत्त्वों व सिद्धान्तों का अध्ययन है। इसे निम्नलिखित भागों में विभाजित किया गया है—

1. **बाल विकास की विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन** (Study of Various Stages of Development)—बाल विकास को समझने के लिए बाल मनोवैज्ञानिक विकास के आधार पर कई अवस्थाओं में बाँटा गया है। गर्भावस्था से किशोरावस्था तक बालक के विकास की निम्नलिखित अवस्थाएँ होती हैं—
   (i) **गर्भावस्था** (Prenatal Period)—यह अवस्था गर्भाधान (Conception) से लेकर जन्म तक की अवस्था है। गर्भस्थ शिशु का स्वाभाविक विकास द्रुतगति से होता है। जन्म से पूर्व बच्चे की आकृति एवं विभिन्न अंगों का निर्माण हो जाता है। बच्चे के वजन (Weight) व आकार (Size) में वृद्धि होती है। बच्चे के विकासात्मक पहलुओं का अध्ययन इसके क्षेत्र में आता है।
   (ii) **शैशवावस्था** (infancy)—जन्म के बाद दो सप्ताह के शिशु को Neonate और इस अवधि को शैशवावस्था कहते हैं। विकासात्मक मनोविज्ञान के आधार पर गत्यात्मक, शारीरिक, संवेगात्मक क्षमताओं व उनकी प्रक्रिया आदि का अध्ययन करता है।
   (iii) **उत्तर शैशवावस्था** (Babyhood)—यह अवस्था दो सप्ताह से लेकर दो वर्ष तक की अवधि की होती है। इस काल में बच्चे को बाल शिशु कहा जाता है। इस अवस्था में बाल विकास में बाल शिशु के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, संवेगात्मक, गत्यात्मक व भाषा सम्बन्धी विकास का अध्ययन किया जाता है।
   (iv) **बाल्यावस्था** (Childhood)—बाल्यावस्था का काल दो वर्ष से बारह वर्ष तक होता है। बालक के शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, नैतिक, चारित्रिक विकास के साथ-साथ कल्पना, चिन्तन, स्मरण, संवेदना, प्रत्यक्षीकरण, बुद्धि, भाषा, खेल, व्यक्तित्व इत्यादि का अध्ययन इसके अन्तर्गत आता है।
   (v) **वयः सन्धि** (Puberty Period)—बाल्यावस्था व किशोरावस्था के बीच की अवस्था इसके अन्तर्गत आती है। शारीरिक विकास की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण अवस्था है। यौन भिन्नता इस अवस्था को प्रभावित करती है। शारीरिक व मानसिक विकास की गति को प्रभावित करती है। संवेगात्मक व सामाजिक दृष्टि से यह अवस्था महत्त्वपूर्ण होती है। बालकों की अपेक्षा बालिकाएँ संवेगात्मक रूप से विचलित हो जाती हैं और सामाजिक नियन्त्रण खो देती हैं इसलिए इस अवस्था में माता-पिता का यह कर्त्तव्य बनता है कि उचित दिशा निर्देशित करें व इस उम्र में बालक-बालिकाओं को प्रशिक्षित करें।
   (vi) **किशोरावस्था** (Adolescence)—किशोरावस्था यह बारह से इक्कीस वर्ष की अवधि की अवस्था मानी जाती है। वैसे अंग्रेजी के अनुसार Teen जब तक रहता है; जैसे—Thirteen, Fourten, Fifteen, Sixteen, Seventeen, Eighteen, Nineteen सभी अवस्थाएँ किशोरावस्था में आती हैं। **स्टैनली हाल** के शब्दों में, "किशोरावस्था बड़े बल एवं तनाव, तूफान एवं विरोध की अवस्था है।" इस अवस्था में यौन विशेषताओं की प्रधानता के कारण किशोर व कशोरियों में प्रतिक्रियाएँ, मनोवृत्तियाँ तथा जीवन शैली में परिवर्तन होता है। इसमें शारीरिक, मानसिक परिवर्तन के कारण सन्तुलन समस्याएँ या समायोजन समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।
   (vii) **प्रौढ़ावस्था** (Adulthood)—यह अवस्था इक्कीस वर्ष से 40 वर्ष तक की अवस्था है। इस अवस्था में बालक अधिकारों एवं कर्त्तव्यों को समझते हुए उनका निर्वाह करने लगता है। इस अवस्था के समाप्त होते होते व्यक्ति के रचनात्मक परिवर्तन भी पूर्णतया समाप्त हो जाते हैं—
2. **बाल विकास के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन** (Study of Various Aspects of Child Development)—बालक के व्यक्तित्व के समस्त पहलुओं का विकास गर्भावस्था से शैशवावस्था में नहीं हो पाता। जैसे-जैसे परिपक्वावस्था की ओर बढ़ता जाता है, उसी प्रकार व्यक्तित्व के पहलुओं का विकास होता जाता है। बाल विकास के विभिन्न पहलू निम्नलिखित हैं—
   (i) शारीरिक विकास (Physical Development),
   (ii) मानसिक विकास (Mental Development),

(iii) चारित्रिक विकास (Character Development),
(iv) गत्यात्मक विकास (Motor Development),
(v) नैतिक विकास (Moral Development),
(vi) सामाजिक विकास (Social Development),
(vii) संवेगात्मक विकास (Emotional Development),
(viii) भाषा विकास (Language Development),
(ix) धार्मिक विकास (Religious Development),
(x) सौन्दर्यात्मक विकास (Aesthetic Development),
(xi) स्मृति का विकास (Memory Development),
(xii) व्यक्तित्व विकास (Personality Development),
(xiii) खेल विकास (Play Development),
(xiv) चिन्तन एवं रुचि का विकास (Thinking and Reasoning Development),
(xv) प्रतिभा व कल्पना का विकास (Imagination Development),
(xvi) अवधा व रुचि का विकास (Attention and Interest Development)।

प्र.2. बाल विकास के उद्देश्य एवं उपयोगिता का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

बाल विकास के उद्देश्य और उपयोगिता
(Aims and Need of Child Development)

आधुनिक युग बनाम बालकों का युग (Age of Children) माना गया है। माता-पिता को बच्चे के भविष्य की चिन्ता रहती है परन्तु उसे सुयोग्य नागरिक बनाना माता-पिता का परम कर्त्तव्य होता है। यदि राष्ट्र के समस्त बालकों के व्यक्तित्व का सर्वांगीण एवं सन्तुलित विकास हो जाता है तो राष्ट्र की आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा नैतिक प्रगति होती है। बाल विकास का मुख्य उद्देश्य बालक का सर्वांगीण विकास होता है।

बाल विकास के उद्देश्य (Aims of Child Development)

प्रत्येक विज्ञान के अपने उद्देश्य होते हैं जिसके कारण विषय-सामग्री का अध्ययन किया जाता है। बाल विकास का उद्देश्य बाल-व्यवहार व क्रियाओं का अध्ययन करना है। मुख्यत: बालक के विकास में शारीरिक व मानसिक के अतिरिक्त बालक के सन्तुलित विकास के लिए सभी पहलुओं का अध्ययन करना है।

1. **भविष्यवाणी** (Prediction)—बाल विकास का मुख्य उद्देश्य बालक के विकास व व्यवहार से सम्बन्धित भविष्यवाणी करना है। बालक के शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक, नैतिक एवं चारित्रिक विकास व बाल विकास के मूल तत्त्वों का अध्ययन करना है जो निश्चित रूप से वैज्ञानिक अध्ययन पर आधारित है।
2. **मार्गपदेशन** (Guidance)—बालकों के माता-पिता व अभिभावकों को बालकों के व्यवहार को उचित दिशा देने के लिए मार्गोंपदेशन की आवश्यकता पड़ती है जिसके लिए बाल निर्देशन केन्द्रों पर उपचार गृहों (Child Guidance Centres or Clinics) की स्थापना की गई जो माता-पिता को उचित सलाह देते हैं।
3. **नियन्त्रण** (Control)—बालक के विकास व व्यवहार के सम्बन्ध में मात्र भविष्यवाणी, मार्गोंपदेशन ही निदान नहीं है बल्कि उनके नियन्त्रण की आवश्यकता होती है ऐसा करने से बालक के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को उचित दिशा मिलती है। बाल विकास व व्यवहार पर नियन्त्रण के विभिन्न पहलुओं को उचित दिशा मिलती है। बाल विकास व व्यवहार पर नियन्त्रण ही बाल विकास का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है।

बाल विकास की उपयोगिता (Utility of Child Development)

1. **व्यवसाय के क्षेत्र में बाल विकास की उपयोगता** (Utility of Child Development in the Field of Occupation)—बालक के सर्वांगीण विकास के लिए यह आवश्यक होता है कि भविष्य में किसी भी व्यवसाय का चुनाव करने में वह शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक, व चारित्रिक रूप से तैयार हों। किसी भी प्रकार की बाधा न आने पाए।

TOUCH 'n PASS

2. **बालक के व्यक्तित्व के सन्तुलित एवं सर्वांगीण विकास के लिए बाल विकास की उपयोगिता** (Utility of Child Development in the Balanced and Harmonious Development of the Personality)—बालकों के स्वभाव के ज्ञान के आधार पर माता-पिता, अभिभावक, शिक्षक, चिकित्सक, निर्देशक, समाज-सुधारक, समाज-कल्याण अधिकारी आदि के लिए बालकों के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं-शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक, चारित्रिक, नैतिक आदि के सन्तुलित तथा सर्वांगीण विकास के लिए योगदान किया जा सकता है। बाल कल्याण समितियाँ बालकों के व्यक्तित्व के विकास का प्रयास करती हैं।
3. **शिक्षा के लिए बाल विकास की उपयोगिता** (Utility of Child Development in the Field of Education)—शिक्षा के क्षेत्र में मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से शिक्षा के विभिन्न पहलुओं; जैसे—शिक्षा का उद्देश्य, शिक्षा पद्धति, पाठ्यक्रम, अनुशासन, शिक्षक, शिक्षालय आदि को निर्धारित करने में बाल विकास से अधिक सहायता मिली है। वर्तमान समय में बाल-केन्द्रित शिक्षा (Child-centred Education) को सफल बनाने के लिए बालकों की रुचियों, आवश्यकताओं, अभिवृत्तियों, दृष्टिकोणों, व्यक्तित्व विशेषताओं, बुद्धि स्तर, शारीरिक क्षमता के आधार पर शिक्षा दी जाती है।
4. **निर्देशन के क्षेत्र में बाल विकास की उपयोगिता** (Utility of Child Development in the Field of Guidance)—आधुनिक समय में निर्देशन का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। शिक्षा, व्यवसाय, आहार, मनोरंजन, नेतृत्व में बच्चों को निर्देशित किया जाता है। बाल विकास के द्वारा बालक की रुचियों, आवश्यकताओं, व्यक्तित्व की विशेषताओं, मानसिक योग्यताओं, बौद्धिक स्तर, शारीरिक क्षमता आदि के आधार पर ही उनको निर्देशित किया जाता है। शैक्षिक, व्यावसायिक तथा व्यक्तिगत निर्देशन की आवश्यकता पर बल दिया जा रहा है।
5. **बालक के स्वभाव को समझने में बाल विकास की उपयोगिता** (Utility of Child Development in Understanding the Nature of the Child)—प्रत्येक माता-पिता को प्राचीनकाल से ही यह समस्या रही है कि बालक का स्वभाव किस प्रकार का होगा। माता-पिता, अभिभावक, अध्यापक, चिकित्सक, समाज-सुधारक आदि इस समस्या का समाधान करने का प्रयास करते हैं। परन्तु इसका निदान बाल विकास के द्वारा ही होता है। क्योंकि बालकों के स्वभाव में रुचियाँ, आवश्यकताएँ, अभिवृत्तियाँ व परम्परागत अवधारणाएँ सम्मिलित होती हैं। इसलिए बात स्वभाव को समझने के लिए बाल विकास की उपयोगिता होती है।
6. **विश्व शान्ति में बाल विकास की उपयोगिता** (Utility of Child Development in World Peace)—मनोविज्ञान मात्र व्यक्ति, परिवार, समाज व राष्ट्र के लिए उपयोगी नहीं है बल्कि सम्पूर्ण विश्व के लिए उपयोगी है। विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ समस्त विश्व के नागरिक एक-दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करने में सक्षम होते हैं। इसलिए सुखद भविष्य के लिए विश्व शान्ति, विश्व-बन्धुत्व व विश्व विकास की भावना जागृत हो जिससे सभी का विकास हो।
7. **पारिवारिक जीवन को सुखी बनाने के लिए बाल विकास की उपयोगिता** (Utility of Child Development to make Happy Family Life)—बाल विकास के द्वारा माता-पिता बालक की स्वाभाविक, रुचियों, इच्छाओं, आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उनके प्रति वांछित व्यवहार करते हैं। इसलिए पारिवारिक जीवन को सुखी बनाने में बाल विकास की महत्त्वपूर्ण उपयोगिता होती है।
8. **न्याय के क्षेत्र में बाल विकास की उपयोगिता** (Utility of Child Development in the Field of Justice)—बालकों द्वारा अपराध होने पर उन्हें दण्ड न देकर सुधारने का प्रयास किया जाता है। इसके लिए माता-पिता, अभिभावक, शिक्षक आदि की सहायता से अपराध का पता लगाया जाता है। उसके बाद किशोर न्यायालय, प्रोबेशन, सुधार गृह व विद्यालय में बच्चों को भेज दिया जाता है।
9. **खेलकूद एवं मनोरंजन के क्षेत्र में बाल विकास की उपयोगिता** (Utility of Child Development in the Field of Play and Recreation)—बाल विकास के अध्ययन के कारण खेल और मनोरंजन के क्षेत्र में प्रगति हुई है। बच्चों की स्वाभाविक प्रवृत्ति के आधार पर खेलों व मनोरंजन की व्यवस्था हुई है। बच्चों की उम्र के अनुसार खिलौने बनाए जाते हैं, साथ ही मनोरंजन भी उनके स्वाभाविक व्यवहार व रुचि के आधार पर तैयार किए जाते हैं।

10. **बाल अपराध की रोकथाम में बाल विकास की उपयोगिता** (Utility of Child Development in the Field of Prevention of Juvenile Delinquency)—बाल अपराध को रोकने में बाल विकास की अहम् भूमिका होती है। माता-पिता, अभिभावक, अध्यापक व अन्य लोगों की उपेक्षा के कारण बाल अपराध प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं। इसलिए बच्चों की स्वाभाविक रुचियों, इच्छाओं, अभिवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए बाल विकास की उपयोगिता सिद्ध होती है।
11. **मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान व चिकित्सा के क्षेत्र में बाल-विकास की उपयोगिता** (Utility of Child Development in the Mental Hygiene and Medicine)—वर्तमान समय में मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान व चिकित्सा के क्षेत्र में बाल विकास की उपयोगिता अधिक हो गई है। मानसिक स्वास्थ्य के संरक्षण व प्रगति के लिए कुसमायोजन, मानसिक रोग व मानसिक न्यूनता आदि असमान्यताओं का निराकरण करने के लिए विकास की उपयोगिता सिद्ध होती है।

प्र.3. विकास के नियमों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

विकास के नियम
(Laws of Development)

मनोवैज्ञानिक ने यह निष्कर्ष दिया है कि विकास का एक नियम होता है जो प्रत्येक अवस्था में देखी जा सकती है। साथ ही साथ यह भी कहा जा सकता है कि मानव का विकास कुछ सिद्धान्तों एवं नियमों पर आधारित होता है जिसका उल्लेख करना यहाँ प्रासंगिक है। जिन मनोवैज्ञानिकों ने इस सम्बन्ध में शोध करके नियमों के महत्त्व को दर्शाया है उसमें (Sherman & Sherman 1925, Gesell 1930, Melcher 1937, Ames 1940, Johnson 1923, Terman 1926, Cattell 1957, Hurlock 1975, Tilker 1975, Castner 1932) प्रमुख हैं। जो नियम विकास के लिए आवश्यक हैं वे निम्नवत् हैं—

1. **विकास में क्रमबद्धता रहती है** (Development follows a sequence)—बालक या व्यक्ति का विकास क्रम एक ढर्रे पर समान रूप से एक ही प्रकार का होता है। उसमें व्यतिक्रम नहीं पाया जाता है। गर्भकालीन एवं उत्तरगर्भकालीन दोनों अवस्थाओं में विकास का एक निश्चित क्रम होता है। **उदाहरणार्थ**—बालक के भाषा विकास में सभी बालक सर्वप्रथम निरर्थक ध्वनि या बलबलाने की ध्वनि करते हैं उसके बाद भाषा का विकास होगा। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने विकास के प्रतिमानों को दो अनुक्रमों में वर्गीकृत करने का प्रयास किया है। (Sherman & Sherman 1925, Hurlock 1950)
   (i) सिरपदाभिमुखी अनुक्रम (Cephalocaudal sequence)
   (ii) निकट-दूर अनुक्रम (Proximo-distal sequence)

   सिरपदाभिमुखी अनुक्रम के अनुसार चाहे जन्म पूर्व अवस्था हो या जन्मोत्तर की विकासात्मक प्रक्रियाएँ एवं परिवर्तन दोनों पहले सिर से आरम्भ होती हैं एवं धीरे-धीरे पैर तक पहुँचती हैं। इसलिए सिर से पैर की तरफ विकास क्रम भी इसे कहा जाता है। संक्षिप्त में हम यह कह सकते हैं कि विकास पहले सिर क्षेत्र में शुरू होता है तथा बाद में पैर में शुरू होता है। सरल शब्दों में यह कहना सही होगा कि भ्रूणावस्था के समय भ्रूण विकास में सर्वप्रथम सिर का विकास होता है तथा सबसे बाद में पैर का होता है। यही क्रम जीव के सभी प्रजातियों में पाया जाता है।

   विकास का दूसरा अनुक्रम जिसे निकट-दूर अनुक्रम कहा जाता है उसमें विकास सर्वप्रथम शरीर के केन्द्रिय भागों में तथा बाद में परिधीय भागों में होता है। शेरमैन एवं शेरमैन ने अपने त्वक् संवेदना के प्रयोग के परिणामस्वरूप यह पाया कि त्वक् संवेदना पहले शरीर के ऊपर के भागों में प्रदर्शित की गई है तथा बाद में निचले भागों में। **उदाहरणार्थ** यह भी कहा जा सकता है कि पेट एवं धड़ के अंगों का विकास पहले तथा हाथ-पैर एवं उँगलियों का विकास बाद में होता है।
2. **विकास सतत् प्रक्रिया है** (Development is a continuous process)—विकास गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त तक क्रम से तथा निरन्तर चलती रहती है। यह अकस्मात् या अचानक ही नहीं होती है बल्कि प्रत्येक अवस्था में निरन्तर दिखाई देती है। प्रत्येक अवस्था में प्रत्याशित गुणों का विकास अकस्मात ही नहीं होता है बल्कि धीरे-धीरे निरन्तर होता रहता है। **उदाहरणार्थ**—सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास जीवनपर्यन्त चलता रहता है। इसी प्रकार भाषा का विकास प्रारम्भ में बच्चा क्रन्दन से आरम्भ करता है और कुछ ध्वनियाँ ही प्रस्फुटित करता है परन्तु बाद में भाषा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है। विकास का क्रम परिपक्वीकरण पर निर्भर रहता है। बालक या व्यक्ति के कोई भी शारीरिक या मानसिक शीलगुण एकाएक नहीं प्रकट होते हैं। व्यक्ति का प्रत्येक शीलगुण धीरे-धीरे विकास गति को प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ बच्चे के दाँत अकस्मात नहीं निकल जाते हैं। परन्तु इसके निकलने के पूर्व कई प्रतिक्रिया निरन्तर चालू रहती हैं। इस प्रकार

व्यक्ति में शीलगुण बीजरूप में पहले से ही विद्यमान रहते हैं परन्तु उसका विकास आयु एवं अवस्थानुसार वातावरण के प्रभाव से सम्पन्न होता रहता है।

3. **विकास की गति में होने वाली व्यक्तिगत भिन्नताएँ स्थायी ढंग की होती है** (Individual difference in development remain constant)—विकास की गति में एकरूपता रहती है। जिन बालकों का विकास प्रारम्भ में तीव्रगति से होता है उनका विकास इसी प्रकार आगे चलकर भी होता है। **उदाहरणार्थ**—जैसे जो बालक सामान्य अवस्था से पहले बोलने लगता है वह सामान्य रूप से सामान्य आयु के बच्चों से पहले बोलने लगता है। **टरमन** ने अपने परीक्षणों द्वारा यह दर्शाया है कि प्राय: 85% तीक्ष्णबुद्धि वाले बालकों का मानसिक विकास एक ही क्रम में होता है। शारीरिक अंगों की तरह विभिन्न मानसिक क्षमताओं एवं शारीरिक व्यवहारों और रुचियों के भी विकास गति एवं अवधि अलग-अलग होती है। उदाहरण के लिए बच्चे खेल के प्रति रुचि बाल्यावस्था में अधिक विकसित होती है जबकि सामाजिक कार्यों एवं विपरीत लोगों के साथ रहने की इच्छा किशोरावस्था में चरम सीमा पर होती है। मनोवैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष दिया है कि कुछ अवस्थाओं में कुछ विशिष्ट प्रकार के विकासों का प्रभुत्व होता है और अन्य प्रकार के विकास गौण हो जाते हैं। इस आधार पर यह सुझाव योग्य होता है कि ऐसे समयावधि पर बच्चों के विकास पर विशेष ध्यान देना अपेक्षित हो जाता है।
4. **अधिकांश शीलगुणों के विकास में यह-सम्बन्ध होता है** (Development of Many traits are correlated)— विभिन्न शीलगुणों का परस्पर सम्बन्ध रहता है। जैसे—तीव्र बुद्धि वाले बच्चे के मानसिक विकास के साथ-साथ शारीरिक विकास भी तीव्रगति से होता है। अनेक सहसम्बन्धात्मक अध्ययनों से यह परिलक्षित होता है कि यदि किसी बच्चे में किसी एक गुण का विकास औसत से उच्च गति से हो रहा है तो उसमें अन्य गुणों का विकास औसत में उच्चगति से होता है। जिन बालकों में मानसिक विकास की गति मन्द होती है उनमें शारीरिक एवं अन्य कौशलों का भी विकास मन्दगति से ही होगा।
5. **शरीर के विभिन्न अंगों का विकास भिन्न-भिन्न गति से होता है** (Rate of development of different parts of the body are different)—शरीर के विभिन्न अंगों के विकास की गति एक जैसी नहीं होती है। यह बात मानसिक विकास में लागू होती है। यह प्राय: देखा जा सकता है कि बच्चे के शरीर के कुछ भागों में विकास की गति तीव्र होती है तथा कुछ अंगों के विकास की गति मंद होती है। समय के साथ-साथ अंगों का आकार बढ़ता रहता है। **उदाहरणार्थ**—मस्तिष्क का विकास 6 वर्षों में पूरी तरह से परिपक्व हो जाता है। परन्तु उसका सुसंगठित होना उसके बाद ही शुरू होता है। इसी तरह से हाथ-पैर-नाम इत्यादि का विकास पूर्वकिशोरावस्था तक हो चुका रहता है। शारीरिक अंगों की तरह मानसिक क्षमताओं एवं सामाजिक तथा नैतिक व्यवहारों और रुचियों की विकास की गति भी तीव्र होती है। **उदाहरणार्थ**—तार्किक क्षमता का विकास प्राय: मंदगति से होता है। मूर्तवस्तुओं की स्मृति शीघ्र विकसित होती है जबकि अमूर्त वस्तुओं की स्मृति का विकास देर से होता है। सामान्य मानसिक योग्यता का विकास 16वें वर्ष तक हो जाता है। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विभिन्न भागों का विकास विभिन्न गति से सम्पन्न होता है।
6. **विकास पूर्वकथनीय होता है** (Development is predictable)—विकास भी भविष्योवित सम्भव है। साधारण शब्दों में यह कहा जा सकता है कि बच्चे की एक अवस्था में होने वाले विकास की गति को देखकर अगली अवस्थाओं में होने वाले विकास की गति के प्रति भविष्यवाणी की जा सकती है। गैसेल ने परीक्षण करके इस बात की पुष्टि की है कि विकास के विषय में पूर्वकथन किया जा सकता है। **हिलगार्ड** (1950) का मत है कि सभी बच्चों के विकास के बारे में शुद्धता के साथ भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है। इनके अनुसार औसत से कम या अधिक क्षमता वाले लोगों के बारे में भविष्यवाणी पूरे विश्वास के साथ नहीं की जा सकती है।
7. **प्रत्येक विकासात्मक अवस्था के अपने-अपने विशिष्ट गुण होते हैं** (Each stage of development has its own traits)—विकास की प्रत्येक अवस्था अपने-अपने में महत्त्वपूर्ण गुणों या शीलगुणों से सम्बद्ध रहती है। प्रत्येक अवस्था की एक निश्चित विशेषता होती है जो इस अवस्था में विकास के समय परिलक्षित होती है। विकास की प्रत्येक अवस्था में कुछ गुणों का विकास तीव्र गति से, कुछ मंदगति से होता है। जैसा प्राय: द्रष्टव्य है कि पूर्व जन्म की अवस्था जैसे शैशवावस्था में मानसिक विकास की अपेक्षा शारीरिक विकास की प्रधानता रहती है और बाल्यावस्था के अन्तिम चरण में सामाजिकता का विकास होता है। उसी प्रकार किशोरावस्था में विपरीत लिंगों के प्रति आकर्षण प्रमुख विशेषता है।

फील्डमैन (Fieldmen) के अनुसार प्रत्येक अवस्था में किसी विशेष शीलगुण की प्रमुख विशेषताएँ देखने में आती हैं जिससे उस अवस्था की विशेषता, सुसंगतता और एकता का भान होता है। **उदाहरणार्थ**—बाल्यावस्था में चंचलता तथा नकारात्मकता की भावना तीव्र होती है। परन्तु वही व्यक्ति जब प्रौढ़ावस्था में प्रवेश करता है तो उसकी चंचलता गम्भीरता में तथा नकारात्मकता स्वीकार करने की भावना में परिवर्तित हो जाती है।

8. **प्रत्येक व्यक्ति को सभी अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है** (Every Individual Passes through all stage of development)—यह बात अक्षरश: सत्य है कि सभी व्यक्तियों को विकास शृंखला की प्रत्येक अवस्थाओं से गुजरते हुए अन्तिम अवस्था तक पहुँचना पड़ता है। वैसे तो सामान्यत: विकास का कार्य 21 वर्ष तक की अवस्था तक पूरा हो जाता है। परन्तु कभी-कभी यह देखा जाता है कि मन्द बुद्धि वाले विकास की सभी अवस्थाओं से नहीं गुजरते हैं। कारण की अनुपयुक्त वातावरण, अस्वस्थता और प्रेरक तत्त्वों के अभाव में सभी अवस्थाओं से गुजर पाना उनके लिए मुश्किल होता है।
9. **कुछ विशेष अवस्था में प्रकट होने वाले अनेक समस्यात्मक व्यवहार भी उस अवस्था की दृष्टि से सामान्य व्यवहार माने जाते हैं** (Problem behaviours are normal than some Behaviours of the Particular Stage)— प्राय: देखा जाता है कि प्रत्येक अवस्था में कुछ भद्दे एवं गन्दे व्यवहार भी बच्चों द्वारा प्रदर्शित किए जाते हैं। परन्तु उस विशेष अवस्था की समाप्ति पर वह अवांछनीय व्यवहार स्वत: समाप्त हो जाते हैं। इसलिए यह समस्यात्मक व्यवहार उस विशेष अवस्था का सामान्य व्यवहार होता है। **उदाहरणार्थ**—बाल्यावस्था के प्रारम्भ में बालक अपने जिद्दी स्वभाव का प्रदर्शन करता है परन्तु बाल्यावस्था के अन्तिम चरण में उसके जिद्दीपन का लोप होने लगता है।
10. **विकास क्रम काम प्रवृत्ति पर आधारित होता है** (Development sequence is based upon sexual Behaviour)—फ्रायड तथा अन्य मनोविश्लेषणवादियों के मतानुसार विकास की विभिन्न अवस्थाओं में बाल की कामप्रवृत्ति भिन्न-भिन्न अंगों पर केन्द्रित होती है। **उदाहरणार्थ**—प्रारम्भ में वह मुख में होती है जिसके फलस्वरूप बालक कोई भी वस्तु चूसने या चचोरने में आनन्दानुभूति करता है। आगे की अवस्थाओं में यह प्रवृत्ति जननेन्द्रियों में प्रकट होती है तथा इसके परिणामस्वरूप वह स्वरति या स्वप्रेम करने लगता है और किशोरावस्था में यही प्रवृत्ति विपरीत योनियों से प्रेम प्रदर्शित करने में मिलती है।
11. **विकास परिपक्वता एवं अधिगम का परिणाम है** (Development is a function of Maturation and Learning)—यह सर्वविदित है कि विकास परिपक्वता एवं अधिगम के बीच अन्तर्क्रिया का ही परिणाम है। सही रूप में यदि देखा जाए तो ये दोनों कारक आपस में एक-दूसरे से पूरक हैं। किसी एक कारक के अभाव में बालक में सही दिशा एवं गति नहीं प्राप्त हो सकती है। **उदाहरण** के तौर पर यह कहा जा सकता है कि यदि बालक को तीन पहिए की साइकिल चलाने की प्रक्रिया का अध्ययन करना है तो उसके लिए सर्वप्रथम उसका पता लगाना होगा कि तीन पहिए की साइकिल चलाने की प्रक्रिया हेतु परिपक्वता प्राय: दो वर्ष या तीन वर्ष में आ पाती है। यदि उस अवस्था में बच्चे में तीन पहिए की साइकिल चलाने का अभ्यास कराया जाए तो बच्चा शीघ्रता से साइकिल चलाना सीख लेता है जो अधिगम का परिणाम माना जाएगा। इस तरह से हम यह कह सकते हैं कि अधिगम एवं परिपक्वता दोनों का विकास में पचास-पचास प्रतिशत भूमिका या योगदान होता है। इसलिए परिपक्वता के प्रकट होते ही बच्चों में अमुक व्यवहार हेतु अधिगम आवश्यक होता है।

प्र.4. विकास के निर्धारक कौन-कौन से हैं, ये किस प्रकार बालक के विकास को प्रभावित करते हैं?

उत्तर

विकास के निर्धारक
(Determinants of Development)

मानव विकास को प्रभावित करने वाले अनेक तत्त्व हैं और इन तत्त्वों के आधार पर विकास क्रम परिलक्षित होता है। यही तत्त्व विकास को दिशा तथा गति प्रदान करते हैं। प्रमुख रूप से विकास को प्रभावित करने वाले तत्त्वों का विवेचन निम्नवत् है—

1. **बुद्धि** (Intelligence)—विकास को प्रभावित करने वाले कारकों में बुद्धि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस सम्बन्ध में शोधकर्त्ताओं ने उस बात की पुष्टि की है कि उच्च मानसिक योग्यता या बुद्धि वाले बच्चों का शारीरिक एवं अन्य विकास मंद बुद्धि वाले तथा निम्न बुद्धि वाले बच्चों की तुलना में शीघ्रता से होता है। इस सम्बन्ध में **Terman** (1926) ने बालकों में प्रथम बार चलने एवं बोलने की उम्र का बुद्धि के साथ सम्बन्ध में अध्ययन करके यह निष्कर्ष दिया है कि उच्च

बुद्धि वाले बच्चे निम्न बुद्धि वाले बच्चों की तुलना में चलने एवं बोलने की क्रिया का प्रदर्शन शीघ्र करते हैं। जैसा कि टरमन ने अपने परिणाम इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि अतिप्रतिभावान बच्चों में प्रथम बार चलने एवं बोलने का प्रदर्शन क्रमश: 13 माह एवं 11 माह में होता है। औसत बुद्धि वाले बच्चों में यही क्रिया क्रमश: 14 माह एवं 16 माह में प्रदर्शित करते हैं। मूढ़ बुद्धि वाले तथा जड़बुद्धि वाले बच्चों में प्रथम बार बोलने एवं चलने की क्रिया का प्रदर्शन क्रमश: 34 माह, 22 माह एवं 51 माह तथा 30 माह में होता है। इस अध्ययन से यह पता चलता है कि बुद्धि का विकास से अटूट सम्बन्ध है। शारीरिक विकास एवं गामक विकास तथा अन्य विकास में बुद्धि अपना सार्थक प्रभाव प्रदान करती है। यह भी निष्कर्ष पाया गया है कि बुद्धि का प्रभाव लैंगिक परिपक्वता पर भी पड़ता है। अतिप्रतिभावान बच्चे औसत बुद्धि वाले बच्चों की तुलना में लैंगिक परिपक्वता 1 या 2 वर्ष ही प्राप्त कर लेते हैं। जहाँ तक मन्दबुद्धि वाले बच्चों का प्रश्न है उसमें लैंगिक परिपक्वता का प्रदर्शन नाम मात्र का होता है। इन दोनों अध्ययनों से यह पता चलता है कि बुद्धि का विकास से गहरा सम्बन्ध है।

2. **लैंगिक भिन्नता** (Sex Differences)—लिंग विशेष का प्रभाव प्रमुखत: शारीरिक एवं मानसिक विकास पर परिलक्षित होता है। लैंगिक भिन्नता के ही कारण बालक एवं बालिकाओं के शारीरिक विकास में स्पष्ट अन्तर प्रदर्शित हाता है। **उदाहरणार्थ**—जन्म के समय बालक बालिकाओं की तुलना में ज्यादा लम्बे होते हैं। परन्तु परिपक्वता पहले लड़कियों में प्रदर्शित होती है तथा लड़कों में बाद में प्रदर्शित होती है। जैसा कि हम सभी को मालूम है कि लड़कियों की परिपक्वता की आयु 13 वर्ष है तथा लड़कों की 1 साल बाद 14 वर्ष होती है। परिपक्वता के दरम्यान लड़कियों की ऊँचाई लड़कों से ज्यादा होती है। उसी तरह से मानसिक विकास में भी लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा पहले पूर्ण परिपक्व हो जाती हैं।
3. **अन्त:स्त्रावी ग्रन्थियाँ** (Endocrine Glands)—व्यक्ति के शरीर में अनेक प्रकार की युक्त वहिस्त्रावी और प्रणाली विहीन अन्त:स्त्रावी ग्रन्थियाँ होती हैं। इनमें से कुछ ग्रन्थियाँ रस का स्त्राव करती हैं। ये रस मानव के खून में मिश्रित होकर शारीरिक तथा मानसिक विकास को दिशा प्रदान करती है। गलग्रन्थि, ग्रीवा ग्रन्थि, यौन, ग्रन्थि, प्रभुत्व ग्रन्थि और एड्रीनल ग्रन्थि आदि ग्रन्थियाँ यदि उचित रूप से कार्य नहीं करती हैं तो बालक या व्यक्ति का शारीरिक एवं मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। **उदाहरणार्थ**—थाइरायड ग्रन्थि के श्राव (थाइरॉक्सिन) के अभाव में बच्चे बौने कद के तथा मंदबुद्धि के होते हैं। लैंगिक ग्रन्थियाँ की क्रियाशीलता में कमी से किशोरावस्था का पदार्पण विलम्ब से होता है। साथ ही साथ उस ग्रन्थि से शीघ्र क्रियाशील हाने से बच्चे में समय से पूर्व दाढ़ी, मूँछें आदि प्रदर्शित होने लगती हैं उसमें लैंगिग परिपक्वता शीघ्र आ जाती है। पिनियल ग्रन्थि के अधिक क्रियाशील होने से बच्चों का सामान्य शारीरिक तथा मानसिक विकास रुक जाता है। इस तरह से यह कहा जा सकता है कि अन्त:श्रावी ग्रन्थियों का विकास में काफी योगदान है।
4. **शारीरिक दोष** (Physical Defects)—वास्तव में शारीरिक दोष उनके सामाजिक विकास को अवरुद्ध करते हैं। **उदाहरणार्थ**—विकलांगों अर्थात् अंधे, लूले और बहरे आदि व्यक्तियों में हीनता के भाव पाए जाते हैं। उनमें चिंता और हताशा जन्म ले लती है। उस तरह से उनके व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास में बाधा पड़ती है तथा उनके व्यवहारों में विचित्रता पायी जाती है।
5. **पोषाहार** (Nutritons)—यह सर्वमान्य है कि भोजन का पौष्टिक आहार बालक के स्वास्थ्य, विकास एवं वृद्धि पर स्पष्ट प्रभाव डालते हैं। बच्चों को हमेशा सन्तुलित आहार मिलना चाहिए। पोषाहार के अभाव में बचपनावस्था तथा बाल्यावस्था में विकास की गति रुक जाती है तथा उससे गामक विकास में विशेष बाधा आती है। पौष्टिक भोजन का अभाव तथा कुपोषण का प्रभाव अफ्रीका या भारत के बालकों के शारीरिक तथा मानसिक विकास पर कैसा पड़ता है उसकी खोज वाटरलू (Waterloo, 1955) ने की। उसका निष्कर्ष है कि कुपोषण से बालकों के वजन और उनकी ढाँचे सम्बन्धी विकास में व्यतिरेक पाया गया है और उनकी माँसपेशियों में ढीलापन देखा गया। कुपोषण बालकों में संवेगात्मक तनाव की स्थिति पायी गई तथा मानसिक विकास भी अवरुद्ध हो गया। (**स्टाक एवं स्मिथ**, 1963)। इन सभी के अतिरिक्त विश्राम, क्रियाशीलता, निद्रा और मकान भी बालक के शारीरिक तथा मानसिक विकास को प्रभावित करते हैं।
6. **प्रजातीय कारक** (Racial Factors)—टाइलर (1963) के अनुसार विभिन्न जातियों में प्रभाव के कारण विभिन्नताएँ पायी जाती हैं। **उदाहरण** के लिए—अमेरिका के श्वेत लोगों की बुद्धि नीग्रो जाति के लोगों की तुलना में अच्छी होती है।

उत्तरीय यूरोप की तुलना में भूमध्यसागरीय बच्चों की विकास गति तीव्र होती है। केनेडी (Kennedi 1963) का मत है कि जातीय पक्षपात (Caste Prejudices) का व्यक्तित्व विकास पर प्रभाव परिलक्षित होता है। मैगी (Magee 1931) के अनुसार पूर्व देशों वाली जातियाँ दुबली, पतली, कोमल और बुद्धिजीवी होती हैं तथा पश्चिम देशों वाली जातियाँ अक्सर हट्टी, कट्टी, कठोर तथा परिश्रमी होती हैं। इस प्रकार प्रजातीय कारकों का विकास की गति में महत्त्व प्रमाणित हो रहा है।

7. **संस्कृति** (Culture)—शारीरिक विकास पर सांस्कृतिक कारकों का प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक संस्कृति में केन्द्रीय विचारधाराएँ, रीति-रिवाज तथा परम्पराएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। **उदाहरणार्थ**—आर्य संस्कृति में आध्यात्मिकता तथा पाश्चात्य संस्कृति में भौतिकता की प्रधानता पायी जाती है। इसलिए युग का कथन है कि व्यक्ति के विकास में जातीय संस्कृति का बड़ा हाथ रहता है। यह देखा गया है कि परिवार, पाठशाला तथा समाज में बालक के व्यवहार की अभिनितियाँ, मानदण्ड तथा विश्वास निरन्तर संस्कृति विशेष के निर्देशों द्वारा ढलते हैं। जिसमें कि वह पलकट बड़ा होता है। शारीरिक विकास पर सांस्कृतिक कारकों के प्रभाव के सम्बन्ध में कुछ अध्ययनों ने विवादास्पद परिणाम भी प्राप्त किए हैं। **उदाहरणार्थ**—होप इंडियन्स (Hope Indians) एवं श्वेत अमेरीकियों की संस्कृति में अन्तर होने के बावजूद डेनिस (1940) ने यह पाया कि शारीरिक विकास में कोई अन्तर नहीं होता है। डेनिस एवं डेनिस (1937) के अनुसार श्वेत अमेरीकियों एवं भारतीय बच्चों में शारीरिक विकास में कोई अन्तर नहीं पाया जा सका है। इस प्रकार इन लोगों ने यह निष्कर्ष दिया है कि सांस्कृतिक पर्यावरण के अन्तर होने के बावजूद शैशवावस्था के समान होने वाले विकासात्मक परिवर्तनों में विशेष अन्तर नहीं प्राप्त हुए।
8. **जन्म क्रम** (Birth order)—एडलर के मतानुसार जन्मक्रम का प्रभाव बालक के विकास पर पड़ता है। **उदाहरणार्थ**—परिवार में पहले जन्में बच्चे की अपेक्षा दूसरे तीसरे एवं चौथे बच्चों का विकास शीघ्रता से होता है। साथ ही साथ अन्तिम बालक का विकास प्राय: मन्द गति से होता है। इस विकास के पीछे जो कारण है वह यह है कि प्रथम बालक की अपेक्षा दूसरे, तीसरे एवं चौथे क्रम के बालकों को परिवार में अनुकरण करने का अधिक सुअवसर प्रदान होता है जिसके तहत सभी विकास शीघ्रता से होते हैं। **हरलॉक** (1950) के अनुसार यदि किसी परिवार में मात्र एक ही बच्चा है तो बड़े परिवार की बच्चों की तुलना में उसमें मानसिक विकास तो शीघ्रता से हो सकता है परन्तु गामक विकास विलम्ब से होगा। बच्चों की अति देखरेख भी उसे विकास में घातक सिद्ध होती है।
9. **भयंकर रोग एवं चोट** (Dangerous Diseases and Injuries)—भयंकर रोग एवं आघात बालविकास को अवरुद्ध करते हैं। **हिविट** (1953) के मतानुसार भयंकर रोगों से ग्रस्त बच्चों में लम्बाई की अभिवृद्धि में कमी देखी गई है। **गिविलभ** (1959) के अनुसार भयंकर रोग में यह देखा गया है कि बच्चों के चवायापचय में रोड़ा पहुँचाते हैं। लम्बी बीमारी, मांसपेशियों को प्रभावित करती हैं और उनकी वृद्धि को रोकती हैं। **फ्रीड** (1953) के अनुसार दीर्घ स्थायी बीमारियाँ (जैसे—मोतीफिरा, सन्निपात, ज्वर एवं मधुमेह) बालक के व्यक्तित्व, विकास तथा संवेगात्मक परिपक्वता में बाधक होते हैं। इन रोगों के फलस्वरूप बच्चों में चिड़चिड़ापन और विद्रोही प्रवृत्ति जन्म ले लेती है। मस्तिष्क सम्बन्धी आघात से बच्चों का गामक विकास प्रभावित होता है।
10. **आयु** (Age)—बालक के विकास में आयु की महत्त्वपूर्ण भूमिका पायी गई है। बालक के शारीरिक विकास एवं मानसिक विकास पर आयु का प्रभाव देखा गया है। शारीरिक तथा मानसिक छवि से कम आयु के बालक अधिक आयु के बालक से भिन्न होता है।
11. **शुद्ध वायु एवं प्रकाश** (Fresh Air and Sunlight)—बालक के सामान्य स्वास्थ्य तथा परिपक्वता की अवस्था पर शुद्ध वायु एवं प्रकाश का प्रभाव पड़ता है। इन दोनों कारकों के अभाव में बालक की वृद्धि पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इन कारकों का मानसिक विकास पर कितना प्रभाव तथा कैसा प्रभाव पड़ता है उस पर अभी तक उपयुक्त परिणाम नहीं प्राप्त हो पाए हैं। परन्तु अक्सर यह कहा जाता है कि इन दोनों कारकों के अभाव में बालक का कद छोटा रह जाता है तथा उसकी बुद्धि प्रखर नहीं हो पाती है तथा वह अनेक रोगों का शिकार हो जाता है।

प्र.5. अभिवृद्धि एवं विकास से आप क्या समझते हैं? इनके मुख्य सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

अभिवृद्धि एवं विकास का अर्थ
(Meaning of Growth and Development)

'अभिवृद्धि' और 'विकास' दोनों शब्द प्राय: एक ही अर्थ में प्रयोग किए जाते हैं किन्तु मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इनमें कुछ अन्तर होता है।

सोरेन्सन के विचार में—"अभिवृद्धि शब्द का प्रयोग सामान्यत: शरीर और उसके अंगों के भार तथा आकार में वृद्धि के लिए किया जाता है। इस वृद्धि को नापा और तोला जा सकता है। विकास का सम्बन्ध अभिवृद्धि से अवश्य होता है पर यह शरीर के अंगों में होने वाले परिवर्तनों को विशेष रूप से व्यक्त करता है।" उदाहरणार्थ बालक की हड्डियाँ आकार में बढ़ती हैं, यह बालक की अभिवृद्धि है किन्तु हड्डियाँ कड़ी हो जाने के कारण उनके स्वरूप में जो परिवर्तन आ जाता है वह विकास को दर्शाता है। इस प्रकार विकास से अभिवृद्धि का भाव निहित रहता है।

'अभिवृद्धि' और 'विकास' की प्रक्रियाएँ उसी समय से आरम्भ हो जाती हैं जिस समय से बालक का गर्भाधान होता है। ये प्रक्रियाएँ उसके जन्म के बाद भी चलती रहती हैं फलस्वरूप वह विकास की विभिन्न अवस्थाओं में से गुजरता है जिनमें उसका शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक विकास होता है, अत: **हरलॉक** के शब्दों में—"विकास अभिवृद्धि तक ही सीमित नहीं है। इसके बजाए इसमें प्रौढ़ावस्था के लक्ष्य की ओर परिवर्तनों का प्रगतिशील क्रम निहित रहता है। विकास के परिणामस्वरूप व्यक्ति में नवीन विशेषताएँ और नवीन योग्यताएँ प्रकट होती हैं।"

अभिवृद्धि तथा विकास के सिद्धान्त
(Principles of Growth and Development)

गैरिसन तथा **अन्य** के अनुसार—"जब बालक विकास की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में प्रवेश करता है तब हम उसमें कुछ परिवर्तन देखते हैं। अध्ययनों ने सिद्ध कर दिया है कि ये परिवर्तन निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार होते हैं इन्हीं को विकासक्रम के सिद्धान्त कहा जाता है।" इनका विस्तृत विवरण इस प्रकार है—

1. **निरन्तर विकास का सिद्धान्त** (Principle of continuous Growth)—इस सिद्धान्त के अनुसार विकास की प्रक्रिया अविराम गति से निरन्तर चलती रहती है। पर यह गति कभी तीव्र तथा कभी मंद पड़ जाती है। बालक में गुणों का विकास यकायक नहीं होता है। इनका विकास सतत् रूप में मंद गति से होता रहता है। इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए बालकों के दाँतों का उदाहरण दिया जा सकता है। लगभग 6 माह की आयु पर शिशु के दूध के दाँत निकलने पर अनुभव होता है कि दाँत यकायक प्रकट हुए हैं। वास्तविकता यह है कि दाँतों का विकास 5 माह की भ्रूणावस्था से प्रारम्भ हो जाता है किन्तु वे जन्म के 6 माह की आयु में मसूढ़ों से बाहर निकलना प्रारम्भ होते हैं।
   स्किनर के शब्दों में—"विकास प्रक्रियाओं की निरन्तरता का सिद्धान्त केवल इस तथ्य पर बल देता है कि व्यक्ति में कोई आकस्मिक परिवर्तन नहीं होता है।"
2. **विकास की विभिन्न गति का सिद्धान्त** (Principle of different rate of Growth)—अध्ययनों के आधार पर यह निश्चित किया जा चुका है कि विभिन्न व्यक्तियों के विकास की गति भिन्न-भिन्न होती है। जैसे जो बालक जन्म के समय लम्बा होता है वह बड़ा होने पर भी लम्बा रहता है और जो छोटा होता है वह छोटा होता है।
   डगलस एवं **हॉलैण्ड** (Douglas & Holland) के अनुार—"विभिन्न व्यक्तियों के विकास की गति में विभिन्नता होती है और यह विभिन्नता सम्पूर्ण काल में यथावत् बनी रहती है।"
   यह देखा गया है कि अभिवृद्धि तथा विकास बचपन तथा जीवन के आरम्भिक वर्षों में बहुत तेज रहती है तथा बाद में यह गति धीमी हो जाती है। यह जन्म से 2 वर्षों तक तथा 11 से 15 वर्ष की आयु में तेज होती है।
3. **विकास-क्रम का सिद्धान्त** (Principle of Development Sequence)—इस सिद्धान्त के अनुसार बालक का गामक तथा भाषा सम्बन्धी आदि विकास एक निश्चित क्रम में होता है। शर्ले गेसेल, पियाजे, एमिस (Shirley, Gesell, Piaget, Aims) आदि की परिभाषाओं ने यह बात सिद्ध कर दी है, उदाहरणार्थ, 32 से 36 माह का बालक वृत्त को उल्टा, 60 माह का बालक सीधा और 72 माह का फिर उल्टा बनाता है। इसी प्रकार जन्म के समय वह केवल रोना जानता है। 3 माह में वह गले से विशेष प्रकार की आवाज निकालने लगता है। 6 माह में वह आनन्द की ध्वनि करने लगता है। 7 माह में वह 'पा', 'बा', 'दा' आदि शब्दों का प्रयोग करने लगता है।

4. **विकास-दिशा का सिद्धान्त** (Principle of Development Direction)—अभिवृद्धि तथा विकास की अपनी दिशा होती है। वह मस्तकोधोमुखी क्रम का पालन करती है, इसका अर्थ यह हुआ कि मानव जीव सिर से आरम्भ होकर, नीचे तक अभिवृद्धि करता है। सबसे पहले सिर का विकास होता है जो कि गर्भावस्था में होता है तथा बाद में शरीर तथा पैरों का विकास होता है। बच्चा सबसे पहले सिर की गति करने का प्रयत्न करता है तब वह बैठने, चलने तथा दौड़ने का प्रयत्न करता है। यह सिद्धान्त मानव विज्ञान के शारीरिक विकास पर आधारित है। इस सिद्धान्त को **'सिर से पूछ की ओर'** भी कहा जाता है।
5. **एकीकरण का सिद्धान्त** (Principle of Integration)—इस सिद्धान्त के अनुसार पहले बालक सम्पूर्ण अंग को फिर अंग के भागों को चलाने की क्रिया करता है। इसके बाद वह उन भागों में एकीकरण करने का प्रयास करता है। उदाहरणार्थ, पहले बालक पूरे हाथ को, फिर उँगलियों को और तत्पश्चात् वह पुन: हाथ और उँगलियों को एक साथ चलाना सीखता है। **कुप्पूस्वामी** (Kuppuswami) के अनुसार, "विकास में पूर्ण अंगों की ओर एवं अंगों से पूर्ण की ओर गति निहित रहती है। विभिन्न अंगों का एकीकरण ही गतियों की सरलता को सम्भव बनाता है।"
इस प्रकार बालक का विकास पूर्ण से अंश और फिर अंश से पूर्ण की ओर होता है।
6. **परस्पर सम्बन्ध का सिद्धान्त** (Principle of Interrelation)—इस सिद्धान्त के अनुसार बालक के शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक आदि पहलुओं के विकास में परस्पर सम्बन्ध होता है। उदाहरणार्थ, जब बालक का शारीरिक विकास के साथ-साथ उसकी रुचियों, ध्यान के केन्द्रीयकरण और व्यवहार में परिवर्तन होते हैं। साथ-साथ उसमें गामक और भाषा विकास सम्बन्धी परिवर्तन भी होते हैं। अत: बालक का बौद्धिक विकास उसके शारीरिक विकास पर निर्भर करता है।
गैरिसन तथा **अन्य** (Garrison & Others) के विचारों में, "शरीर सम्बन्धी दृष्टिकोण व्यक्ति के विभिन्न अंगों के विकास में सामंजस्य और परस्पर सम्बन्ध पर बल देता है।"
7. **वैयक्तिक विभिन्नताओं का सिद्धान्त** (Principle of Individual Difference)—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक बालक और बालिका के विकास का अपना स्वयं का स्वरूप होता है। इस स्वरूप में वैयक्तिक विभिन्नताएँ पायी जाती हैं। एक ही आयु के दो बालकों, दो बालिकाओं के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक आदि विकास में वैयक्तिक विभिन्नताओं की उपस्थिति स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। इसलिए **स्किनर** का मत है—"विकास के स्वरूपों में व्यापक वैयक्तिक विभिन्नताएँ होती हैं।"
8. **समान प्रतिमान का सिद्धान्त** (Principle of Uniform Pattern)—इस सिद्धान्त के अनुसार, मानव जाति के शिशुओं का विकास समान प्रकार से होता है क्योंकि उनके विकास का प्रतिमान एक ही है। इसे स्पष्ट करते हुए हरलॉक ने लिखा है—"प्रत्येक जाति चाहे वह पशु जाति हो या मानव जाति, अपनी जाति के अनुरूप विकास के प्रतिमान का अनुसरण करती है।"
9. **सामान्य व विशिष्ट प्रतिक्रियाओं का सिद्धान्त** (Principle of General and Specific Response)—इस सिद्धान्त के अनुसार, बालक का विकास सामान्य प्रतिक्रियाओं से विशिष्ट प्रतिक्रियाओं की ओर होता है। उदाहरणार्थ, नवजात शिशु पहले अपने सम्पूर्ण शरीर का संचालन करता है और फिर धीरे-धीरे किसी अंग विशेष का संचालन करने लगता है। इस सम्बन्ध में **हरलॉक** का विचार है—"विकास की सब अवस्थाओं में बालक में प्रतिक्रियाएँ विशिष्ट बनने से पूर्व सामान्य प्रकार की होती हैं।"
10. **वंशानुक्रम व वातावरण का अन्त:क्रिया सिद्धान्त** (Principle of interaction of Heredity and Environment)—इस सिद्धान्त के अनुसार, बालक का विकास न केवल वंशानुक्रम के कारण और न केवल वातावरण के कारण बल्कि दोनों के अन्त:क्रिया के कारण होता है। बालक, वातावरण और वंशानुक्रम दोनों का प्रतिफल है। **स्किनर** के शब्दों में, "यह सिद्ध किया जा सकता है कि वंशानुक्रम सीमाओं को निश्चित करता है जिसके आगे बालक का विकास नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार यह भी प्रमाणित किया जा चुका है कि जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में दूषित वातावरण, कुपोषण या गम्भीर रोग जन्मजात योग्यताओं को कुण्ठित या निर्बल बना सकते हैं।"

प्र.6. मानव विकास को प्रभावित करने वाले कारकों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

मानव विकास को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक
(Factors affecting of Human Development)

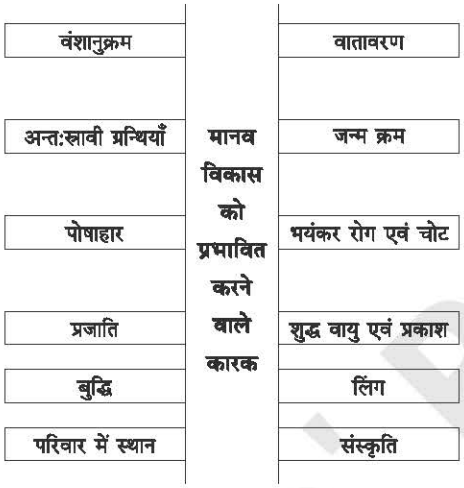

1. **वंशानुक्रम** (Heredity)—बालक का विकास वंशानुक्रम से उपलब्ध गुण एवं क्षमताओं पर निर्भर रहता है। गर्भधारण करने के साथ ही बालक में पैतृक कोषों का आरम्भ हो जाता है और यहीं से बालक की बुद्धि एवं विकास की सीमाएँ सुनिश्चित हो जाती हैं। ये पैतृक गुण पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहते हैं। बालक के कद, आकृति, बुद्धि एवं चरित्र आदि को भी वंशानुक्रम सम्बन्धी कारक प्रभावित करते हैं।
2. **वातावरण** (Environment)—वातावरण भी बालक के विकास को प्रभावित करने वाला तत्त्व है। वातावरण के प्रभाव स्वरूप व्यक्ति में अनेक विशेषताओं का विकास होता है जो शैशवावस्था से ही बालक को प्रभावित करने लगता है। बालक के जीवन दर्शन एवं शैली का स्वरूप स्कूल, समाज, पड़ोस तथा परिवार के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही स्पष्ट होता है। धीरे-धीरे बालक उस अवस्था को प्राप्त कर लेता है जिसमें वह अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार वातावरण पर प्रभाव डालने में सक्षम होता है।
3. **बुद्धि** (Intelligent)—बालक की बुद्धि, उसके विकास को मुख्य रूप से प्रभावित करती है। मंद बुद्धि बालक का विकास मन्द गति से तथा कुशाग्र बुद्धि वाले बालक का विकास तीव्र गति से होता है।
   टरमन (Terman) ने अध्ययन करके निष्कर्ष निकाला कि तीव्र बुद्धि वाले बालक केवल तेरह महीने में, सामान्य बुद्धि वाले बालक चौदह महीने में, मन्द बुद्धि वाले बालक बाइस महीने में तथा मूर्ख बालक तीस महीने में चलना आरम्भ करते हैं।
   हरलॉक के विचारों में—"उच्च स्तर की बुद्धि विकास को तीव्रगामी बनाने से सम्बन्धित होती है जबकि निम्न स्तर की बुद्धि पिछड़ेपन से सम्बन्धित होती है।"
4. **अन्त:स्रावी ग्रन्थियाँ** (Endocrine Glandes)—बालक के शरीर में अनेक अन्त:स्रावी ग्रन्थियाँ होती हैं जिनमें से विशेष प्रकार के रस का स्रोव होता है। यही रस बालक के विकास को प्रभावित करता है। यदि ये ग्रन्थियाँ रस का स्राव ठीक से न करें तो बालक का विकास अवरुद्ध हो जाता है। जैसे पेराथाइराइड ग्रन्थियाँ हड्डियों के विकास तथा थाइराइड ग्रन्थियाँ थाइमस ग्रन्थि और पिनियल ग्रन्थियाँ शारीरिक तथा मानसिक विकास को प्रभावित करती हैं।
5. **जन्मक्रम** (Birth Order)—बालक के विकास पर परिवार में जन्मक्रम का प्रभाव भी पड़ता है। अध्ययनों से पता चलता है कि परिवार में जन्म लेने वाले प्रथम बालक की अपेक्षा दूसरे, तीसरे बालक का विकास तेज गति से होता है।
6. **पोषाहार** (Balance Food)—बालक के सामान्य विकास के लिए विशेषत: प्रारम्भिक काल में भोजन का अत्यधिक महत्त्व होता है। अच्छे विकास के लिए सन्तुलित भोजन होना आवश्यक है। सन् 1955 में **वाटरलू** ने अफ्रीका और भारत

TOUCH 'n PASS

के बालकों के विकास पर कुपोषण के प्रभाव का अध्ययन करके निष्कर्ष निकाला कि कुपोषण से बालकों का शारीरिक तथा मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है।

7. **भयंकर रोग एवं चोट** (Serious desease and Injury)—बालक के विकास में भयंकर रोग एवं चोट बाधा पैदा करती है। किसी प्रकार की शारीरिक तथा मानसिक चोट बालक के विकास को रोक देती है और उचित दिशा में विकास नहीं होने देती है।
8. **प्रजाति** (Caste)—विभिन्न देशों की प्रजातियों का विकास भिन्न-भिन्न होता है। नीग्रो और भारतीय बच्चों का विकास श्वेत प्रजाति के बच्चों से मन्द गति से होता है।
9. **शुद्ध वायु एवं प्रकाश** (Fresh Air and Light)—स्वच्छ वातावरण में रहने वाले बालकों का विकास गन्दे वातावरण में होने वाले बालकों की अपेक्षा पहले और अच्छी तरह से होता है। बालक के सामान्य और स्वस्थ विकास के लिए शुद्ध वायु तथा सूर्य का प्रकाश अत्यन्त आवश्यक होता है।
10. **लिंग** (Sex)—बालकों के शारीरिक एवं मानसिक विकास में लिंग भेद का प्रभाव भी पड़ता है। जन्म के समय बालकों का आकार बड़ा होता है किन्तु बाद में बालिकाओं में शारीरिक विकास की गति तीव्र होती है।
11. **संस्कृति** (Culture)—बालक के विकास पर भौतिक एवं अभौतिक दोनों प्रकार की संस्कृतियों का असर होता है। उसका विकास उसकी संस्कृति के अनुसार होता है।
12. **परिवार में स्थान** (Place in Family)—पारिवारिक वातावरण और परिवार में स्थान बालक के विकास को काफी प्रभावित करता है। पहले बच्चे की अपेक्षा, दूसरे, तीसरे या चौथे बच्चे का विकास शीघ्र होता है। इसका कारण यह है कि बाद के बच्चों को विकसित वातावरण प्राप्त होता है और उन्हें बड़े भाई-बहनों का अनुसरण करने का अवसर मिलता है।

प्र.7. वंशानुक्रम से आप क्या समझते हैं? इसके विभिन्न नियमों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

वंशानुक्रम का अर्थ
(Meaning of Heredity)

कोई भी बालक अपने माता-पिता तथा अन्य पूर्वजों के जो विभिन्न शारीरिक स्वरूप एवं मानसिक, गुण गर्भाधान के समय प्राप्त करता है। इसे ही उस व्यक्ति का वंशानुगत गुण कहा जाता है। जन्म से पूर्व प्राप्त होने वाले गुण वंशानुगत होते हैं इसलिए वंशानुक्रम को व्यक्ति के जन्मजात गुणों का समूह कहा जाता है। वंशानुक्रम प्रक्रिया के कारण ही मानव से मानव शिशु ही पैदा होता है। अत: आनुवंशिकता जन्मजात शक्ति है जो प्राणी के रंग-रूप, आकृति, यौन-बुद्धि तथा विभिन्न शारीरिक व मानसिक क्षमताओं को निर्धारित करती है।

वंशानुक्रम की परिभाषाएँ (Definitions of Heredity)

आनुवंशिकता या वंशानुक्रम का अर्थ व महत्त्व समझने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने अपनी अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं जो निम्नलिखित हैं—

1. **पीटरसन** के अनुसार, "व्यक्ति को अपने माता-पिता द्वारा उसके पूर्वजों से जो संग्रहित प्रभाव प्राप्त होता है, वही उसका वंशानुक्रम है।"
2. **जेम्स ड्रेवर** के अनुसार, "वंशानुक्रम से अभिप्राय माता और पिता के शारीरिक व मानसिक गुणों का संतानों से हस्तान्तरण है।"
3. **बी०एन० झा** के अनुसार, "आनुवंशिकता व्यक्ति की जन्मजात विशेषताओं का पूर्ण योग है।"
4. **वुडवर्थ** के अनुसार, "वंशानुक्रम उन सभी कारकों को सम्मिलित करता है जो व्यक्ति में जीवन प्रारम्भ करने के समय से ही उपस्थित होते हैं। जन्म के समय नहीं अपितु गर्भाधान के समय अर्थात् जन्म के नौ माह पूर्व ही उपस्थित होते हैं।"
5. **डिंकमेयर** के अनुसार, "वंशानुक्रम तत्त्व वे जन्मजात विशेषताएँ हैं जिन्हें काई बालक जन्म से ही प्राप्त करता है। व्यक्ति के विकास में ये वंशानुक्रम शक्तियाँ प्रधान तत्त्व होने के कारण उसके स्वभाव व जीवनचक्र की गति को नियन्त्रित करती हैं। वंशानुगत तत्त्वों को प्राणी की संरचनात्मक और क्रियात्मक सम्पत्ति समझना चाहिए क्योंकि इन्हीं तत्त्वों की सहायता से प्राणी अपने विकास के लिए जन्मजात और अर्जित क्षमताओं का उपयोग कर पाता है।"

TOUCH 'n PASS

जीवशास्त्री यह कहते हैं कि निषचित अण्डाणु में सम्भवत: उपस्थित विशेष गुणों का योग ही वंशानुक्रम है। यदि सामान्य तरीके से समझा जाए तो यह कहा जा सकता है कि माता-पिता के जनन कोशिकाओं के मेल से बच्चे में शारीरिक, मानसिक विशेषताएँ व योग्यताएँ ही वंशानुक्रम हैं।

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं से वंशानुक्रम के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

1. वंशानुक्रम का मूल आधार गर्भाधान है।
2. वंशानुक्रम द्वारा ही मानव से मानव ही पैदा होता है।
3. वंशानुक्रम विभिन्न शारीरिक व मानसिक गुणों का समूह है जो जन्मजात होते हैं।
4. वंशानुक्रम जन्मजात शक्ति है।
5. वंशानुक्रम गुण प्रत्येक बालक जन्म के समय से ही प्राप्त करता है, जन्म के बाद नहीं।
6. जैसे माता-पिता होते हैं, वैसी ही सन्तान बनती है।
7. बालक प्रौढ़ व्यक्ति का ही लघु रूप है।
8. वंशानुक्रम गुण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरित होते रहते हैं।
9. वंशानुक्रम व्यक्ति के रंग-रूप, आकृति, यौन, बुद्धि, शारीरिक व मानसिक क्षमताओं का निर्धारण करती है।

वंशानुक्रम के नियम (Rules of Heredity)—कुछ मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययनों के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि बालक के विकास पर वंशानुक्रम का अधिक प्रभाव पड़ता है।

1. **लेमार्क** (Lemark) **का अध्ययन**—लेमार्क ने वंशानुक्रम को अर्जित गुणों के हस्तान्तरण का सिद्धान्त बताया है। उनके अनुसार जो माता-पिता के गुण व दोष अपनाते हैं, वही बालक के अन्दर हस्तान्तरित होता है।
2. **गाल्टन** (Galton) **का अध्ययन**—सबसे पहले 1745 में गाल्टन ने सुप्रसिद्ध वकीलों, कलाकारों, साहित्यकारों, शिक्षाविदों, वैज्ञानिकों, न्यायाधीशों तथा मन्त्रियों और उनके निकट सम्बन्धियों के 977 परिवारों का अध्ययन किया। उसमें से मात्र 8 व्यक्ति ही प्रसिद्धि प्राप्त कर सके। गाल्टन ने यह निष्कर्ष निकाला कि व्यक्तियों के परिवारों में व्यक्ति की बुद्धि तथा अन्य मानसिक क्षमताएँ उसके वंशानुक्रम द्वारा निर्धारित होती हैं। इसमें वातावरण का सहयोग नहीं होता है।
3. **विंशिप** (Winship) **का अध्ययन**—विंशिप ने रिचर्ड एडवर्ड के परिवार का अध्ययन किया। एडवर्ड ने एक शिक्षित महिला के साथ विवाह किया, उस महिला से उत्पन्न सन्तानों को ख्याति मिली। बाद में एडवर्ड ने दूसरी शादी की जो महिला साधारण थी। उससे उत्पन्न सन्तानों को उतनी ख्याति नहीं मिल सकी। इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकला कि वंश परम्परा ही बालक के विकास की सीमा व दिशा निर्धारित करती है।
4. **प्रत्यागमन का सिद्धान्त**—माता-पिता में दो प्रकार के गुणसूत्र होते हैं—जाग्रत गुणसूत्र (Dominent) व सुप्त गुणसूत्र (Recessive)।
   (i) **जाग्रत गुणसूत्र** (Dominent)—यह गुणसूत्र माता-पिता के समान गुण हस्तान्तरित करते हैं।
   (ii) **सुप्त गुणसूत्र** (Recessive)—ये गुणसूत्र विपरीत गुण स्तरित करते हैं। यही कारण है कि तीव्र बुद्धि वाले माँ-बाप के बच्चे मंद बुद्धि तथा मंद बुद्धि माँ-बाप के तीव्र बुद्धि वाले हो जाते हैं।
5. **थार्नडाइक का अध्ययन**—थार्नडाइक ने 50 जुड़वाँ बच्चों पर व 6 मानसिक परीक्षण किए। इनके अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि साधारण भाई-बहन की तुलना में जुड़वाँ बच्चों की मानसिक योग्यता में दुगुनी समानता पायी जाती है।
6. **गोडार्ड** (Goddard) **का अध्ययन**—गोडार्ड ने मार्टिन कालीकाक जो एक सैनिक था, उसके परिवार का अध्ययन किया। इस सैनिक ने सबसे पहले एक पथभ्रष्ट महिला के साथ सम्बन्ध स्थापित किए। इस महिला के जो 480 वंशज थे, उनमें 143 मंद बुद्धि 46 साधारण बुद्धि वाले थे तथा निम्न नैतिक स्तर के थे। 36 सन्तानें अवैध थीं, 33 वेश्याएँ, 24 शराबी, 8 वैश्यालयों के मालिक, 3 अपराधी तथा 3 मिर्गी के रोगी निकले। बाद में कालीकाक ने एक सामान्य महिला से विवाह किया जिसके सभी वंशज सामान्य कोटि के व्यक्ति थे। अन्त में यह निष्कर्ष निकला कि वंशानुक्रम का सम्बन्ध अनैतिकता, दुराचार व पथभ्रष्टता व मंद बुद्धिता से है।

TOUCH 'n' PASS

7. **मेण्डल का नियम**—19वीं सदी में मेण्डल ने मटर के दोनों पर प्रयोग किया जिसे वंशानुक्रम के लिए नियम की मान्यता प्राप्त हुई। इसके नियम के परिणाम निम्नवत् हैं—
   (i) एक पीढ़ी के बालक में जो गुण मिलते हैं, उसके प्रभावी गुण अगली पीढ़ी से मिलते हैं। अप्रभावी गुण प्रकट नहीं होते हैं।
   (ii) अप्रभावी गुण तभी प्रकट होते हैं जब वे माँ-बाप दोनों में हों।
   (iii) एक पीढ़ी से दूसरी व दूसरी से तीसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होते हैं।
   (iv) शारीरिक व मानसिक दोनों प्रकार के गुण बच्चों में हस्तान्तरित होते हैं।
8. **डग्डेल** (Dagdale) **का अध्ययन**—डग्डेल ने ज्यूकस नामक एक मछली शिकारी के परिवार का अध्ययन किया। ज्यकूस पथभ्रष्ट व दुराचारी व्यक्ति था। उसका विवाह भी इसी प्रकार की महिला से हुआ। इन दोनों के जो एक हजार वंशज हुए, उनमें 300 बचपन में मर गए, 310 भिक्षुक, 240 आजीवन रोगी, 130 अपराधी तथा 7 हत्यारे निकले। मात्र 20 ही ऐसे निकले जो सामान्य कोटि के थे। इससे यह निष्कर्ष निकला कि व्यक्ति के आचरण पर वंशानुगत का प्रभाव पड़ता है।
9. **न्यूमैन व फ्रीमेन** (newman & Freeman) **का अध्ययन**—इन दोनों ने दो जुड़वाँ बच्चों—रिचर्ड तथा रेमण्ड को अलग-अलग वातावरण में रखकर अध्ययन किया। एक माह की अवस्था में रिचर्ड को एक ट्रक चलाने वाले को दे दिया तथा रेमण्ड को एक डॉक्टर परिवार को दे दिया। रेमण्ड को सुन्दर व स्वच्छ वातावरण मिला। दस वर्ष बाद जब दोनों का अध्ययन किया गया तो शारीरिक गुणों में ही नहीं, बुद्धि में भी दोनों समान पाए गए इससे स्पष्ट है कि वंशानुक्रम व्यक्तित्व विकास को प्रभावित करता है।
10. **जीव सांख्यिकीय अध्ययन**—इस नियम के अनुसार बच्चे को अपने माता-पिता से 50% गुण, दादा, दादी, नाना-नानी से 25% गुण तथा परदादा-दादी, परनाना-नानी से 12% गुण प्राप्त होते हैं।

प्र.8. वातावरण से आप क्या समझते हैं? वातावरण के प्रकारों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

वातावरण (Environment)

जन्म के पश्चात् किसी प्राणी के विकास में बाह्य शक्तियाँ, परिस्थितियाँ तथा प्रभाव जो प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं, उसे वातावरण कहते हैं। बालक के विकास व आनुवंशिक तत्त्वों के अतिरिक्त निर्धारित व प्रभावित करने वाले सभी तत्त्व इसके अन्तर्गत आते हैं। जन्म से पूर्व गर्भधान के समय वंशानुक्रम गुण प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु गर्भकालीन विकास व जन्म के बाद के प्रभावित करने में वातावरण का योगदान होता है।

वातावरण का अर्थ (Meaning of Environment)

वातावरण का व्यापक अर्थ है। सभी भौतिक व अभौतिक वस्तुओं के प्रभाव द्वारा व्यक्ति का सर्वांगीण विकास होता है। वातावरण को पर्यावरण भी कहा जाता है। पर्यावरण शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है—परि + आवरण। परि का अर्थ है 'चारों ओर' और आवरण का अर्थ है 'ढँकना'। अत: वे सभी वस्तुएँ जो हमें चारों तरफ से घेरे हुए हैं, पर्यावरण के अन्तर्गत आती हैं। पर्यावरण के प्रभाव से कोई भी प्राणी अछूता नहीं है। व्यक्ति को जैसा वातावरण मिलता है, वैसा ही उसका विकास होता है। अनुपयुक्त वातावरण में उसका समुचित विकास सम्भव नहीं है। जन्म से पूर्व गर्भकाल से ही वातावरणीय तत्त्वों का प्रभाव बालक के विकास पर पड़ने लगता है। जन्म के बाद आयु के विभिन्न वातावरणीय तत्त्वों का प्रभाव बच्चे के विकास पर पड़ने लगता है। इसलिए व्यक्तित्व में भिन्नता पायी जाती है।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक **वाटसन** (Watson) ने कहा है, "मुझे नवजात शिशु दे दो, उसे मैं जो चाहूँ बना सकता हूँ।"

वातावरण की परिभाषाएँ (Definitions of Environment)

वातावरण के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने अपनी-अपनी परिभाषाएँ दी हैं। निम्नलिखित परिभाषाएँ वातावरण के अर्थ को स्पष्ट करती हैं।

1. **पी० जिसबर्ट** के अनुसार, "पर्यावरण वह सभी वस्तुएँ हैं जो किसी एक वस्तु को चारों ओर से घेरे हुए हैं तथा उसे प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं।"
2. **वुडवर्थ** के अनुसार, "आनुवंशिकता में भिन्न व्यक्ति समान नहीं होते हैं किन्तु समान वातावरण उन्हें समान बना देता है।"

3. **बोरिंग, लैंगफील्ड एवं वील्ड** के अनुसार, "व्यक्ति के वातावरण के अन्तर्गत उन सभी उत्तेजनाओं का योग आता है जिन्हें वह जन्म से मृत्यु तक ग्रहण करता है।"
4. **टी०डी० इलियट** के अनुसार, "किसी भी चेतन पदार्थ की इकाई के प्रभावशाली उद्दीपन एवं अन्त:क्रिया के क्षेत्र को वातावरण कहते हैं।

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति के आस-पास व चारों ओर का वातावरण विस्तृत होता है। वातावरणीय तत्त्वों से प्रभावित होकर ही व्यक्ति का विकास होता है।

वातावरण के प्रकार (Types of Environment)

प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से विकास के क्रम में वातावरण बालक को प्रभावित करते हैं। ये वातावरण निम्नलिखित हैं—

1. **आन्तरिक वातावरण**—गर्भधान के पश्चात् वातावरण का प्रभाव बच्चों के विकास पर पड़ने लगता है। गर्भवती महिला के आहार, संवेगात्मक अनुभूतियाँ गर्भकालीन कष्ट, गर्भकालीन औषधियाँ, ग्रन्थियों की क्रियाशीलता इत्यादि का प्रभाव बच्चे के विकास पर पड़ता है। यदि गर्भावस्था के दौरान गर्भवती को पौष्टिक भोजन का अभाव होता है तो जीन्स द्वारा स्वस्थ अनुवांशिकता प्राप्त करने पर भी बच्चा कमजोर हो जाता है।
2. **जन्म के बाद का वातावरण**—जन्म के तुरन्त बाद शिशु को एक नया व भिन्न वातावरण मिलता है जिससे उसका समायोजन होता है। यदि कोई बच्चा आनुवंशिक गुणों को प्राप्त करके स्वस्थ पैदा होता है लेकिन जन्म के बाद उचित देखभाल नहीं हो पाती तो बच्चा रोगग्रस्त हो जाता है।
3. **भौतिक वातावरण**—इसके अन्तर्गत जलवायु तथा अन्य सभी भौतिक वस्तुएँ आती हैं, जैसे—जल वायु, स्वच्छता, भोजन, मनोरंजन के साधन व रहने का स्थान इत्यादि।
4. **मनोवैज्ञानिक वातावरण**—व्यक्ति की मानसिक दशाओं पर अनुकूल व प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली परिस्थितियाँ व दशाएँ मनोवैज्ञानिक वातावरण कहलाती हैं। यदि मनोवैज्ञानिक वातावरण अच्छा होता है तो व्यक्ति रुचि व मनोयोग से कार्य करता है क्योंकि बालक स्वयं करके बहुत कुछ सीखता है जिससे उसकी बुद्धि का विकास होता है। यदि वातावरण प्रतिकूल होता है तो शारीरिक व मानसिक थकान का अनुभव करता है। यदि तीव्र बुद्धि वाले बालक को अनुपयुक्त मनोवैज्ञानिक वातावरण दिया जाता है तो उसकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। यदि सामान्य बुद्धि वाले बालक को उपयुक्त वातावरण प्रदान किया जाए तो उसका मानसिक विकास अच्छा होता है। इसलिए वातावरण का चुनाव करते समय यह आवश्यक हो जाता है कि प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष रूप में इसका प्रभाव बच्चे पर पड़ता है। इसे अवश्य ध्यान देना चाहिए।
5. **पारिवारिक वातावरण**—जन्म के बाद सर्वप्रथम परिवार का ही वातावरण बच्चे को मिलता है। परिवार द्वारा बच्चे का विकास विभिन्न रूपों में होता है—
   (i) **परिवार का आन्तरिक वातावरण**—सभी परिवारों का आन्तरिक वातावरण एक जैसा नहीं होता। कुछ परिवारों का वातावरण अच्छा नहीं होता, जैसे—लड़ाई-झगड़ा, आलोचना, ईर्ष्या-द्वेष, क्लेश इत्यादि। ऐसा वातावरण किसी भी बच्चे का समुचित विकास नहीं कर सकता।
   (ii) **बालक-अभिभावक सम्बन्ध**—जन्म के बाद माता-पिता का व्यवहार बालक के विकास को प्रभावित करता है। इसे कई रूपों में देखा जा सकता है, जैसे—
      (a) **अति सतर्क माता-पिता**—अति सतर्क माता-पिता छोटी बातों पर बच्चे को लेकर चिंतित हो जाते हैं। हर समय अपने बालकों के साथ रहना चाहते हैं। उनका काम स्वयं कर देते हैं। ऐसे बालक अत्मनिर्भर नहीं हो पाते। प्रत्येक कार्य करते समय दूसरों पर आश्रित हो जाते हैं। पराश्रयता उसके विकास में बाधक हो जाती है।
      (b) **तिरस्कार करने वाले**—माता-पिता बच्चों को हर समय डाँटते रहते हैं व सामान्य-सी गलती पर कठोर दण्ड दे देते हैं जिससे बालक में अवज्ञा की भावना उत्पन्न होती है। ये बालक आक्रामक व विरोधी प्रवृत्ति के हो जाते हैं जिससे सामाजिक व संवेगात्मक विकास में बाधा उत्पन्न होती है।
      (c) **कठोर माता-पिता**—जो माता-पिता बच्चों की स्वतन्त्रता पर कठोर अनुशासन रखते हैं, वे बच्चे के विकास में बाधक होते हैं। ऐसे बच्चे को भय व निर्णय शक्ति का अभाव हमेशा परेशान करता है और बच्चा आत्मविश्वास खो देता है।

TOUCH 'n' PASS

(d) **पक्षपाती माता-पिता**—कुछ माता-पिता अपने बच्चों के साथ समान व्यवहार नहीं करते हैं। किसी एक की तुलना में दूसरे से अधिक प्यार करते हैं या अधिक स्नेह व सुविधाएँ किसी एक बच्चे को देते हैं और दूसरे को बिल्कुल नहीं या कम देते हैं फलस्वरूप बालकों में हीनता की भावना का विकास होता है। ऐसे बालक ईष्यालु होते हैं। तथा उनका समुचित विकास नहीं हो पाता।

(e) **सामान्य माता-पिता**—कुछ माता-पिता सामान्य कोटि के होते हैं जो सभी बच्चों के साथ आवश्यकतानुसार नरमी व कठोरता का प्रयोग करते हैं। बालकों की गलती पर न तो कठोर दण्ड देते हैं और न विमुख होते हैं जिससे बालक स्वयं ही महसूस करता है कि क्या गलती हुई है। ऐसे बालकों का विकास सभी क्षेत्रों में सामान्य गति से होता है।

(iii) **परिवार की रचना**—परिवार की रचना का अर्थ है—परिवार का छोटा या बड़ा होना, बच्चों की संख्या अधिक होना या कम होना, पिता का न होना या माँ का न होना या संयुक्त परिवार। इन सभी परिवारों की रचना के अनुकूल बच्चे का विकास होता है, जैसे—यदि बच्चा अकेला है तो माता-पिता का पूरा ध्यान उस पर होता है। उसका विकास दूसरी तरह से होता है। यदि संयुक्त परिवार है तो बालकों को अनुकरण का अवसर अधिक मिलता है। अच्छे आचरण या बुरे दोनों ही सीख जाते हैं। मनोरंजन, अति संरक्षण या जरूरत से अधिक स्वतन्त्रता भी बच्चे के विकास में बाधक होती है।

(iv) **परिवार की सामाजिक एवं आर्थिक दशा**—जिन परिवारों की आर्थिक स्थिति अच्छी होती है, उनके बालकों का विकास अच्छा होता है। शहर व गाँव दोनों माहौल में बच्चों का विकास अलग-अलग होता है। परिवार की आर्थिक दशा भी विकास को प्रभावित करती है। अधिक साधन-सम्पन्नता भी बालकों के विकास को प्रभावित करती है। अति निर्धनता भी विकास को प्रभावित करती है।

(v) **विद्यालय का वातावरण**—परिवार के बाद विद्यालय का वातावरण बालक के विकास के विभिन्न रूपों को प्रभावित करता है। विद्यालय के मित्र, शिक्षक व अनुशासन बालक को निम्न प्रकार प्रभावित करते हैं—

(a) **शिक्षक**—बच्चों के लिए शिक्षक आदर्श व अनुकरणीय होता है। शिक्षक का कार्य, व्यवहार, विचार तथा मनोवृत्तियाँ निरन्तर बालक को प्रभावित करते रहते हैं। एक अच्छा शिक्षक बच्चे के बौद्धिक तथा सामाजिक विकास में योगदान देता है।

(b) **विद्यालय के मित्र**—विद्यालय में बालक को खेल के साथी मिलते हैं जिनके बीच रहकर बालक का सामाजिक विकास होता है क्योंकि मित्रों के साथ रहने से ही सामूहिकता की भावना का विकास होता है। बालक में संवेगात्मक नियन्त्रण आ जाता है और विचारों के आदान-प्रदान से भाषा का विकास होता है।

(c) **विद्यालय का अनुशासन**—प्रत्येक बालक को विद्यालय जाने पर वहाँ के नियमों का पालन करना पड़ता है; जैसे—समय से विद्यालय जाना, कक्ष में शांत रहना, सत्य बोलना, चोरी न करना, बिना आज्ञा के कक्षा से बाहर न जाना इत्यादि। इन नियमों से बच्चे का जीवन अनुशासित हो जाता है। बच्चे का सामाजिक, नैतिक व चारित्रिक विकास होता है।

(vi) **सामाजिक वातावरण का प्रभाव**—प्रत्येक परिवार में कुछ रीति-रिवाज, आचार-विचार, व्यवहार व परम्पराएँ होती हैं जो सामाजिक वातावरण होती हैं। सामाजिक प्राणी होने के कारण समाज का साहित्य, कला, संगीत, भाषा का आचार-विचार, सामाजिक धरोहर होती है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरित होती है। सामाजिकता का विकास होता है।

(vii) **सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव**—बालक के विकास में सांस्कृतिक वातावरण प्रभाव डालता है। बच्चा जिन संस्कृति में पलता है व विकसित होता है, उसके व्यक्तित्व का विकास उसी के अनुसार होता है।

(viii) **असामान्य वातावरण का प्रभाव**—असामान्य व अनुपयुक्त वातावरण से तात्पर्य ऐसे वातावरण से है जिसमें विपरीत प्रकृति के लोग हों, जैसे—मानव शिशु को मनुष्य के साथ न रखकर पशु के साथ रखना इत्यादि।

इस प्रकार विभिन्न वातावरण से अलग-अलग रूपों में शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और संवेगात्मक विकास प्रभावित होता है। ❐

UNIT-VI

गर्भकालीन विकास एवं जन्म प्रक्रिया
Prenatal Development and Birth Process

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. निषेचन किसे कहते हैं?

उत्तर निषेचन वह प्रक्रिया है जिसमें पुरुष के शुक्राणु व स्त्री के अण्डाणु सम्पर्क में आते हैं तो उनमें से एक शुक्राणु अण्डाणु के साथ मिल जाता है। अत: शुक्राणु और अण्डाणु का यह संलयन निषेचन कहलाता है।

प्र.2. युग्मनज अवस्था से आप क्या समझते हैं?

उत्तर युग्मनज अवस्था (Zygotic Age)—यह अवस्था गर्भधारण के साथ ही प्रारम्भ होती है क्योंकि स्त्री के अण्डाणु तथा पुरुष के शुक्राणु ही मिलकर युग्मनज का निर्माण (Formation of the Zygote) करते हैं।

इन अण्डाणु तथा शुक्राणु में क्रोमोसोम (Chromosomes) पाए जाते हैं जिनकी संख्या 23 जोड़े होती है। इन क्रोमोसोम्स में हजारों की संख्या में जीन्स (genes) पाए जाते हैं। यह जीन्स वंशानुक्रम के वाहक होते हैं।

अण्डाणु शुक्राणु के मिलने से जो युग्मनज बनता है उसे परिपक्वता प्राप्त करने के लिए एक विशेष प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है इस प्रक्रिया के फलस्वरूप अण्डाणु तथा शुक्राणु के 23 जोड़े क्रोमोसोम का एक-एक क्रोमोसोम युग्मनज में आ जाता है। इस प्रकार कुछ पिता के कुछ माता के युग्मनज में पहुँच जाते हैं। कौन-से गुण आएँगे यह संयोग पर निर्भर रहता है।

प्र.3. प्रसव प्रक्रिया के लक्षण बताइए।

उत्तर 1. अब अल्पश्वास की समस्या कम हो जाती है।
2. भोजन ठीक से पचने लगता है भूख अधिक लगती है।
3. शिशु का वजन कम अनुभव होने लगता है।
4. बार-बार पेशाब आने की शिकायत अधिक हो जाती है।

प्र.4. शुक्राणु कहाँ पाए जाते हैं और इसमें कितने जोड़ी गुणसूत्र पाए जाते हैं?

उत्तर शुक्राणुओं का निर्माण वृषण में होता है। इनमें 22 जोड़ी दैहिक तथा 1 जोड़ी लिंग गुणसूत्र पाए जाते हैं अर्थात् शुक्राणु गुणसूत्रों के 23 जोड़े पाए जाते हैं।

प्र.5. प्रात:कालीन वमन तथा दीर्घकालीन वमन में क्या अन्तर है?

उत्तर प्रात:कालीन वमन में शिकायत अधिकतर गर्भवती स्त्रियों की होती है तथा 3-4 माह तक यह शिकायत दूर हो जाती है। दीर्घकालीन वमन गर्भावस्था के दूसरे माह से (कभी-कभी प्रथम माह से भी) प्रारम्भ हो जाती है तथा यह शिकायत 8वें-9वें माह तक चलती है। दीर्घकालीन वमन में गर्भवती स्त्री जो कुछ भी भोजन करती है उसे और गर्भस्थ शिशु दोनों को उसका लाभ नहीं पहुँचता क्योंकि वमन से भोजन बाहर निकल जाता है।

प्र.6. आर-एच० तत्त्व क्या है?

उत्तर आर-एच० तत्त्व—विदेशों में विवाह से पूर्व लड़के/लड़कियों के रक्त का परीक्षण किया जाता है क्योंकि जिन लड़कों का Rh (+ve) है उन्हें Rh (–ve) अर्थात् ऋणात्मक एच० वाली लड़कियों से विवाह नहीं करना चाहिए क्योंकि इस दम्पत्ति से पैदा शिशु का जीवन तब तक नहीं बचता जब तक उनका पूरा रक्त निकालकर ग्रुप का रक्त नहीं डालते। इस बात से आर-एच० तत्त्व का महत्त्व स्पष्ट होता है।

TOUCH 'n' PASS

प्र.7. प्रसव करवाते समय नर्स के पास कौन-कौन सी वस्तुएँ होनी चाहिए?

उत्तर प्रसव करवाने के लिए नर्स के पास निम्नलिखित वस्तुएँ होनी चाहिए—

1. ऐन्टीसेप्टिक घोल।
2. टिंचर आयोडीन तथा साबुन।
3. दो नुकीली कैंचियाँ।
4. थर्मामीटर तथा तापक्रम नोट करने का चार्ट।
5. सेफ्टीपिन, ड्रेसिंग फोरसेप्स।
6. नाखून के ब्रश, हाथ पोंछने का तौलिया।
7. डूशकन व रबर, हिगेनसन्स, हाइपोडेरमिक सिरिंज।
8. धातु का बना केथेटर, म्यूकस निकालने का यन्त्र।
9. ब्रेस्ट पम्प।
10. सिल्वर नाइट्रेट की गोलियाँ।
11. रबर के दस्ताने।
12. छोटा स्टरलाइजर।
13. 3 मीटर लम्बा एक रबर का टुकड़ा।
14. 1 मीटर लम्बा एक रबर का टुकड़ा।
15. स्टरलाइजर की हुई 1 पौण्ड रुई।
16. सेनेटरी पैडस तथा बेल्ट।
17. शल्य सेफ्टीपिन।
18. डिटॉल (Dettol)।
19. हाथ धोने के लिए टब।
20. 2 जग।
21. 2 टब और दो बाल्टियाँ।
22. साबुन तथा उसके रखने के लिए साबुनदानी।
23. नाखून साफ करने का ब्रुश।
24. एनिमा तथा बैडपेन।
25. गर्म पानी की थैली।

प्र.8. शिशु के लिए आवश्यक सामग्री की सूची बनाइए।

उत्तर शिशु के लिए आवश्यक सामग्री निम्नलिखित हैं—

1. सफेद वैसलीन की शीशी तथा मछली का तेल।
2. एक पैकेट मिड फाइवी थ्रेड।
3. Baby Soap.
4. जैतून का तेल
5. Baby Powder.
6. बोरिक क्रिस्टल।
7. कैंची, सैफ्टीपिन।
8. गर्म पानी की थैली।
9. क्रेप की लम्बी-चौड़ी साफ पट्टियाँ।
10. 6 सेमी चौड़ी तथा 60 सेमी लम्बी चार पट्टियाँ।
11. पुराने धुले वस्त्र।

प्र.9. नवजात शिशु के लिए वस्त्रों की विशेषताएँ बताइए।

उत्तर नवजात के वस्त्रों की निम्नलिखित विशेषताएँ होना अति आवश्यक है—

1. पर्याप्त उष्णता प्राप्त हो सके। माता के गर्भ से बाहर आने पर उसे वातावरण के विभिन्न तापमान में रहना पड़ता है। इस अचानक परिवर्तन के लिए शरीर के तापमान की सुरक्षा के लिए तथा बाह्य प्रभाव को रोकने के लिए वस्त्रों की आवश्यकता होती है।
2. नवजात शिशु के वस्त्र आरामदायक होने चाहिए जिससे क्रियाशीलता करते समय बच्चे को उलझन न हो व बाधा न हो।
3. नवजात शिशु की त्वचा अत्यधिक कोमल होती है इसलिए रोग निरोधक शक्ति भी कम होती है। इसलिए वस्त्रों का स्वच्छ व विसंक्रमित होना आवश्यक होता है।
4. मौसम व जलवायु के अनुरूप वस्त्र होने चाहिए। सूती वस्त्र ही सर्वोत्तम होते हैं।
5. नवजात के वस्त्र इस प्रकार के होने चाहिए कि उसे पहनाने व निकालने में सुविधाजनक हो।

प्र.10. जन्म के बाद शिशु का रोना क्यों आवश्यक है?

उत्तर जन्म के बाद शिशु का रोना आवश्यक है, क्योंकि रोने से फेफड़े फैलते हैं और शिशु का श्वसन प्रारम्भ हो जाता है।

प्र.11. नवजात शिशु के लिए सर्वोत्तम आहार क्या है?

उत्तर नवजात शिशु के लिए माता का दूध सर्वोत्तम भोजन है जिसमें शरीर की वृद्धि के लिए आवश्यक पौष्टिक तत्त्व, प्रोटीन, वसा, कैल्शियम व कार्बोहाइड्रेट उपलब्ध होते हैं। प्रसव के बाद दो-तीन दिन माता के दूध में पीला व प्रोटीनयुक्त तरल पदार्थ निकलता है जिसका पान करने से शिशु की पाचन क्रिया सक्रिय होती है। स्वस्थ माता ही स्वस्थ दूध पिला सकती है। यदि किन्हीं कारणों से माता का दूध बच्चे को नहीं मिलता तो बच्चे को गाय का दूध पिलाना चाहिए जो बोतल के द्वारा शिशु को पिलाया जाता है।

TOUCH 'n' PASS

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. बालक के लिंग का निर्धारण किस प्रकार होता है?

उत्तर

बालक का लिंग निर्धारण (Sex Determination of a Child)

बालक का लिंग क्या होगा यह पुरुष के शुक्राणु पर निर्भर करता है। प्रत्येक स्त्री तथा पुरुष के अण्डाणु व शुक्राणु में 23 जोड़े अर्थात् 46 क्रोमोसोम्स (Chromosomes) पाए जाते हैं। इन्हीं क्रोमोसोम्स द्वारा बच्चे को वंशानुगत विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। स्त्री अण्डाणु के 23 जोड़े क्रोमोसोम्स एकसमान होते हैं, ये X-क्रोमोसोम कहलाते हैं। पुरुष शरीर से निकलने वाले शुक्राणुओं में दो प्रकार के क्रोमोसोम्स पाए जाते हैं जिनमें 22 जोड़े क्रोमोसोम्स एकसमान होते हैं, जबकि 23वाँ जोड़ा भिन्न होता है। इस जोड़ में X व Y प्रकार के गुणसूत्र पाए जाते हैं जिन्हें लिंग गुणसूत्र भी कहा जाता है। निषेचन से पूर्व अण्डाणु के क्रोमोसोम दो रूपों में विभक्त हो जाते हैं—22X + X व 22X + X, जबकि शुक्राणुओं के क्रोमोसोम्स के विभाजन के फलस्वरूप दो रूप बन जाते हैं—22X + X तथा 22X + Y.

यदि अण्डाणु के X लिंग क्रोमोसोम का शुक्राणु के Y लिंग कोमोसोम के साथ संलयन होता है तब यह सन्तान लड़का होगी।

22X + X	×	22X + Y	=	44X XY
अण्डाणु		शुक्राणु		लड़का

यदि अण्डाणु के X लिंग क्रोमोसोम का शुक्राणु के X क्रोमोसोम के साथ संलयन होता है, तब यह सन्तान लड़की होगी।

22X + X	×	22X + X	=	44X XX
अण्डाणु		शुक्राणु		लड़की

इस प्रकार शुक्राणु द्वारा ही सन्तान का लिंग निर्धारण होता है।

प्र.2. जन्म से पूर्व विकास की कितनी अवस्थाएँ होती हैं?

उत्तर जन्म से पूर्व की विकास अवस्थाओं को 3 भागों में बाँटा जाता है—

1. **डिम्बावस्था**—यह निषेचन से लेकर दूसरे सप्ताह तक रहती है। इस डिम्बावस्था तक इसका आकार एक-सा ही रहता है। गर्भाशय तक पहुँचते समय इसका आकार पिन की टोपी के बराबर होता है। डिम्बावस्था में इसका पोषण केन्द्रक के चारों ओर के वसा द्रव्य के द्वारा ही होता है। इस बीच डिम्ब का कई बार विभाजन उप-विभाजन होता है। जिनसे कोशिकाओं का एक झुण्ड-सा बन जाता है। इन कोशिकाओं की आन्तरिक और बाह्य परत अलग-अलग होती है। इसमें से बाह्य परत सहायक ऊतक के रूप में तथा आन्तरिक परत भ्रूण के रूप में विकसित होती है। इस बीच गर्भाशय की भीतरी दीवार में रक्त नलिकाओं की वृद्धि हो जाती है ताकि गर्भाशय की दीवार मुलायम, मोटी गद्दीदार हो जाएँ। 10 दिन के अन्दर यह डिम्ब गर्भाशय की दीवार में रुधिर वाहिकाएँ तोड़कर उसमें चिपक जाते हैं और अब इसका पोषण गर्भाशय की रुधिर वाहिकाओं द्वारा होता है।
2. **भ्रूणावस्था**—निषेचन के दूसरे से लेकर 2 माह के अन्त की अवस्था भ्रूणावस्था कहलाती है।
3. **गर्भावस्था**—यह 2 माह से लेकर शिशु-जन्म तक की अवस्था है।

प्र.3. प्रसव पीड़ा के कारणों की विवेचना कीजिए।

उत्तर

प्रसव पीड़ा के कारण (Causes of Labour Pain)

प्रसव पीड़ा के प्रमुख तीन कारण हैं—

1. **प्रसव संस्थान के हार्मोन स्राव में असन्तुलन**—गर्भावस्था के प्रारम्भ से गर्भाशय में पाए जाने वाले हार्मोन अपने कार्य को सन्तुलित रूप से करते हुए गर्भाशय के शिशु को सुरक्षित रखने में सहायक होते हैं। इस्ट्रोजन (Estrogen) उत्तेजना का काम तथा प्रोजोस्ट्रोन (Progestrong) विस्तारण का काम करता है। गर्भकाल पूर्ण होने पर इसके स्राव में असन्तुलन आने लगता है इसे विस्तारण प्रक्रिया में बाधा आती है। प्रोजोस्ट्रोन के स्राव में कमी आने से गर्भाशय की पेशियों की क्रियाशीलता बढ़कर शिशु को गर्भाशय से बाहर निकालने का प्रयत्न करती है जिसके खिंचाव से पीड़ा होती है।
2. **गर्भाशय में परिवर्तन**—गर्भावस्था के आठ माह तक शिशु का सिर ऊपर तथा टाँगे नीचे होती हैं नौवे माह में शिशु अपनी स्थिति बदलता है सिर नीचे टाँगे ऊपर हो जाती हैं। शिशु का सिर नीचे आ जाने के कारण गर्भाशय का निचला भाग (Osthmus) अधिक फैल जाता है। अत: गर्भावती तन्त्रिकाओं पर दबाव पड़ने के कारण प्रसव पीड़ा होती है।

3. **माँसपेशीय संकुचन**—गर्भाशय का ऊपरी भाग (Funds) चौड़ा होता है। कम भाग की माँसपेशियाँ मजबूत होती हैं। गर्भाशय के आठ माह तक बच्चे का सिर इस ऊपरी चौड़े मजबूती माँसपेशियों वाले भाग में रहता है। नौवें माह में बालक गर्भाशय में अपनी स्थिति बदलता है और घूमता हुआ इस स्थिति में आ जाता है कि सिर गर्भाशय के निचले भाग (Osthmus) में आता है तथा ग्रीवर (Crevix) का भी विस्तारण होता है यहाँ की माँसपेशियों में फैलाव आता है गर्भाशीय दबाव बढ़ता है जिसके प्रभाव से उदर तथा मध्यच्छद पेशियों पर भी पड़ता है। इस समस्त क्षेत्र की माँसपेशियों का दबाव बढ़ने के कारण प्रसव पीड़ा होती है।

प्र.4. गर्भपात के प्रकारों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

गर्भपात के प्रकार (Kinds of Abortion)

गर्भपात निम्न प्रकार के होते हैं—

1. **भयपूर्ण गर्भपात** (Threatened Abortion)—जब योनि से रक्त बहने के साथ-साथ पेडू के निचले भाग में पीड़ा भी होती है तो यह भयपूर्ण गर्भपात का संकेत होता है जिसे बिस्तर पर पूर्ण आराम करके रोका जा सकता है। चिकित्सक के परामर्श व उचित देखभाल द्वारा इसे रोका जा सकता है।
2. **अनिवार्य गर्भपात** (Inevitable Abortion)—जब योनि से तीव्र रक्तस्राव थक्कों के रूप में होता है तो गर्भाशय की मांसपेशियों के संकुचन के कारण पीड़ा होती है तो गर्भपात कराना आवश्यक हो जाता है।
3. **अपूर्ण गर्भपात** (Incomplete Abortion)—अनिवार्य गर्भपात होने पर जब अपरा का कुछ भाग गर्भाशय में रह जाता है तो गर्भाशय में अवशेष भाग में सड़न उत्पन्न होने से विषाक्तता बढ़ने लगती है। चिकित्सक से गर्भाशय की सफाई करा देनी चाहिए।
4. **पूर्ण गर्भपात** (Complete Abortion)—जब गर्भपात के दौरान तीव्र पीड़ा के साथ गर्भाशय के सभी पदार्थ रक्तस्राव के साथ बाहर निकलने लगते हैं तो कुशल चिकित्सक के द्वारा गर्भपात कराना चाहिए अन्यथा भविष्य में कोई समस्या बढ़ सकती है।
5. **चिकित्सकीय गर्भपात** (Therapuetic Abortion)—जब गर्भाशय में किसी कारणवश भ्रूण की ठीक से वृद्धि नहीं होती तो गर्भवती की जान को खतरा हो जाता है तो चिकित्सक शिशु की स्वास्थ्य रक्षा हेतु स्वत: ही गर्भपात की सलाह देते हैं।
6. **आर-एच० तत्त्व** (Rh Factors)—आर-एच० कारक परीक्षण सबसे पहले रहसस बन्दर (Rhesus Monkey) पर किया गया। उसी के नाम पर इस तत्त्व का नाम आर-एच० पड़ा। आर-एच० का तात्पर्य शरीर में उपस्थित उस पदार्थ से है जो लाल रक्त कोषों में पाया जाता है। यदि किसी व्यक्ति के लाल रक्त कोषों में आर-एच० तत्त्व उपस्थित है व धनात्मक नहीं कहलाता है नहीं तो आर-एच० नेगेटिव कहलाता है। आर-एच० धनात्मक व ऋणात्मक दोनों ही स्थिति सामान्य व स्वाभाविक हैं। उन्हें परिवर्तित नहीं किया जा सकता है। यह वंशानुक्रम पर आधारित होता है।

विदेशों में विवाह से पूर्व लड़के/लड़कियों के रक्त का परीक्षण किया जाता है क्योंकि जिन लड़कों का Rh (+ ve) है उन्हें Rh (– ve) अर्थात् ऋणात्मक एच० वाली लड़कियों से विवाह नहीं करना चाहिए क्योंकि इस दम्पत्ति से पैदा शिशु का जीवन तब तक नहीं बचता जब तक उनका पूरा रक्त निकालकर ग्रुप का रक्त नहीं डालते। इस बात से आर-एच० तत्त्व का महत्त्व स्पष्ट होता है।

प्र.5. गर्भाधान प्रक्रिया में आर-एच० के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

गर्भाधान प्रक्रिया में आर-एच० का महत्त्व (Importance of Rh in Conception Process)

यह गर्भाधान प्रक्रिया में गर्भस्थ शिशु को प्रभावित करता है। यदि स्त्री और पुरुष का आर-एच० तत्त्व समान नहीं होता तो गर्भस्थ शिशु के विकास में बाधा उत्पन्न होती है। यदि स्त्री का आर-एच० ऋणात्मक होता है व पुरुष का धनात्मक होता है तो स्त्री शरीर के तत्त्व में प्रतिपिण्ड (Antibodies) उत्पन्न हो जाते हैं और शिशु के लाल रक्त कणों को नष्ट कर देते हैं जिससे गर्भस्थ शिशु के शरीर में रक्त की कमी हो जाती है, उसकी वृद्धि रुक जाती है तथा गर्भपात हो जाता है। इस स्थिति को एरीथ्रोब्लास्ट (Erythroblast) कहते हैं।

यदि प्रारम्भ में उचित उपचार व चिकित्सकीय सलाह ली जाए तो गर्भावस्था में होने वाली कठिनाइयाँ कम की जा सकती हैं।

TOUCH n PASS

स्त्री का आर-एच० ऋणात्मक होने से स्त्री के शरीर के रक्त में प्रतिपिण्ड (Antibodies) प्रर्मित होती है जो कि गर्भपात के माध्यम से शिशु के रक्त में प्रविष्ट हो जाती है। वह प्रतिपिण्ड माँ को कोई नुकसान नहीं पहुँचाते हैं किन्तु शिशु में अरक्तता उत्पन्न करते हैं। यह तब उत्पन्न होती है जब माँ का R.H. ऋणात्मक हो तथा शिशु का धनात्मक तो माँ के शरीर के प्रतिपिण्ड बच्चे के रक्त में प्रविष्ट हो उसके लाल रक्त कणों को नष्ट कर बच्चे में आरक्तता उत्पन्न कर देते हैं जिसे एरीथ्रोब्लास्ट (Erythroblast) कहते हैं। इससे शिशु के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य दोष पर प्रभाव पड़ता है।

ऋणात्मक आर-एच० की लड़कियों का विवाह यदि ऋणात्मक आर-एच० वाले पुरुष से कर दिया जाता है तो उसका प्रभाव हानिकारक नहीं होता।

प्र.6. अस्पताल में प्रसव कराने के लाभ बताइए।

उत्तर

अस्पताल में प्रसव कराने के लाभ
(Advantages of Delivering in Hospital)

1. माँ तथा शिशु की देखभाल उचित तथा वैज्ञानिक तरीकों से होती है।
2. कोई विशेष परेशानी आने पर एकदम आधुनिक डॉक्टरी सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं।
3. प्रसव के लिए आवश्यक उपकरण सामग्री अस्पताल में मिल जाती है, घर में प्रबन्ध नहीं कराना पड़ता है।
4. प्रसूता तथा शिशु के लिए उचित हवा तथा सूर्य के प्रकाश से युक्त कमरा उपलब्ध हो जाता है।
5. यदि प्रसूता की देखभाल करने के लिए परिवार में कोई अतिरिक्त व्यक्ति नहीं होता है तो उसकी व्यवस्था भी अस्पताल कर देता है।
6. सरकारी प्रसव केन्द्रों में गरीब महिलाओं के लिए प्रसव की मुफ्त सेवाओं के साथ-साथ नि:शुल्क भोजन की भी व्यवस्था होती है।
7. वे गर्भवती महिलाएँ जिनका प्रसव सामान्य रूप से नहीं होता, आपरेशन आदि की आवश्यकता होती है, उसके लिए अस्पताल में पूर्ण व्यवस्था होती है।

जहाँ अस्पताल में प्रसव करवाने के लाभ हैं वहीं इसमें 1-2 बुराइयाँ भी हैं—

1. अस्पतालों में फैले भ्रष्टाचार के कारण व्यय अनुमानित व्यय से अधिक हो जाता है।
2. अस्पतालों में लगी लम्बी कतारों के कारण सुविधानुसार डॉक्टर तथा नर्सों की सेवाएँ प्राप्त नहीं हो पाती हैं।

प्र.7. घर पर प्रसव की योजना बनाते समय क्या-क्या तैयारी करनी चाहिए?

उत्तर

घर पर प्रसव (Delivery at Home)

यदि किसी कारणवश अस्पताल की व्यवस्था नहीं हो सकती या प्रसूता अस्पताल नहीं जाना चाहती है प्रसव घर पर ही चाहती है, तो पहले से योग्य डॉक्टर, प्रशिक्षित नर्स का प्रबन्ध कर लेना चाहिए तथा समय-समय पर उससे अपना निरीक्षण करवाते रहना चाहिए तथा समय पड़ने पर उन्हें घर बुला लेना चाहिए। अशिक्षित तथा अनुभवहीन दाइयों तथा नर्सों की मदद नहीं लेनी चाहिए। उससे प्रसूता तथा नवशिशु दोनों को हानि पहुँचती है। घर पर प्रसव के लिए अनुभवी शिक्षित नर्स का प्रबन्ध करना चाहिए जोकि शिशु जन्म से सम्बन्धित सभी व्यवस्थाएँ स्वयं कर ले। घर पर शिशु जन्म का निश्चय करने के साथ-साथ प्रसूता के लिए आवश्यक कमरे की व्यवस्था आवश्यक है।

प्रसूता का कमरा साफ-सुथरा, धुला हुआ होना चाहिए। कमरे में जाले नहीं होने चाहिए। खिड़की, दरवाजे पर साफ पर्दों की व्यवस्था हो, रात में भी प्रकाश की व्यवस्था हो। कमरे को कीटाणुनाशक दवा से धुलवाना चाहिए। प्रसूता के कमरे में अधिक फर्नीचर नहीं होना चाहिए। केवल एक बड़ी मेज हो जिस पर दवा, कपड़े आदि रखे जा सकें। डॉक्टर के लिए एक छोटी मेज का प्रबन्ध करना चाहिए। एक कुर्सी तथा एक कसी हुई चारपाई का प्रबन्ध होना चाहिए। बच्चे के लिए पालने का प्रबन्ध हो। प्रसूता तथा शिशु का पालना एकदम खिड़की के सामने नहीं होना चाहिए। कमरे में 3-4 सुरुचिपूर्ण तस्वीरों से अधिक का प्रयोग नहीं करना चाहिए। कमरे में पानी के निकलने की उचित व्यवस्था होनी चाहिए। प्रसूता का कमरा रसोई घर तथा शोरगुल से दूर होना चाहिए।

प्र.8. प्रसूता के पहनने के आवश्यक वस्त्र कौन-कौन से हैं?

उत्तर

प्रसूता के पहनने के लिए आवश्यक वस्त्र
(Essential Clothes for Accouchee Wearing)

शिशु के जन्म के बाद प्रसूता के पहनने के लिए—

1. 4 हल्की मुलायम सूती साड़ियाँ।
2. ब्लाउज।
3. स्वेटर, शाल, मोजे, गर्म ब्लाउज (यदि ठण्ड का मौसम है तो)।
4. यदि बिस्तर अस्पताल से मिल जाता है तो उचित है अन्यथा दरी, गद्दा, चादर, कम्बल, तकिए व गिलाफ का प्रबन्ध करना चाहिए।
5. छोटे-बड़े तौलिए का प्रबन्ध करें।

शिशु के लिए वस्त्रादि (Clothings for Child)—

1. 4 या 5 वस्त्र-झबला व फ्राक।
2. 1-2 दर्जन लंगोट।
3. 2-3 प्लास्टिक के लंगोट कवर।
4. 2-3 बनियान व आन्तरिक वस्त्र।
5. 3-4 सूती गद्दियाँ।
6. प्लास्टिक या रबड़ के टुकड़े।
7. 2-3 कम्बल।
8. बिब।
9. 6 से 7 छोटी चादरें।
10. 4-5 छोटी तौलिया।
11. 1 बड़ी तौलिया।
12. यदि शीत ऋतु हो तो 1-2 स्वेटर, मोजा व टोपी इत्यादि।

प्र.9. नवजात शिशु की देखभाल के विषय में संक्षेप में लिखिए।

उत्तर

नवजात शिशु की देखभाल
(Care of Neonate)

1. शिशु के जन्म के तुरन्त बाद सर्वप्रथम शिशु जीवित है या मृत, इसकी परीक्षा हृदय की नाभिनाल के स्पन्दन (धमनी) से की जाती है। नवजात शिशु का प्रथम प्रश्वास के साथ रोना उसके जीवन की सबसे बड़ी घोषणा होती है। रोने से बच्चे के फेफड़े उचित रूप से काम करने लगते हैं। नाभिनाल काटने के साथ ही श्वास प्रक्रिया पूरी तरह होने लगती है। नवजात के नाक व मुँह में भरे श्लेष्मिक को कोमल रूई से साफ करना चाहिए। ऐसी स्थिति में बच्चा रोता नहीं है तो ठण्डे पानी के छीटें देकर रुलाना चाहिए।
2. नाभिनाल एक रस्सी की तरह होता है जिसकी लम्बाई 55 से 60 सेमी तक होती है। नवजात शिशु के जन्म के पश्चात् उसके रूदन प्रारम्भ होने पर श्वास अच्छी तरह लेना शुरू करते ही नाभिनाल को काट देना चाहिए परन्तु यह ध्यान रखा जाता है कि नाल कटने से पूर्व नाल से 72 सेमी की दूरी पर दो स्थानों पर शुद्ध साफ रिबन से या कपड़े से रीफनाट बाँधने के बाद ही तेज कैंची या ब्लेड से नाभि को काटा जाता है। इस कटे हुए सिरे को स्प्रिट से साफ कर खुला छोड़ दिया जाता है। 8-10 दिन के अन्दर नाभिनाल सूखकर गिर जाता है व पेट में नाभि का स्थान बन जाता है।
3. नवजात शिशु के जन्म के पश्चात् ही शरीर के ऊपर लगे चिकने पदार्थ को अच्छी तरह हटाया जाता है इसके बाद जैतून के तेल से मालिश की जाती है फिर गुनगुने पानी से शिशु को स्नान कराया जाता है। स्नान के बाद मुलायम तौलिए से दबा-दबा कर शरीर को सुखाया जाता है।

TOUCH 'n' PASS

नवजात के निम्नलिखित विभिन्न अंगों की सफाई भी की जाती है—

आँख—बोरिक ऐसिड लोशन में विसंक्रमित रूई को भिगोकर आँखों को धोना अच्छा होता है जिससे नेत्रों के अन्दर जमा मैल बाहर आ जाता है। यदि आँखों से पीले रंग का तरल पदार्थ निकल रहा हो तो विसंक्रमित रूई से पौंछना चाहिए।

नाक—जन्म के समय शिशु की नाक में कुछ श्लेष्मिक एकत्रित हो जाता है। जिसे शुद्ध रूई से नाक के छिद्रों से धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए।

कान—कान के बाहरी हिस्से विसंक्रमित रूई से धीरे-धीरे साफ करने चाहिए। इसके बाद कान के अन्दर का मैल कोमल कपड़े से साफ करना चाहिए।

गला—शिशु के गले में श्लेष्मिक एकत्रित हो जाता है जिसे उँगली की सहायता से नरम कपड़े के द्वारा धीरे-धीरे साफ करना चाहिए।

अन्य अंग—आँख, नाक, कान, गले की सफाई के बाद जाँघ, पैर, धड़ की भली-भाँति सफाई करनी चाहिए। शिशु के मल-मूत्र विसर्जन सम्बन्धी अंगों की सफाई करते हुए मौसम के अनुकूल वस्त्र पहनाने चाहिए। सूती वस्त्र शिशु के लिए आरामदायक होते हैं।

प्र.10. शिशु जन्म के बाद प्रसूता की देखभाल कैसे करनी चाहिए? समझाइए।

उत्तर

प्रसूता की देखभाल
(Care of Accouchee)

1. प्रसव के पश्चात् प्रसूता को साफ बिस्तर पर लिटाना चाहिए। निर्विघ्न आराम से सोने देना चाहिए।
2. गर्भाशय का वजन केवल 40 ग्राम होता है। गर्भावस्था में इसका वजन बढ़ जाता है। सामान्य स्थिति में आने में डेढ़ महीने लगता है। गर्भावस्था में अधिक भार होने पर उसके स्थानान्तरण का खतरा रहता है।
3. प्रसव के उपरान्त प्राय: 24 दिनों तक रक्तस्राव होता रहता है। अपरा के बाहर आने पर गर्भाशय का आन्तरिक भाग घावयुक्त होता है इसलिए निसंक्रमण व स्वच्छता व सावधानी की जरूरत पड़ती है।
4. प्रसूता की आँतों की उचित स्वच्छता व मूत्राशय की सफाई इत्यादि का ध्यान रखना चाहिए अन्यथा संक्रमण हो जाता है।
5. प्रसव के पश्चात् सुपाच्य, हल्का व पौष्टिक भोजन देना चाहिए। खट्टा व बासी भोजन नहीं देना चाहिए।
6. विश्राम की जरूरत अधिक पड़ती है। करीब 15 दिन तक पूर्ण आराम की जरूरत पड़ती है।
7. प्रसवोपरान्त सावधानी की जरूरत पड़ती है अन्यथा अरक्तता, कमर-दर्द, चक्कर आना आदि रोग हो जाते हैं।
8. प्रसूता के लिए व्यायाम बहुत ही आवश्यक होता है। छोटी-छोटी व्यायामयुक्त क्रियाएँ डॉक्टर की सलाह के अनुसार करनी चाहिए।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. भ्रूण के विकास का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

उत्तर

भ्रूण का विकास
(Development of Embryo)

जब अण्डवाहिनी में शुक्राणु अण्डाणु के केन्द्रक से संयोग करता है, तभी नए जीव का निर्माण होता है। अण्डवाहिनी जहाँ भ्रूण का जन्म होता है धागे के समान पतली, सँकरी होती है। इन नलिका में माँसपेशियाँ, स्नायु तथा ऊतक होते हैं जो कि भ्रूण को धकेलते हुए गर्भाशय तक पहुँचाते हैं इसमें 3-5 दिन का समय लगता है। इन दिनों यह भ्रूण अण्डाणु के वसा कणों को ही भोजन के रूप में ग्रहण करता है। गर्भाशय में आकर यह एक कोश से दो कोशों में, फिर दो कोशों से अन्य बहुत से कोशों में विभाजित हो जाता है।

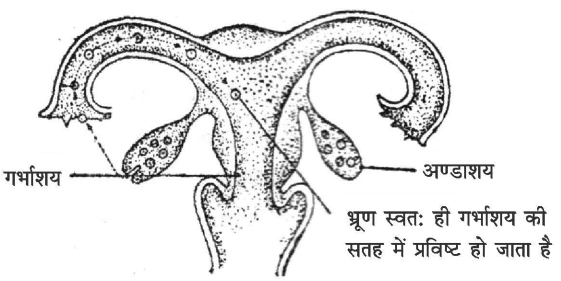

चित्र : भ्रूण का जन्म

TOUCH 'n' PASS

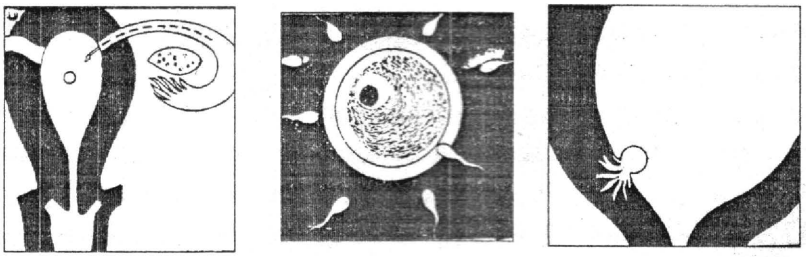

चित्र : भ्रूण का गर्भाशय में स्थापन

इन विभाजित कोशों का एक समूह सा बन जाता है। यह कोश समूह गर्भाशय की नर्म मोटी सतह में आकर धँस जाता है। गर्भाशय में नई रक्तवाहिनियों का जाल-सा बिछ जाता है जो कि भ्रूण के पोषण के लिए भोजन का प्रबन्ध करती है। इस समय गर्भाशय में प्रोगेस्ट्रोन (Progesteron) नामक हार्मोन निकलता है जो कि गर्भाशय की स्वाभाविक सिकुड़न को रोकता है ताकि भ्रूण को कोई चोट न पहुँचे।

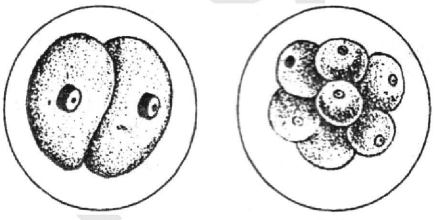

(अ) (ब)

चित्र : कोशों का विभाजन

इस शुक्राणु अण्डाणु के संयोग से बने कोष में वे तत्त्व होते हैं जिनसे बच्चा वंशानुगत गुणों को ग्रहण करता है। प्रारम्भिक अवस्था में इस कोश विभाजन की प्रक्रिया तीव्र होती है उसके बाद इतनी तीव्र कभी नहीं होती है। यह कोषों का बढ़ता हुआ समूह ही भ्रूण कहलाता है जो 5 दिन में अण्डवाहिनी नलिकाओं से होकर गर्भाशय में आकर जम जाता है।

भ्रूण का माह अनुसार विकास
(Development of Embryo According to Month)

प्रथम माह—जब भ्रूण गर्भाशय में आकर स्थित हो जाता है तो 9वें 10वें दिन उसके ऊपर की सुरक्षात्मक परत फट कर अलग हो जाती है तथा उस सूक्ष्म भ्रूण में विभिन्न अंगों के स्थान पर गड्ढे बन जाते हैं। ये छोटे-छोटे गड्ढे उसे गर्भाशय की दीवार में चिपके रहने में सहायता करते हैं। प्रारम्भ में अपरा की रचना धागे के समान होती है। बाद में यह नली का रूप ले लेता है। भ्रूण तथा अपरा (Placenta) को नाभिरज्जु (Umblical card गर्भनाल) जोड़ती है यह नाल एक ओर भ्रूण से तथा एक ओर अपरा नाल से जुड़ी रहती है। जब यह परिपक्व हो जाती है, इसकी मोटाई अँगूठे के बराबर हो जाती है। मूल कोषों के द्वारा अपरा (Placenta) का विकास शुरू हो जाता है तथा 10-15 दिन में पूर्ण हो जाता है। इसी गर्भनाल में भ्रूण गर्भाशय की रक्तवाहिनियों से भोजन तथा ऑक्सीजन ग्रहण करता है। कुछ अन्य मूल कोष भ्रूण के चारों ओर एक झिल्ली का निर्माण करते हैं जो कि सुरक्षा की दृष्टि से होता है।

प्रथम सप्ताह के अन्त तक भ्रूण का आकार मटर के बड़े दाने के बराबर हो जाता है। पीछे की हड्डी, आँख, कान के गड्ढे स्पष्ट दिखाई देते हैं। सिर तथा मस्तिष्क की वृद्धि तेजी से होती है। बच्चे के आन्तरिक अंग मस्तिष्क, हृदय फेफड़े, किडनी का निर्माण शुरू हो जाता है। भ्रूण का अपना अलग रक्त संस्थान हो जाता है। इस प्रथम माह के अन्त तक भ्रूण की लम्बाई 4 मिमी हो जाती है। ऑक्सीजन, भोजन, पानी, स्त्री के रक्त प्रवाह से नाभि नाल में होता हुआ माता के रक्त प्रवाह में पहुँचते हैं जहाँ से उत्सर्जी संस्थान द्वारा बाहर निकाल दिए जाते हैं।

दूसरा माह—गर्भावस्था के दूसरे माह में स्त्रियों को प्रात: जी मिचलाना, सुस्ती आना, बार-बार पेशाब की आवश्यकता अनुभव होना तथा शारीरिक थकावट की शिकायत अधिक होती है। इस माह के प्रारम्भ में भ्रूण 1/2, लम्बा हो जाता है। धड़ तथा गर्दन बन जाती है। टाँगे तथा हाथ अलग से बनने शुरू हो जाते हैं। शरीर के अन्य हिस्सों की अपेक्षा सिर बड़ा होता है। पीछे की ओर एक छोटी-सी पूँछ होती है जो कुछ सप्ताह बाद स्वयं समाप्त हो जाती है। इस माह के अन्त तक पलकें तैयार होने लगती हैं। माह के अन्त तक आँख, कान, हाथ, व पैर की उँगलियाँ स्पष्ट देखी जा सकती है।

भ्रूण के चारों ओर की झिल्ली सुरक्षात्मक थैली के रूप में बदल जाती है जिसके अन्दर तरल पदार्थ (Amniotic fluid) बहते हैं बच्चा इसमें सुरक्षात्मक झूलता है।

तीसरा माह—इस समय तक भ्रूण 2" लम्बा हो जाता है तथा उसका वजन 1 औंस होता है। हाथ, पैर की उँगलियों का पूर्ण विकास हो जाता है। पीछे की पूँछ गायब हो जाती है। शरीर के ऊपर गुलाबी रंग की त्वचा आ जाती है। सिर का अनुपात अन्य हिस्सों की अपेक्षा अधिक होता है। इस माह में गर्भवती स्त्री के शरीर में भी परिवर्तन दिखाई देने लगता है। गर्भवती स्त्री के पेट में थोड़ा उभार तथा स्तन के आकार में परिवर्तन आ जाता है। प्राय: इस माह में गर्भवती स्त्री के चेहरे पर पीलापन और कमजोरी झलकने लगती है क्योंकि उसके शरीर में लाल रक्त-कणों की कमी हो जाती है जिससे रक्त की कमी हो जाती है। गर्भवती स्त्री को लौह-लवण युक्त भोजन या लौह लवण औषधि के रूप में डॉक्टर की सलाहानुसार लेना चाहिए। गर्भवती स्त्री के स्तन के निप्पल काले गाढ़े रंग के हो जाते हैं, पपड़ी जम जाती है। थकावट के साथ-साथ अब खाने में विशेष भोज्य पदार्थों के प्रति रुचि, अरुचि होने लगती है।

चौथा माह—भ्रूण की लम्बाई 4" तथा वजन भी 4 औंस हो जाता है। चौथे माह के अन्त तक शरीर के सब अंग पूर्णतया तैयार हो जाते हैं। बच्चा अपने शरीर को मोड़ लेता है आँखों में हलचल होने लगती है। बच्चे के शरीर से निकला दूषित पदार्थ सुरक्षात्मक थैली के तरल द्रव्य में बहने लगता है। बच्चा हिलने-डुलने लगता है उसकी इस हलचल को गर्भवती स्त्री महसूस कर सकती है। बच्चे के सिर पर छोटे-छोटे बाल आने लगते हैं। उँगलियों, अँगूठों पर नाखून बनने शुरू हो जाते हैं। मसूड़ों के अन्दर दाँत बनने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। गर्भवती स्त्री का पेट गोलाकार हो जाता है।

पाँचवाँ माह—बच्चे का वजन 1 पौण्ड (1/2 किलो) के करीब हो जाता है। बच्चे की हृदय की धड़कन स्टेथोस्कोप से स्पष्ट सुनी तथा गिनी जा सकती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि लड़की की धड़कन लड़के की अपेक्षा अधिक होती है। बच्चे की मांसपेशियाँ पूर्ण विकसित तथा सक्रिय हो जाती हैं। बच्चा सुरक्षात्मक थैली के अन्दर हाथ-पैर हिला-डुला व फैला सकता है। इस बात का अनुभव गर्भवती विश्राम की अवस्था में स्पष्ट रूप से कर पाती है।

छठा माह—बच्चा 14" लम्बा हो जाता है तथा उसका वजन 1-2 पौण्ड के बीच हो जाता है। ऊपरी त्वचा के नीचे वसा की तह जमनी शुरू हो जाती है। त्वचा कोमल रोएँ से ढँकी रहती है। यदि 6वें माह में शिशु का जन्म हो जाता है तो कुछ घण्टों तक जीवित रह पाता है। त्वचा का पूर्ण विकास न हो पाने के कारण वह बाह्य वातावरण से सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता है इसलिए अधिक समय तक जीवित नहीं रह पाता है। यदि उसे स्पेशल यूनि केयर में रखा जाए तो बचने की सम्भावना हो सकती है।

सातवाँ माह—इस माह में बच्चे का वजन 3 पौण्ड तक होता है। यौन अंगों का भी पूर्ण विकास हो जाता है। बच्चा आँख खोल लेता है। 7वें माह में जन्म लेने वाले बच्चे के जीवित रहने की काफी उम्मीदें रहती हैं।

गर्भवती स्त्री के स्तनों से कभी-कभी गाढ़ा पीला द्रव्य (Colostrum) निकलने लगता है। गर्भवती स्त्री के वजन में निरन्तर वृद्धि होती है। बच्चे की हलचल तीव्र हो जाती है।

आठवाँ माह—बच्चे का वजन 4-6 पौण्ड के बीच हो जाता है। त्वचा के नीचे वसा की तह काफी मात्रा में जम जाती है। ऊपरी त्वचा लाल झुर्रीदार हो जाती है। शरीर की सब हड्डियों का विकास हो जाता है। हड्डियाँ लचीली नरम होती हैं। बच्चे के लिए गर्भाशय छोटा पड़ने लगता है। जब भी स्त्री विश्राम करती है बच्चे की हलचल उसे विशेष परेशान करती है। इस माह के अन्त तक बच्चा अपनी स्थिति बदल लेता है अर्थात् अभी तक सिर ऊपर ढाँगे नीचे होती थीं। अब सिर नीचे टाँगे ऊपर हो जाती हैं। बच्चा जन्म लेने तक इसी अवस्था में रहता है।

नवाँ माह—इस माह तक शिशु की त्वचा का रंग स्वाभाविक होता है ऊपर के छोटे-छोटे रोएँ नष्ट हो जाते हैं। शिशु पूर्ण विकसित एवं अधिक क्रियाशील हो जाता है। बच्चे का वजन और आकार बढ़ जाने के कारण गर्भाशय का दबाव मूत्राशय पर पड़ता है तथा आखिरी माह में गर्भवती स्त्री को पुन: बार-बार पेशाब की आवश्यकता महसूस होती है। जैसे-जैसे शिशु के जन्म का समय पास आता है बच्चा नीचे की ओर सरकने लगता है जिससे माँ को उसका वजन कम महसूस होने लगता है।

इस समय बच्चे की लम्बाई 20" तथा वजन 6 से 7 पौण्ड के बीच होता है, तब गर्भवती स्त्री को बच्चे का वजन कम महसूस होने लगे उससे 10-15 दिन के अन्दर बच्चे का जन्म होता है। शिशु जन्म में 10-15 दिन पहले गर्भवती स्त्री स्वयं में विशेष परिवर्तन अनुभव करती है जैसे कि—

1. शिशु का वजन कम अनुभव होता है क्योंकि अब बच्चा नीचे गहराई की ओर चला जाता है।
2. जठर पर से गर्भाशय का दबाव कम हो जाने के कारण अब भोजन ठीक पचता है। अपचन गैस की शिकायत नहीं होती है।
3. मूत्राशय पर गर्भाशय का दबाव कम हो जाने के कारण पेशाब बार-बार आने की शिकायत बढ़ जाती है।
4. अल्पश्वास तथा सांस लेने में होने वाली कठिनाई भी गर्भवती को कम या समाप्त हो जाती है क्योंकि बच्चा नीचे सरक जाता है जिससे अब गर्भाशय का दबाव ऊपर की ओर नहीं पड़ता है।

प्र.2. प्रसव पीड़ा की अवस्थाओं का वर्णन करते हुए उसके प्रकारों पर भी प्रकाश डालिए।

उत्तर

प्रसव पीड़ा की अवस्थाएँ
(Phases of Labour Pain)

प्रसव पीड़ा की तीन अवस्थाएँ होती हैं जिनका अनुभव एक स्त्री सामान्य प्रसव में अनुभव करती है।

प्रथम अवस्था—यह अवस्था गर्भाशयी संकुचन के कारण उत्पन्न होती है। इस अवस्था की अवधि लम्बी होती है। यह अवस्था सामान्य व 10-12 घण्टे की होती है। इन अवधि का समय कितना होगा यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि गर्भवती महिला की माँसपेशियाँ लचीली होती है तो इस अवधि का समय कम होता है।

प्रारम्भ में गर्भाशय में संकुचन होने के कारण थोड़े-थोड़े समय के लिए हल्का-हल्का दर्द होना होता है तथा पेशियों के संकुचन का अन्तराल लम्बा होता है धीरे-धीरे पेशीय संकुचन अन्तराल कम होता जाता है और दर्द लम्बे समय तक तीव्रता से होता है। यह दर्द गर्भवती भाग से नीचे पेट की ओर जाता है। शिशु का सिर गर्भाशय के नीचे वाले भाग में आने के कारण ग्रीवा का आकार बढ़ता है। शिशु योनि मार्ग की ओर खिसकने का प्रयत्न करता है। बच्चे की सुरक्षा थैली फट जाती है तथा उसके अन्दर का द्रव्य स्रावित होने लगता है। ग्रीवा चौड़ी हो जाती है और शिशु जन्म के लिए ग्रीवा में स्थान बनाता है। प्रसव पीढ़ा बढ़ जाती है।

दूसरी अवस्था—यह वह अवस्था है जब शिशु माँ के शरीर से बाहर आता है। इस समय सुरक्षा थैली (Amoneotic bag) पूरी तरह फट जाती है। उसके अन्दर का द्रव्य (Amnichic fluid) बाहर निकलने लगता है। गर्भाशय की ऐच्छिक माँसपेशियों में तीव्रता से ऐंठन होती है। यह ऐंठन कुछ मिनट से घण्टों तक बनी रहती है। शिशु बाहर आने की कोशिश करता है। इस समय प्रसूता को अपना सहयोग देना चाहिए तथा डॉक्टर-नर्स प्रसूता को भावनात्मक सहयोग दें। इस समय प्रसव पीड़ा सबसे अधिक होती है और इस तीव्र पीड़ा के समय शिशु स्त्री के शरीर से बाहर आ जाता है।

कभी-कभी योनि ग्रीवा का पूर्ण विस्तार न हो पाने के कारण या शिशु का सिर बड़ा होने के कारण शिशु जन्म में कठिनाई होती है, तब योनि के बाहरी भाग में उपकरण द्वारा डॉक्टर एक कट लगा कर यह योनि मार्ग पर छिद्र थोड़ा बड़ा कर देते हैं। शिशु के बाहर आ जाने पर इस भाग में टांके लगा दिए जाते हैं।

सामान्यत: शिशु जन्म के समय शिशु का सिर पहले बाहर आता है, फिर धड़, अन्त में टाँगें बाहर आती हैं। यह कभी-कभी जब शिशु स्त्री के गर्भ से अपनी स्थिति में परिवर्तन नहीं कर पाता है तब पहले टाँगें, फिर धड़ और अन्त में सिर बाहर आता है। इसे बच्चे का उल्टा जन्म लेना (Breach birth) कहा जाता है।

तृतीय अवस्था—प्रसव पीड़ा की यह वह अवस्था है जब शिशु का जन्म हो चुका होता है तथा गर्भाशय खाली होकर सिकुड़ने लगता है। अपरा (Placenta) गर्भाशय की दीवार छोड़कर बाहर निकलता है यह प्रक्रिया 30 मिनट में पूरी हो जाती है। इस तृतीय अवस्था में प्रमुख चार परिवर्तन होते हैं—

1. गर्भाशय सिकुड़ने लगता है।
2. अपरा गर्भाशय की दीवार छोड़कर बाहर आता है।
3. रक्त स्राव पर नियन्त्रण होने लगता है।
4. गर्भाशय की संकुचन प्रक्रिया पर नियन्त्रण।

इन परिवर्तनों के होते समय भी प्रसव पीड़ा रहती है पर इस अवस्था के पूरे होते ही प्रसव पीड़ा समाप्त हो जाती है। प्रसूता को आराम मिलता है स्वयं को हल्का महसूस करने लगती है। गर्भाशय खाली हो जाता है फैलने-सिकुड़ने की क्रिया समाप्त हो जाने के कारण बेहोशी सी छाने लगती है।

प्रसव के प्रकार (Types of Delivery)

1. **सामान्य प्रसव** (Normal Delivery)—सामान्य प्रसव में शिशु जन्म प्रसव की तीनों अवस्थाओं को पार करने पर होता है शिशु का सिर योनि मार्ग से पहले बाहर आता है फिर धड़ अन्त में टाँगें। फिर पेट गर्भावस्था में गर्भवती जिनकी शारीरिक क्रियाएँ लगेगी, स्वच्छ रहेंगी, सही आहार लेंगी तो सामान्य प्रसव की सम्भावनाएँ अधिक होंगी। यदि सामान्य प्रसव में माँ के शरीर से बच्चे के पैर, फिर टाँगें, फिर धड़ तथा अन्त में सिर बाहर आए तो उसे बच्चे का उल्टा पैदा होना (Breach birth) कहा जाता है।

(i) उपकरण की सहायता से (Instrumental delivery) शिशु जन्म में उपकरणों की सहायता विशेष परिस्थितियों में लेनी पड़ती है।

(ii) शिशु के सर या पूरे शरीर का आकार बड़ा होने पर ग्रीवा द्वारा छोटा पड़ता है। शिशु के बाहर आने में कठिनाई हाती है।

2. **नाभि रज्जु** (Umbilical Cord)—बच्चे के चारों ओर लिपट जाने पर।
3. **आपरेशन द्वारा** (Caesarian delivery)—
   (i) सामान्य प्रसव पीड़ा न होने पर।
   (ii) नाभि रज्जु बच्चे की गर्दन पर लिपट जाने पर।
   (iii) शिशु की गर्भाशय के सामान्य स्थिति न आने पर अर्थात् शिशु तिरछी या टेढ़ी स्थिति में हो तब।
   (iv) गर्भाशय में एक से अधिक शिशु होने पर।
   (v) सामान्य प्रसव के इन्तजार में गर्भस्थ शिशु पर माँ के जीवन को खतरा होने पर।
   (vi) माँ की श्रोणि गुहा का घेरा होने पर योनि मार्ग संकरा हो जाता है शिशु स्वाभाविक रूप से बाहर नहीं निकल पाता है।

वर्तमान समय में गर्भवती स्त्री प्रसव पीड़ा नहीं सहना चाहती इसलिए अपनी इच्छा से भी ऑपरेशन द्वारा प्रसव करवा लेती है। कई बार गर्भवती स्त्री की उम्र अधिक होने के कारण, उच्च रक्तचाप या अन्य किसी बीमारी के कारण लम्बी प्रसव पीड़ा सहना उसके लिए उचित नहीं होता इसलिए आपरेशन से प्रसव प्रक्रिया पूरी की जाती है।

प्र.3. गर्भावस्था के लक्षणों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

गर्भावस्था के लक्षण
(Symptoms of Pregnancy)

गर्भाधान प्रक्रिया के साथ ही नए जीव के विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इस अवस्था को गर्भावस्था (Pregnancy) कहते हैं। नए जीव के विकास के कारण गर्भवती स्त्री के शरीर में कुछ परिवर्तन होते हैं जो गर्भावस्था के लक्षणों के रूप में प्रकट होते हैं। यह लक्षण दो प्रकार के होते हैं—

(I) प्रतीतिक लक्षण (Primary Symptoms)

गर्भवती स्त्री में होने वाले प्रमुख प्रतीतिक लक्षण निम्नलिखित होते हैं—

1. **मासिक धर्म का बन्द होना**—गर्भावस्था का प्रमुख लक्षण मासिक धर्म बन्द होना होता है। सामान्यत: स्वस्थ स्त्री का प्रत्येक 28 दिनों में मासिक धर्म प्रकट होता है। जब गर्भाधान की प्रक्रिया हो जाती है तो यह समाप्त हो जाता है। जिस स्त्री का मासिक धर्म नियमित होता है, यदि 10-15 दिन अधिक हो जाए तो समझना चाहिए कि गर्भावस्था के लक्षण हैं। कभी-कभी शारीरिक कमजोरी, बीमारी, खून की कमी से मासिक धर्म अनियमित हो जाता है। परन्तु 90% सम्भावना गर्भावस्था की ही होती है। ऐसी स्थिति में चिकित्सक के पास जाना चाहिए।
2. **प्रात:काल जी मिचलाना**—गर्भावस्था के इस लक्षण को Morning Sickness भी कहते हैं। प्रात:काल सो कर उठने के बाद उल्टी आती है या हो जाती है। कभी-कभी चक्कर आता है। मासिक धर्म के 10-15 दिन के बाद यह 2-3 महीने तक महसूस होता है। यह प्राकृतिक परिवर्तन होता है इसलिए घबराना नहीं चाहिए क्योंकि किसी प्रकार का तनाव, भय, चिन्ता, कष्टप्रद हो सकती है। ऐसी स्थिति में ग्लुकोज बिस्कुट खाने से आराम मिलता है। थोड़ी-थोड़ी मात्रा में, कम समय के अन्तराल में भोजन करना चाहिए।
3. **कब्ज**—गर्भावस्था में हार्मोन्स के असन्तुलन के कारण पाचक रसों के स्रावों में भी असन्तुलन हो जाता है जिससे कब्ज की शिकायत हो जाती है। भोजन का पाचन ठीक प्रकार से न होने के कारण मल त्याग नहीं हो पाता है जिसके कारण सिर दर्द, पेट में तनाव, मरोड़, जी मिचलाना आदि शिकायत हो जाती है।
4. **बार-बार मूत्र त्याग होना**—गर्भवती महिला को यह शिकायत प्रथम तीन महीने तक अधिक रहती है। यह सामान्य प्रक्रिया है। गर्भाशय का आकार बढ़ने के कारण उसका झुकाव नीचे मूत्राशय पर बढ़ता है जिससे गर्भवती महिला को मूत्र त्याग बारम्बार करना पड़ता है। प्रथम तीन माह के बाद यह शिकायत कम हो जाती है। बाद में अन्तिम माह में पुन: शिकायत बढ़ जाती है। इस समस्या से बचने के लिए सोने से एक घण्टा पहले कोई तरल पदार्थ नहीं लेना चाहिए।

5. **अधिक नींद आना**—गर्भावस्था की प्रारम्भिक अवस्था में गर्भवती महिला अधिक थकावट व नींद का अनुभव करती है। ऐसा शरीर में होने वाले परिवर्तनों के कारण होता है। किसी कार्य को करने की इच्छा नहीं होती। नींद अधिक आती है।
6. **मुँह से लार अधिक आना**—मुँह से साधारण अवस्था की अपेक्षा अधिक लार निकलता है। यह प्रक्रिया सभी स्त्रियों में नहीं होती है।
7. **योनि स्राव बढ़ना**—योनि मार्ग से सदैव स्राव होता रहता है। सफेद तरल चिपचिपा पदार्थ निकलता रहता है जो योनि मार्ग को चिकना बनाए रखता है। गर्भावस्था में यह स्राव बढ़ जाता है।

(II) वैषयिक लक्षण (Subjective Symptoms)

शरीर के विभिन्न अंगों में परिवर्तन होते हैं जो निम्नलिखित हैं—

1. **चेहरे में परिवर्तन**—गर्भावस्था में होने वाली तकलीफों के कारण; जैसे—प्रात:काल वमन, थकान, नींद अधिक आना, जी मिचलाना व कब्ज के कारण चेहरे की स्थिति ठीक नहीं रहती है। आँखों के नीचे, ऊपरी ओंठ के आस-पास का रंग काला हो जाता है। प्रारम्भिक दिनों में चेहरे को ध्यान से देखने पर गर्भावस्था के लक्षण प्रतीत होते हैं।
2. **पेट के आकार में परिवर्तन**—गर्भावस्था में भ्रूण के विकास के कारण धीरे-धीरे पेट के आकार में परिवर्तन होने लगता है। पेट के आकार में परिवर्तन दूसरे माह के अन्त से पता चलता है। जैसे-जैसे शिशु के विकासक्रम में वृद्धि होती है, वैसे-वैसे पेट के आकार में भी वृद्धि होती है। दो माह में स्त्री का पेट साधारण की अपेक्षा अधिक बड़ा व चपटा दिखाई देता है। तीसरे माह में पेट ऊपर की ओर बढ़कर अण्डाकार हो जाता है जिससे पेट के दोनों ओर हाथ रखकर गर्भ को इधर-उधर हिलाया जा सकता है। पाँचवें माह के अन्त में पेट का उभार स्पष्ट हो जाता है। गर्भस्थ शिशु क्रियाशील हो जाता है। उसके हृदय की धड़कन शुरू हो जाती है जिसे चिकित्सक स्टेथस्कोप से परीक्षण करता है।
3. **स्तनों के आकार में परिवर्तन**—गर्भावस्था के दूसरे माह में स्तनों में परिवर्तन होने लगता है। उनका आकार बढ़ने लगता है। स्तन कुछ कड़ा हो जाता है। निप्पल के चारों ओर का हिस्सा गाढ़े काले रंग का हो जाता है। निप्पल से गाढ़ा पदार्थ स्रावित होता है। गर्भकालीन विकास के साथ माँ के स्तनों में इसके जन्म के बाद पोषण के लिए दूध का निर्माण भी प्रारम्भ हो जाता है। गर्भावस्था के प्रारम्भ होते ही गर्भवती स्त्री के स्तनों की दुग्ध ग्रन्थियों के सक्रिय होने के साथ-साथ दुग्ध निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। यह लक्षण अधिकतर पहली बार माँ बनने वाली स्त्रियों में पाए जाते हैं।

गर्भावस्था ऐसी अवस्था है जिसमें गर्भवती स्त्री सामान्य से भिन्न होती है। गर्भकालीन आन्तरिक परिवर्तनों से अन्त:स्रावी ग्रन्थियों की क्रियाशीलता बढ़ जाती है जिससे कुछ-न-कुछ कठिनाइयाँ एवं समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त शारीरिक परिवर्तन के साथ-साथ आन्तरिक परिवर्तन होते हैं जिसके कारण शरीर के संस्थान प्रभावित होते हैं जो परीक्षण के द्वारा ही ज्ञात किए जा सकते हैं। ये परिवर्तन निम्न प्रकार के होते हैं—

1. **हॉर्मोन्स का प्रभावी होना** (Harmonal effects)—गर्भावस्था में हार्मोन्स जो नलिकाविहीन ग्रन्थियों से निकलती है, उसमें परिवर्तन होता है। इस अवस्था में थायराइड ग्रन्थि का आकार बढ़ जाने से आयोडीन की ज्यादा मात्रा मूत्र के साथ निष्कासित हो जाती है।
2. **नाड़ी संस्थान में परिवर्तन** (Changes of Nervous System)—नाड़ी संस्थान में परिवर्तन के कारण गर्भवती के स्वभाव में परिवर्तन आता है। सुस्ती, नींद का न आना, चिड़चिड़ापन, काल्पनिक भय, चिंता, मुँह सूखना, पसीना आना, निराशा की भावना सामान्य लक्षण होते हैं।
3. **त्वचा में परिवर्तन** (Changes of skin)—गर्भावस्था में रक्त में एक विशेष हार्मोन स्रावित होने के कारण तथा त्वचा के नीचे स्वेद तथा वसीय ग्रन्थियों की अधिक क्रियाशीलता, होने से गर्भवती महिला के मुँह पर, नाक, आँख के नीचे, गालों पर, स्तन के निप्पल के आस-पास का रंग भूरा-सा हो जाता है।
4. **रक्त परिसंचरण में परिवर्तन** (Changes in Blood Circulation)—गर्भावस्था के पाँचवें व छठे माह तक गर्भवती स्त्री के शरीर में 30% रक्त की मात्रा बढ़ जाती है जिससे हीमोग्लोबिन बढ़ जाता है। हृदय का कार्य प्रभावित होता है। रक्त में कैल्शियम की मात्रा कम हो जाती है। हृदय की क्रियाशीलता बढ़ने से नाड़ी का स्पन्दन बढ़ता है। यह गति 72-78 तक हो जाती है। रक्त का प्रभाव गुर्दे की तरफ बढ़ने लगता है जिससे गुर्दे की क्रियाशीलता बढ़ जाती है। मूत्र में यूरिया एसिड की मात्रा बढ़ जाती है। गर्भावस्था में रक्त के द्वारा ग्लूकोज का अवशोषण कम होता है। मूत्र में एक विशेष बेसिलम का विसर्जन होता है। मूत्र विसर्जन रोकना नहीं चाहिए। इसमें संक्रमण होने का प्रतिशत बढ़ जाता है।

5. **श्वसन तन्त्र में परिवर्तन** (Changes in Respiration System)—गर्भावस्था में गर्भवती का वजन, शरीर का क्षेत्रफल बढ़ जाने के कारण उसकी ऑक्सीजन की मात्रा बढ़ जाती है। (1032 प्रति मिनट) गर्भावस्था के बढ़ने के साथ गर्भाशय का आकार व वजन बढ़ता है जिससे गर्भाशय का दबाव मध्यच्छेदी अस्थि (Diaphrasm) पर पड़ता है जिससे साँस की गति व चाल में अन्तर आता है।
6. **पेशीय संस्थान में परिवर्तन** (Changes in Abdominal Muscles)—गर्भावस्था में पेट वाले हिस्से का आकार तथा वजन बढ़ने के कारण पीठ में व पैरों में दर्द होता है।
7. **प्रजनन संस्थान में परिवर्तन** (Changes in Reproductive System)—गर्भाशय के एस्टोजन व प्रोजेस्टीगन हार्मोन की अधिकता के कारण पेशियों का आकार बढ़ जाता है जिससे गर्भाशय मांसपेशी की थैली के समान आकार का हो जाता है। गर्भावस्था में गर्भाशय का आकार साधारण से बहुत अधिक हो जाता है। साधारण में यदि 50 ग्राम होता है तो 950 ग्राम हो जाता है। गर्भ के दूसरे माह के अन्त में गर्भाशय का आकार अवश्य बढ़ जाता है, पर नीचे के हिस्से में कोई परिवर्तन नहीं होता।
   दूसरे माह में गर्भाशय का व्यास 5.08 सेमी तीसरे माह में गर्भाशय का व्यास 8.89 से 10.16 सेमी चौथे माह में गर्भाशय का व्यास 15.24 सेमी तथा छठे माह में गर्भाशय का ऊपरी भाग नाभि के ऊपर तक आ जाता है।
   नवे महीने में गर्भाशय निचली पसली को छूने लगता है।
8. **चयापचयी परिवर्तन** (Metabolic Changes)—गर्भस्थ भ्रूण में अधिक पोषण एवं ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है। इसके कारण पोषण की मात्रा बढ़ जाती है। चयापचय की दर में वृद्धि हो जाती है। गर्भावस्था की वृद्धि तथा स्तन के विकास के लिए अधिक पोषण की आवश्यकता होती है। गर्भावस्था में पाचन संस्थान की मांसपेशियों में शिथिलता आती जाती है। जिसके कारण पाचन सम्बन्धी विकार उत्पन्न हो जाता है। आमाशय का स्रावित हार्मोन्स कम मात्रा में निकलता है जिससे आमाशय में भोजन अधिक देर तक रहता है। आँत की गति धीमी पड़ जाती है। भोजन धीरे-धीरे नीचे उतरता है जिसके कारण भोजन का अवशोषण ठीक से होता है परन्तु कब्ज की परेशानी उत्पन्न होती है। जी मिचलाने व वमन के कारण चयापचीय परिवर्तन होने लगते हैं। 10-20 प्रतिशत की आधारीय चयापचय में वृद्धि हो जाती है। रक्त में ग्लूकोज की मात्रा सामान्य रहती है। मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है। भ्रूण की वृद्धि, अपरा, गर्भाशय एवं स्तनों के विकास के कारण प्रोटीन की आवश्यकता बढ़ जाती है। आमाशय की स्थिति में परिवर्तन गर्भाशय में वृद्धि के साथ होने लगता है। महाप्रचार्या पेशी में अधिक दबाव पड़ने के कारण अम्लयुक्त भोजन वापस भोजन नली के मुँह पर आ जाता है जिससे छाती में जलन होती है। बड़ी आँत में पानी का अवशोषण बढ़ने के कारण सामान्यतया कब्ज की शिकायत हो जाती है। गर्भावस्था में वृद्धि के कारण शरीर में तन्तुओं की वृद्धि से 1 kg. स्तन व 5.5 kg शरीर की वृद्धि के कारण 11.2 kg. तरल पदार्थों में वृद्धि के कारण शरीर में चर्बी व प्रोटीन की मात्रा में वृद्धि के कारण गर्भवती स्त्री का वजन बढ़ जाता है।
9. **मूत्र नलिकाओं में होने वाले परिवर्तन** (Changes in Renal System)—गर्भावस्था में गुर्दों की ओर रक्त का प्रवाह बढ़ने के कारण गुर्दों में फिल्टर्स को 50% अधिक काम करना पड़ता है। इससे मूत्र में यूरिया एवं यूरिक एसिड का निष्कासन अधिक होने लगता है। ग्लूकोज के अवशोषण की गति कम होने के कारण मूत्र में ग्लूकोज की उपस्थिति पायी जाती है। सामान्यतया स्त्रियों में बेसीलस का विसर्जन होता है। जिससे नेफ्राइटिस होने की आशंका हो जाती है। मूत्र के विसर्जन को कम करने के कारण संक्रमण होने की सम्भावना रहती है।
10. **स्तनों में परिवर्तन** (Changes in Breast)—गर्भाशय में स्तनों की ग्रन्थियाँ बढ़ने लगती हैं जिससे गाँठे जैसी दिखाई देती हैं जो स्पर्श करने पर नर्म महसूस होती हैं। स्तनों में रक्त वाहिनियों की संख्या बढ़ जाती है तथा शिराएँ फैल जाती हैं जिससे स्तनों में नीली रंग की धारियाँ होने लगती हैं। स्तनों की सतह पर सूजन हो जाती है जिससे छूने में दर्द होता है, साथ ही चूचकों को दबाने से साफ पीले रंग का स्राव निकलने लगता है।
11. **माँसपेशीय कंकाल में परिवर्तन**—गर्भावस्था में ऐच्छिक मांसपेशीयों का टोन (Tone) कम कोने के कारण कन्धे की मेखला (Girdle) का नीचे की ओर रहना सम्भव होता है। गर्भावस्था में उदर में वृद्धि के कारण शरीर सन्तुलन बने रहना कठिन हो जाता है। इसलिए गर्भावस्था में आरामदायक, सपाट व ढीला वस्त्र पहनना चाहिए। सन्तुलन बनाए रखने से पीठ में दर्द होता है। ऊँची एड़ी का चप्पल पहनना डॉक्टर मना करते हैं, क्योंकि असन्तुलन होने पर गिरने की सम्भावना अधिक हो जाती है।

प्र.4. गर्भावस्था के समय होने वाली समस्याएँ कौन-कौन सी हैं? विस्तारपूर्वक समझाइए।

उत्तर

गर्भावस्था की समस्याएँ
(Problems of Pregnancy)

गर्भावस्था में निम्नलिखित समस्याएँ होती हैं जो स्वाभाविक रूप से गर्भवती महिला में पायी जाती हैं—

1. **प्रात:काल जी मिचलाना** (Morning Sickness)—सामान्यत: प्रात:काल जी मिचलाना या वचन गर्भावस्था का लक्षण है जो शरीर के आन्तरिक परिवर्तनों के कारण होता है। किसी-किसी महिला को वमन अधिक होता है व किसी को वमन कम अनुभव मात्र होता है।
   गर्भकालीन अवस्था में संवेगात्मक अस्थिरता के कारण वमन होता है। इसके कई कारण हो सकते हैं—प्रथम प्रसव के कारण भय, आर्थिक अयोग्यता, परिवार का वातावरण, नौकरीपेशा होने पर शिशु के जन्म के बाद पालन-पोषण की समस्याएँ।
   संवेगात्मक अस्थिरता के अतिरिक्त अन्त:स्रावी ग्रन्थियाँ क्रियाशील हो जाती हैं। गर्भ की स्थापना के कारण आन्तरिक परिवर्तन होते हैं। शारीरिक अस्वस्थता भी इसका कारण होता है।
   समस्या का निदान—(i) जिस गर्भवती स्त्री को यह परेशानी हो, उसे बिस्तर से उठने के पूर्व बिस्कुट, भुने चने आदि खा लेना चाहिए। वमन का अनुभव होने तक बिस्तर से उठना नहीं चाहिए।
   (ii) बिस्तर से उठने के बाद चिन्तामुक्त होकर कार्य करना चाहिए।
   (iii) पेट पूरी तरह खाली नहीं होना चाहिए।
   (iv) भोजन के साथ तरल पदार्थ की मात्रा कम लेनी चाहिए। यदि इससे भी आराम न हो तो चिकित्सक से परामर्श लेना चाहिए।
2. **कब्ज** (Constipation)—गर्भावस्था में कब्ज की शिकायत आम समस्या होती है। हार्मोन्स का असन्तुलन होने के कारण पाचक रसों के स्राव भी असन्तुलित होने लगते हैं। भोजन का पाचन ठीक प्रकार से न होने के कारण कब्ज की स्थिति बनने लगती है। मल त्याग न होने के कारण सिर दर्द, पेट दर्द, पेट में तनाव, मरोड़, जी मिचलाना इत्यादि परेशानियाँ होती हैं।
   समस्या का निदान—(i) शौच के समय में नियमितता होनी चाहिए।
   (ii) अत्यधिक गरिष्ठ व मिर्च-मसाले युक्त भोजन नहीं लेना चाहिए।
   (iii) प्रात: काल टहलना अवश्य चाहिए।
   (iv) भोजन में रेशेयुक्त पदार्थ; जैसे—छिलकेयुक्त दालें, रेशेदार सब्जियाँ, फल व चोकरयुक्त रोटियाँ खानी चाहिए जिससे आँत की क्रियाशीलता बढ़ जाती है। रात्रि में सोने से पूर्व दूध में मुनक्का या ईसबगोल की भूसी लेने से आराम मिलता है।
3. **बार-बार पेशाब का आना** (Frequency of Micturition)—गर्भवती महिला में गर्भावस्था के दो-तीन माह से प्रारम्भ होकर चार-पाँच माह तक भ्रूण के गर्भावस्था में वृद्धि के कारण मूत्राशय पर दबाव पड़ता है जिससे बार-बार मूत्र त्याग होने लगता है। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। उत्तेजक पदार्थ चाय, कॉफी आदि का सेवन कम करना चाहिए।
4. **अनिद्रा** (Sleeplessness)—गर्भावस्था की प्रारम्भिक अवस्था में शारीरिक कमजोरी के कारण अत्यधिक नींद आती है परन्तु गर्भावस्था के अन्तिम दिनों में नींद न आने की शिकायत हो जाती है। गर्भाशय में शिशु की क्रियाशीलता बढ़ जाने के कारण ऐसा अनुभव होता है। गर्भावस्था के अन्य विकार पेशीय ऐंठन, अपच, कब्ज, बार-बार मूत्र त्याग की इच्छा के कारण गर्भवती महिला में अनिद्रा की शिकायत होती है।
   समस्या का निदान—(i) सोते समय आरामदेह, ढीले-ढाले सूती वस्त्र पहनना चाहिए।
   (ii) शिशु के जन्म से सम्बन्धित चिंता तनाव को जन्म देती है।
   (iii) भोजन सादा व सुपाच्य होना चाहिए।
   (iv) सोने से एक घण्टा पूर्व ही भोजन करना चाहिए।

TOUCH 'n' PASS

5. **कमर दर्द** (Backache)—गर्भावस्था के अन्तिम दिनों में गर्भाशय में वृद्धि के कारण पेड़ू के आकार में वृद्धि होती है व आस-पास की माँसपेशियाँ फैलने लगती हैं। इसलिए कमर में दर्द होने लगता है। यह शिकायत 8वें महीने में अधिक होती है।

   समस्या का निदान—(i) शारीरिक थकान से बचना चाहिए।
   (ii) अधिक भार नहीं उठाना चाहिए।
   (iii) काम करने के बीच-बीच में विश्राम करना चाहिए।
   (iv) लगातार 8-10 घण्टे खड़े होकर काम नहीं करना चाहिए।

6. **छाती में जलन** (Heart Burn)—छाती में जलन भोजन के ठीक प्रकार पाचन न होने के कारण होती है, साथ ही आमाशय में अम्ल की मात्रा बढ़ जाने के कारण गैस बनने लगती है। इसका प्रमुख कारण आमाशय का आकार बढ़ने के कारण आमाशय पर दबाव बढ़ने लगता है जिससे आमाशय में भोजन का पाचन नहीं हो पाता तो अम्ल की मात्रा बढ़ जाती है।

   समस्या का निदान—(i) अधिक गरिष्ठ व तेल मसालेयुक्त भोजन नहीं करना चाहिए।
   (ii) भोजन धीरे-धीरे चबा-चबा कर करना चाहिए।
   (iii) खाने में फलों व सब्जियों के सूप का प्रयोग करना चाहिए।

7. **माँसपेशीय ऐंठन** (Muscle Cramps)—5वें व 6वें माह में गर्भवती महिला के पैर व पेड़ू में दर्द होता है। माँसपेशियों में ऐंठन होती है। इसका कारण रक्त संचार ठीक प्रकार से न होना है। गर्भावस्था के विकास के कारण पैर व पेड़ू के नीचे के भाग में रक्त प्रभाव की गति धीमी हो जाती है। आहार में कैल्सियम की मात्रा पर्याप्त होनी चाहिए।

   समस्या का निदान—(i) पैरों में प्रतिदिन मालिश करना चाहिए।
   (ii) टाँगों में रक्त संचार ठीक रहे, इसके लिए व्यायाम करते रहना चाहिए।
   (iii) आहार में कैल्शियमयुक्त पदार्थ लेना चाहिए।
   (iv) कार्य करते समय पैरों पर अधिक जोर नहीं पड़ना चाहिए।

8. **शिराओं का फूल जाना** (Varicose Veins)—गर्भाशय में टाँगों की शिराओं में सूजन आ जाती है क्योंकि रक्त अधिक मात्रा में भर जाता है। इस अवस्था को अपस्फीति शिरा (Varicose Vein) भी कहते हैं। यह सभी महिलाओं को नहीं होता है। गर्भावस्था में गर्भस्थ शिरा के विकास के कारण रक्त संचार सही ढंग से नहीं होने के कारण टाँगों में सूजन आ जाती है।

   समस्या का निदान—(i) टाँगों में सूजन आने पर हल्की सिकाई करना चाहिए।
   (ii) गर्भवती महिला को पर्याप्त आराम करना चाहिए।
   (iii) लम्बे समय तक खड़े होकर काम नहीं करना चाहिए।

9. **योनि स्राव** (Vaginal Discharge)—गर्भावस्था में योनि मार्ग से एक चिपचिपा पदार्थ स्रावित होता है जिसे श्लेष्मा कहते हैं। यह आन्तरिक भाग को गीला रखता है। इसकी मात्रा बढ़ जाती है। यानि की आन्तरिक सतह मोटी व लचीली हो जाती है।

   यह स्वाभाविक प्रक्रिया है। इसलिए योनि को साफ रखना चाहिए। किसी भी प्रकार के संक्रमण से बचाना चाहिए।

10. **अल्पश्वांस** (Shortness of Breath)—गर्भावस्था में अन्तिम 1 से 2 महीने में स्त्री को श्वास लेने में कठिनाई होती है। इसे अल्पश्वांस कहते हैं। अधिक परिश्रम करने से ऐसी स्थिति महसूस होती है। गर्भाशय के आकार की वृद्धि के कारण महाप्राचीरा पेशी पर दबाव पड़ता है जिससे श्वसन क्रिया ठीक प्रकार नहीं हो पाती। यह सामान्य प्रक्रिया होती है। यथासम्भव विश्राम आवश्यक होता है।

11. **दंतक्षरण** (Dental Decay)—गर्भकालीन अवस्था में गर्भस्थ शिशु अपना पोषण माँ के शरीर द्वारा ही करता है। माँ के शरीर में कैल्शियम की मात्रा कम होने पर ऐसी स्थिति आती है।

    समस्या का निदान—गर्भवती के आहार में खनिज, लवण व विटामिन की पर्याप्त मात्रा होनी चाहिए। लौह, कैल्शियम, फॉस्फोरस, विटामिन डी, विटामिन ए को सम्मिलित करना चाहिए। कैल्शियम व आयरन लेना चाहिए। गर्भावस्था के चौथे माह से ही दाँतों का परीक्षण कराते रहना चाहिए।

TOUCH 'n' PASS

12. **भोजन के प्रति अरुचि** (Changes of Food Habit)—गर्भावस्था में खाने-पीने की रुचि में परिवर्तन होने लगता है। हार्मोन्स के असन्तुलन के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है।
यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है इसलिए रुचिप्रद भोजन ग्रहण करना चाहिए। भोजन के अतिरिक्त वस्तुओं को खाने की रुचि विकसित होती है; जैसे—कच्ची खड़िया, चाक आदि। इसको समाप्त करने का प्रयास आवश्यक होता है।

प्र.5. गर्भावस्था में होने वाली कठिनाइयों को विस्तारपूर्वक समझाइए।

उत्तर

गर्भावस्था में कठिनाइयाँ
(Complications in Pregnancy)

गर्भावस्था में गर्भवती महिला की देखभाल या परिचर्या सही ढंग से की जाए परन्तु कुछ स्वाभाविक समस्याएँ हैं जिनका सामना करना पड़ता है। कुछ समस्याएँ अस्वाभाविक होती हैं जिसके द्वारा गम्भीर स्थिति उत्पन्न होती है जिसका उपचार प्रारम्भिक अवस्था से ही होना आवश्यक होता है।

1. **अपरिपक्व जन्म** (Premature Birth)—अपरिपक्व जन्म से तात्पर्य 9 माह की अवधि से पूर्व ही बच्चे का जन्म होना है। 6 महीने से 9 महीने के मध्य होने वाला जन्म अपरिपक्व जन्म कहलाता है। सुरक्षात्मक थैली के फट जाने के कारण तरल पदार्थ योनि मार्ग से स्रावित होने लगता है, तब शिशु का जन्म आवश्यक हो जाता है। इसके कई कारण होते हैं। सन्तुलित आहार का भाव, विषाक्तता व किसी दुर्घटना या गर्भाशय में चोट लगने के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है।
2. **गर्भकालीन अतिवमन (हाइपरइमैसिस ग्रैवीडेरम)** (Hyperemesis Gravidarum)—गर्भिणों को इस प्रकार की वमन दिन में कई बार होती है। अधिकतर गर्भावस्था के प्रारम्भिक दिनों में आरम्भ होकर कई मास तक चलती है। इसके फलस्वरूप महिला के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है और उसमें दिन-प्रतिदिन दुर्बलता बढ़ती जाती है।
रोग के लक्षण—प्रात:कालीन वमन जो गर्भावस्था के छठे सप्ताह से शुरू होकर 12वें सप्ताह तक समाप्त। वमन लगातार प्रत्येक भोजन एवं पेय लेने के तत्काल बाद। कौड़ी प्रदेश में पीड़ा। शारीरिक दुर्बलता एवं कमजोरी, थकान, तीव्र सिर दर्द एवं सिर चकराना। पेशाब बहुत कम। आक्षेप, पीलिया अति उग्र रूप में। निद्रानाश एवं बेचैनी। अति उग्र स्वरूप की वमन, खून में पानी की कमी, कम दिखाई देना, बेहोशी, अक्षिदोलन आदि।
रोग के कारण—कोई स्पष्ट कारण ज्ञात नहीं फिर भी निम्न कारणों की सम्भावनाएँ व्यक्त की जा रही हैं—
   (i) कार्बोहाइड्रेट की कमी।
   (ii) विक्षिप्त वाद (Neurotic theory) कोई न कोई मनोविकार होने से।
   (iii) विषरक्ता (टॉक्सीमिया)।
   (iv) अन्त:स्रावी ग्रन्थियों के स्रावों का असंतुलन।
3. **गर्भकालीन विषाक्तता** (Toxaemia of Pregnancy)—गर्भकालीन विषाक्तता एक गम्भीर समस्या है। यदि किसी गर्भवती स्त्री में ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है तो प्रत्येक गर्भावस्था में यह समस्या उत्पन्न होती है। विषाक्तता होने पर रक्तचाप सामान्य से बहुत अधिक हो जाता है। यह विषाक्तता दो प्रकार की होती है—
   (i) तीव्र विषाक्तता (Acute Toxaemia), एवं
   (ii) दीर्घावधि विषाक्तता (Chronic Toxaemia)।
   (i) **तीव्र विषाक्तता** (Acute Toxaemia)—यह रोग की तीव्र अवस्था होती है। यह दूसरे से तीसरे माह के बीच होने वाला रोग है। इसकी निम्नलिखित दो अवस्थाएँ होती हैं—
      (a) **प्री-ऐक्लेम्पसिया** (Pre Eclampsia)—यह बीमारी गर्भावस्था में ही होती है। 30 वर्ष से अधिक उम्र होना, मोटी स्त्रियों की उचित देखभाल न होने पर। गरीब स्त्रियों में यह समस्या उत्पन्न होती है।
      लक्षण—
      - अत्यधिक वजन बढ़ना।
      - सामान्य रूप से गर्भाशय के भार व पैरों की शिराओं के प्रभाव से पैरों में सूजन आ जाती है।
      - रक्तचाप अधिक होने के कारण सिर दर्द, चक्कर आना, आँखों के सामने अँधेरा दिखना, वमन आदि।
      - कई बार लगातार वमन होना।
      - मूत्र में प्रोटीन की मात्रा बढ़ जाने से गुर्दे में संक्रमण हो जाता है।

उपचार (Treatment)—1. प्री-एक्सेम्पसिया की स्थिति में गर्भवती को पूर्ण आराम करना चाहिए।
2. भोजन हल्का होना चाहिए।
3. नमक कम होना चाहिए। डॉक्टर से परामर्श लेना चाहिए।
4. वजन वृद्धि पर नियन्त्रण करना चाहिए।
5. भोजन में कार्बोज, वसा के सेवन पर नियन्त्रण करना चाहिए।

(b) **एक्लेम्पसिया** (Eclampsia)— प्री-एक्लेम्पसिया के लक्षण तीव्र होने पर एक्लेम्पसिया का रूप धारण कर लेता है। गर्भधारण के पूर्व यदि स्त्री में हृदय रोग, यकृत का रोग, उच्च रक्चाप कुपोषण, मधुमेह इत्यादि रोग हो तो इसकी सम्भावना अधिक रहती है। विकृत अपरा (Placenta) के कारण यह स्थिति आ जाती है।
लक्षण—यह एक गम्भीर रोग है। इसके होने पर कभी-कभी रक्तस्राव अधिक होने से मस्तिष्क में रक्त स्राव होने की सम्भावना हो जाती है।
- आँखों के सामने धुँधलापन होना।
- बेहोशी की स्थिति होना, पेशीय ऐंठन होना, शरीर का नीला हो जाना।
- श्वांस मार्ग व स्वरयन्त्र में विकृति होना जिससे आवाज धीमी निकलती है।

उपचार (Treatment)—1. इस रोग की सम्भावना होने पर सबसे पहले डॉक्टर को दिखाना चाहिए। रक्तचाप कम करने का प्रयास करना चाहिए।
2. रोगी का कमरा शोरगुल रहित होना चाहिए जिससे उसे अच्छी नींद आए तो आराम महसूस करे।

(ii) **दीर्घावधि विषाक्तता** (Chronic Toxaemia)—जो स्त्रियाँ गर्भावस्था से पूर्व ही उच्च रक्तचाप से पीड़ित रहती हैं या गुर्दे की बीमारी से पीड़ित रहती हैं, उन्हें यह बीमारी हो जाती है। शरीर में कँपकँपी होना, अत्यधिक पसीना आना, सिरदर्द, मुँह सफेद होना इस बीमारी के लक्षण हैं। इस रोग के उपचार में प्री-एक्लेम्पसिया की तरह इलाज की जरूरत होती है। जरा-सी लापरवाही भयंकर रूप ले लेती है, साथ ही रोगी की मृत्यु भी हो सकती है।

4. **रक्तहीनता** (Anaemia)—सम्पूर्ण शरीर में रक्त निरन्तर संचरित होता रहता है। शुद्ध रक्त हृदय से निकलकर धमनियों द्वारा कोशिकाओं के माध्यम से शरीर की सूक्ष्मतम कोशिकाओं तक पहुँचता है जो शरीर को स्वस्थता व क्रियाशीलता प्रदान करती है।
रक्त में लाल व श्वेत रक्त कणिकाएँ होती हैं जिसमें लाल रक्त कणिकाओं के कम होने पर हीमोग्लोबिन जो इसमें पाया जाता है, कम हो जाता है जिससे ऑक्सीजन का ऑक्सीकरण नहीं हो पाता है। रक्त शुद्ध नहीं हो पाता क्योंकि शुद्ध रक्त ऑक्सीजन कोशिकाओं तक पहुँचता है। हीमोग्लोबिन की मात्रा कम होने पर रक्तहीनता हो जाती है।
लक्षण (Symptoms)—(i) त्वचा, नाखून व आँखों में पीलापन होना।
(ii) चेहरे की चमक समाप्त होना व आँखों के नीचे काला घेरा बनाना।
(iii) सिर में दर्द होना।
(iv) साँस फूलना।
(v) घबराहट होना।
(vi) आँखों के सामने अँधेरा छा जाना।
(vii) चक्कर आना।
उपचार (Treatment)—रक्तहीनता होने पर पौष्टिक तत्त्वों की संतुलित मात्रा लेने की आवश्यकता पड़ती है। लोहे-लवण युक्तपदार्थ, गुड़, मुनक्का, किशमिश, चुकन्दर, सूखे मवे, दूध व दूध से बने पदार्थ, मछली इत्यादि आहार देना चाहिए।

5. **गुर्दे में संक्रमण** (Kidney Infection)—गर्भावस्था में गर्भाशय के दबाव के कारण गर्भवती महिला के मूत्राशय व मूत्र की थैली व मूत्र नलिकाओं में परिवर्तन हो जाता है। कभी-कभी देर तक मूत्र रोकने पर संक्रमण होने की सम्भावना हो जाती है। गुर्दे का संक्रमण स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है।
लक्षण (Symptoms)—(i) गुर्दे के आस-पास सूजन होना।
(ii) पीठ में असहनीय दर्द होना।

(iii) ठण्ड लगना व कँपकँपी होना।
(iv) तीव्र वमन।
(v) तेज बुखार होना।

उपचार (Treatment)—गुर्दे में संक्रमण हो जाने पर गर्भवती को पर्याप्त विश्राम करना चाहिए व अधिक जल पीने को देना चाहिए। दूध व तरल पदार्थों की मात्रा बढ़ा देनी चाहिए। हल्का व सुपाच्य भोजन देना चाहिए। चिकित्सक के परामर्श के आधार पर दवा देनी चाहिए।

6. **गर्भपात एवं विफल प्रयास** (Abortion and Miscarriage)—गर्भाधान के बाद 24 से 28वें सप्ताह में गर्भ की समाप्ति के लिए किया गया प्रयास गर्भपात (Abortion) कहलाता है परन्तु अकस्मात होने वाले गर्भपात को पिफल प्रयास (Miscarriage) कहते हैं। गर्भपात में भ्रूण की मृत्यु हो जाती है तो गर्भपात या विफल प्रयास कहा जाता है।

प्र.6. शिशु के आगमन के पूर्व किस प्रकार की तैयारी की जाती है? व्याख्या कीजिए।

उत्तर

शिशु जन्म की तैयारी
(Preparation of Child-birth)

शिशु आगमन का हर माता-पिता बेचैनी से इन्तजार करते हैं। यदि पति-पत्नी का प्रथम बच्चा है तो वह इसका इन्तजार और अधिक बेचैनी से करते हैं। माता-पिता की जिम्मेदारी केवल इन्तजार करने से ही पूर्ण नहीं हो जाती है। जन्म के पश्चात् शिशु का उचित पालन-पोषण उसे सुयोग्य नागरिक बनाने के लिए आवश्यक है जबकि माँ-बाप शिशु को स्वस्थ रखने तथा मानसिक विकास के लिए आवश्यक तत्त्वों के विषय में जानकारी रखें।

आज हर पढ़ा-लिखा माँ-बाप यह जानता है कि शिशु के प्रति उनकी जिम्मेदारी शिशु के जन्म के बाद नहीं किन्तु शिशु के गर्भ में आते ही प्रारम्भ हो जाती है। अब शिशु जन्म केवल ईश्वर की मर्जी नहीं रह गया है अब यह माता-पिता की मर्जी का हो गया है इसलिए उन्हें शिशु जन्म के लिए पूरी योजना बनानी चाहिए। उसी के अनुसार काम करना चाहिए क्योंकि उनके यहाँ जन्म लेने वाला बच्चा पूर्णतया उन्हीं पर निर्भर रहेगा। यह बात वह अच्छी तरह से जानते हैं। आने वाले कल में समाज को कैसे नागरिक मिलेंगे, यह बच्चे के पालन-पोषण पर निर्भर करता है। अब वह समय नहीं रहा कि शिशु जन्म हो जाने के बाद उसके भविष्य के बारे में सोचा जाए। अब शिशु जन्म की प्रारम्भिक क्रिया के साथ ही उसके भविष्य की योजना बनाना आवश्यक है।

शिशु के जन्म के समय किसी प्रकार की समस्या उत्पन्न न हो, आसानी से सब काम हो जाएँ, प्रसूता तथा नवजात शिशु की ठीक देखभाल हो सके, दोनों स्वस्थ रहें, इसके लिए आवश्यक धन, उचित डॉक्टर, प्रसव के लिए उचित स्थान, शिशु तथा प्रसूता के लिए आवश्यक सामग्री का प्रबन्ध पहले से करना चाहिए। अब हम इनके विषय में विस्तार से चर्चा करेंगे—

1. **प्रसव हेतु धन का अनुमान तथा व्यवस्था**—प्रसव कहाँ करवाना है घर पर या अस्पताल में, यह निश्चित करने के बाद डॉक्टर से परामर्श कर लेना चाहिए कि प्रसव में कितना व्यय होगा। उस डॉक्टर द्वारा बताई गई अनुमानित राशि से कुछ अधिक राशि का पहले से ही प्रबन्ध कर लेना चाहिए ताकि पैसे की कमी के कारण प्रसूता एवं शिशु की आवश्यकता पूरी होने में बाधा न पहुँचे।
2. **प्रसव हेतु योग्य डॉक्टर या प्रशिक्षित नर्स का प्रबन्ध**—पिछले अध्यायों में हम देख चुके हैं कि गर्भावस्था प्रारम्भ होने पर गर्भवती स्त्री को तीसरे माह में अपना मासिक परीक्षण अवश्य कराना चाहिए। यह परीक्षण किसी एक ही डॉक्टर के पास करवाना चाहिए ताकि उस डॉक्टर को गर्भवती स्त्री के स्वास्थ्य, शिशु के विकास, स्त्री के विकास के बारे में सब कुछ मालूम हो और इन सब आधार पर वह डॉक्टर, यह निर्णय करने में समर्थ हो सके कि शिशु का जन्म किस प्रकार होगा। डॉक्टर को यदि गर्भवती स्त्री के बारे में पूर्ण जानकारी होती है तो वह मुश्किल परिस्थितियों को भी आसानी से हल कर लेती है किन्तु यदि गर्भवती स्त्री को डॉक्टर के पास ले जाया जाता है या डॉक्टर को बुलाया जाता है तो डॉक्टर केस की पूर्ण जिम्मेदारी अपने ऊपर नहीं लेती है इसलिए गर्भावस्था के प्रारम्भ से ही एक योग्य डॉक्टर का चुनाव कर लेना चाहिए जो डॉक्टर गर्भवती स्त्री के परीक्षण के साथ प्रसव में होने वाले व्यय को भी बता सके। यह डॉक्टर गर्भावस्था के समय बीच-बीच में उत्पन्न होने वाली शारीरिक समस्याओं के विषय में गर्भवती स्त्री को बताती रहती है तथा उनका निदान और उपचार भी बताती है। समस्यानुसार उचित शिक्षित नर्स, दाई का तथा प्रसव के समय आवश्यक सामग्री का प्रबन्ध करने के निर्देश तथा उसमें सहायता करती है।

3. **शिशु जन्म के लिए स्थान का चुनाव**—शिशु जन्म के पहले गर्भवती स्त्री तथा उसके परिवार वालों को यह निश्चित कर लेना चाहिए कि शिशु का जन्म कहाँ होगा क्योंकि यदि प्रसव अस्पताल में होना है तो प्रसूता तथा शिशु के लिए आवश्यक सामग्री का प्रबन्ध करना होता है। यदि घर पर होना है तो डॉक्टर एवं विभिन्न उपकरणों की भी व्यवस्था करनी होती है। यदि प्रसव अस्पताल में करवाना है तो पहले वहाँ रजिस्ट्रेशन करवा लेना चाहिए अन्यथा आखिरी समय में मुश्किलें होती हैं। अस्पताल में प्रसव करवाने से यह लाभ होता है कि वहाँ प्रशिक्षित डॉक्टरों, नर्सों की व्यवस्था होने के कारण प्रसवकाल की मुश्किल आसानी से निपटाई जा सकती है। जैसे ही गर्भवती स्त्री को दर्द (Labour pain) महसूस हो, उसने जिस अस्पताल में रजिस्ट्रेशन करवाया हो, उसे वहाँ पहुँच जाना चाहिए। गर्भवती स्त्री को अस्पताल ले जाते समय सबसे पहले—
   (i) धन का प्रबन्ध कर लेना चाहिए तथा प्रसूता के साथ अस्पताल जाने वाले को अपने पास धन रख लेना चाहिए।
   (ii) डॉक्टर द्वारा बताई गई प्रसव तिथि के 3-4 दिन पहले ही प्रसूता तथा शिशु की आवश्यक सामग्री को एकत्र कर लेना चाहिए तथा इसे सम्भाल कर एक साथ ही, एक ही जगह रख लेना चाहिए।
   (iii) गर्भवती स्त्री को कष्ट महसूस होते ही उचित सवारी का प्रबन्ध कर उसे अस्पताल पहुँचाना चाहिए, साथ ही उसे अस्पताल का कार्ड तथा अन्य आवश्यक कागज साथ ले लेना चाहिए।
   (iv) गर्भवती स्त्री के साथ अस्पताल एक अन्य स्त्री तथा पुरुष को भी जाना चाहिए। गर्भवती स्त्री की मदद के लिए तथा पुरुष उस समय आवश्यक दवाइयाँ आदि लाने के लिए होना चाहिए।

प्र.7. नवजात शिशु की विशेषताओं के बारे में लिखिए तथा जन्म के समय शिशु के स्वास्थ्य मूल्यांकन का भी उल्लेख कीजिए।

उत्तर गर्भस्थ शिशु जो माँ के शरीर से जन्म लेता है, उसे नवजात शिशु (Neonate) कहते हैं। लैटिन भाषा में *(Neonate)* का अर्थ है नया जो ग्रीक भाषा के *नियोस (Neos)* शब्द से बना है। *नियोनेट* शब्द का अर्थ है कि वह शिशु जो 30 दिन तक का हो, उसे नवजात कहते हैं। कुछ बाल विशेषज्ञ 10 दिन के बच्चे को नवजात मानते हैं।

नवजात शिशु की विशेषताएँ
(Characteristics of Neonate)

गर्भाशय से जन्म के पश्चात् जब शिशु स्वयं साँस लेने लगता है, वह सामान्य व स्वस्थ माना जाता है। स्वस्थ शिशु की शारीरिक विशेषताएँ निम्नलिखित होती हैं—

1. **वजन** (Weight)—परिपक्व भारतीय नवजात शिशु का जन्म के समय वजन 2.5 kgs. सामान्य माना जाता है।
2. **लम्बाई** (Length)—जन्म के समय सिर से लेकर पैर तक की लम्बाई 46 से 52 सेमी तथा औसतन 50 सेमी होती है।
3. **आसन** (Posture)—नवजात शिशु का आसन गर्भस्थ शिशु के आसन की तरह होता है परन्तु जाग्रत अवस्था में पाँवों व हाथों की क्रियाशीलता दिखाई देती है।
4. **सिर** (Head)—सिर की परिधि 33 से 35 सेमी होती है। प्रथम सप्ताह में सिर की परिधि में 2 सेमी की वृद्धि होती है।
5. **आँखें** (Eyes)—नवजात की आँखें बन्द रहती हैं। उसे आँख खोलना अच्छा नहीं लगता। 4 सप्ताह बाद शिशु की आँखों में आँसू आना शुरू हो जाता है। दृष्टि का केन्द्रीकरण 6 से 8 सप्ताह में शुरू होता है।
6. **श्वासोच्छवास** (Respiration)—नवजात शिशु नाक व मुँह दोनों से श्वांस लेता है। यह क्रिया नियमित होती हैं। आराम की दशा में श्वासोच्छवास की गति 20 से 60 प्रति मिनट होती है। औसत 44 प्रति मिनट होता है। हृदय की गति 120 से 140 प्रति मिनट होती हैं।
7. **बाल** (Hair)—जन्म के समय शिशु के चेहरे एवं शरीर में कोमल रोंये पाए जाते हैं। चौथे सप्ताह तक सिर के बाल उड़ जाते हैं।
8. **तापमान** (Temperature)—जन्म के समय नवजात का तापमान 37.8°C रहता है। जन्म के कुछ ही घण्टों में 1 से 2°C कम हो जाता है। शिशु की तापमान नियन्त्रण प्रक्रिया विकसित न होने के कारण तापमान में विभिन्नता पायी जाती है।
9. **त्वचा** (Skin)—जन्म के समय शिशु की त्वचा गुलाबी रंग की होती है। त्वचा के नाजुक होने के कारण थोड़े-से घर्षण से लाल हो जाती है।

10. **नाभिरज्जु** (Naval Cord)—24 घण्टे में नाभिरज्जु सिकुड़ जाता है। वह 8-10 दिन में सूखकर गिर जाता है।
11. **जिह्वा जुड़ी हुई** (Tongue Tied)—नवजात शिशु की जीभ का निचला भाग मसूड़ों के आन्तरिक भाग में पेशियों के एक पट्टे द्वारा जुड़ा रहता है इसलिए जीभ के ऊपर और मुँह के बाहर आने वाली हलचलों से नहीं हिलती। इससे तुतलापन आ जाता है।
12. **योनि मार्ग में रक्त-स्राव** (Vaginal Bleeding)—कुछ नवजात लड़कियों में प्रथम सप्ताह से योनि मार्ग में रक्त मिश्रित स्राव पाया जाता है किन्तु यह सामान्य स्थिति का परिचायक है। 48 घण्टे बाद यह स्वत: समाप्त हो जाता है।
13. **मूत्र निष्कासन क्रिया** (Urination)—जन्म लेते समय या जन्म के बाद शिशु मूत्र निष्कासन कर देता है। मूत्र की मात्रा कम होती है। प्रति 24 घण्टे में 2 औंस होती है। कभी-कभी लड़कों में मुण्डच्छद छिद्र सँकरा होता है जिससे मूत्र निष्कासन में परेशानी होती है। डॉक्टर से परामर्श लेना चाहिए।
14. **मल निष्कासन क्रिया** (Bowel Action)—जन्म के 3-4 दिन में 4-5 बार मल का निष्कासन होता है जो कि चिपचिपा हरे रंग का व गन्धहीन होता है। यदि जन्म के 24 घण्टों में निष्कासन नहीं होता है तो आन्त्र नलिका में बाधा उपस्थित होती है।
15. **शरीर के वजन में अन्तर** (Difference in Weight of Body)—जन्म के पश्चात् प्रथम सप्ताह में शिशु के शरीर का 10% प्रतिशत वजन कम होता है। जन्म के चौथे दिन से शरीर के वजन की वृद्धि होने लगती है। द्वितीय सप्ताह में शिशु का प्रतिदिन लगभग 25 gm वजन बढ़ने लगता है और यह वृद्धि दर तृतीय माह तक चलती रहती है।

जन्म के समय शिशु का स्वास्थ्य मूल्यांकन
(Evaluation of Health of Neonate at Birth)

जन्म के समय शिशु का स्वास्थ्य निरीक्षण करके उसका मूल्यांकन करना अति आवश्यक होता है जिसमें हृदय की गति, श्वासोच्छवास, पेशीय स्फुरण, प्रतिक्षेप क्रिया व रंग प्रमुख होते हैं।

जन्म के बाद शिशु के स्वास्थ्य की जाँच के प्रमुख उद्देश्य हैं—

1. जन्मजात असामान्यताओं का पता लगाना जिससे शिशु को जीवन में खतरा हो, उसका शीघ्र उपचार करना आवश्यक है।
2. जन्म के पूर्व या जन्म के विपरीत वातावरण के कारण होने वाली बीमारियों का पता करना।
3. शरीर के वजन का माप लेना।
4. शिशु के सम्बन्ध में माता से विचार-विमर्श करना।
5. श्वासोच्छवास गति की जाँच करना। यदि गति 60 प्रति मिनट से कम हो तो विशेष सावधानी की जरूरत पड़ती है।
6. नाड़ी तन्त्र की गति व शारीरिक हलचलों की जाँच करना।
7. त्वचा की जाँच करना।
8. सिर से पाँव तक की लम्बाई नापना।
9. सिर की परिधि का माप लेना।
10. शरीर का वजन करना।,

❐

UNIT-VII

शैशवावस्था
Infancy

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. शिशु की काम प्रवृत्ति को फ्रायड ने क्या नाम दिया है?

उत्तर नार्सीसिज्म नाम दिया है।

प्र.2. भूख लगने पर शिशु की क्या प्रतिक्रिया होती है?

उत्तर शिशु भूख लगने पर रोता है और पैर पटकता है।

प्र.3. शैशवावस्था में शिक्षा का क्या स्वरूप होना चाहिए।

उत्तर 1. शारीरिक विकास का प्रयास, 2. शिशु की क्षमताओं का ज्ञान, 3. शारीरिक दोषों का निवारण, 4. भाषा विकास का अवसर, 5. प्रेमपूर्ण व्यवहार।

प्र.4. क्रो एवं क्रो के अनुसार शैशवावस्था का क्या अर्थ है?

उत्तर क्रो एवं क्रो ने शैशवावस्था का अर्थ उस अवस्था से लगाया है जो औसतन जन्म से 5 या 6 वर्ष तक चलती है जिसमें इन्द्रियाँ काम करने लगती हैं।

प्र.5. शैशवावस्था की कोई तीन सामान्य विशेषताएँ लिखिए।

उत्तर 1. अपरिपक्वता, 2. दूसरों पर निर्भरता, 3. उत्तरोत्तर वृद्धि एवं विकास, 4. सीखने की प्रक्रिया में तीव्रता, 5. कल्पनाजगत में विचरण आदि बिन्दुओं का विवरण दीजिए।

प्र.6. शैशवावस्था में लगाए जाने वाले मुख्य टीके कौन-कौन से हैं?

उत्तर शैशवावस्था में लगाए जाने वाले मुख्य टीके हैं—1. टी०बी० से बचाव का बी०सी०जी० का टीका, 2. पोलियो का टीका तथा ट्रिपिल वेक्सीनेशन, 3. हैजे का टीका तथा 4. टायफॉइड का टीका।

प्र.7. शैशवावस्था में संवेगात्मक विकास की विशेषताएँ लिखिए।

उत्तर शैशवावस्था में संवेगात्मक विकास की निम्न विशेषताएँ हैं—

1. जन्म के समय से ही शिशुओं में संवेगात्मक व्यवहार प्रकट होने लगते हैं; जैसे—रोना, चिल्लाना और पैर पटकना।
2. शिशुओं का संवेगात्मक विकास अस्थिर होता है अर्थात् शीघ्र ही उत्तेजित होना तथा शीघ्र ही शान्त हो जाना।
3. संवेगात्मक व्यवहार में धीरे-धीरे परिवर्तन होता रहता है।
4. शैशवावस्था के प्रारम्भिक चरण में शिशु के संवेग अस्पष्ट होते हैं, बाद में धीरे-धीरे उनमें स्पष्टता आती है।
5. मूल प्रवृत्तियों के विकास के साथ-साथ संवेगों का विकास होता जाता है।
6. शैशवावस्था के अन्त में शिशु अपने परिवार के सदस्यों से विशेषकर माँ से स्नेह भाव प्रकट करने लगता है।

प्र.8. शिशु की मांसपेशियों का विकास किस प्रकार होता है?

उत्तर जन्म के समय शिशु की मांसपेशियों का भार उसके शरीर के भार का 23.4 प्रतिशत होता है और प्रथम दो वर्ष में ही दोगुना हो जाता है। हाथ और पैर की मांसपेशियों का विकास तीव्र गति से होता है। दो वर्ष तक में उसकी टाँगें डेढ़ गुना हो जाती हैं।

TOUCH 'n' PASS

प्र.9. आकलन शक्ति का क्या तात्पर्य है?

उत्तर आकलन शक्ति का तात्पर्य शिशु की उस योग्यता से है जिससे वह दूसरों की क्रियाओं तथा भाव-भंगिमाओं को समझ लेता है।

प्र.10. शैशवावस्था में मुख्य रूप से किस खनिज की अधिक आवश्यकता होती है?

उत्तर शैशवावस्था में मुख्य रूप से कैल्शियम की आवश्यकता होती है।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. शैशवावस्था के अर्थ एवं महत्त्व को समझाइए।

उत्तर

शैशवावस्था का अर्थ
(Meaning of Infancy)

मानव-जीवन के विकास की प्रथम अवस्था शैशवावस्था कही जाती है। कुछ विद्वानों ने जन्म से 2½ वर्ष तक की अवस्था को शैशवावस्था कहा है और कुछ 3 वर्ष की उम्र तक। भारतीय मनोवैज्ञानिक कुप्पूस्वामी ने भी शैशवावस्था को जन्म से 3 वर्ष तक माना है।

शैशवावस्था का अर्थ और महत्त्व के बारे में मनोवैज्ञानिक निम्नलिखित विचार प्रकट करते हैं—

1. **एफ०बी० हरलॉक** ने जन्म से केवल 2 सप्ताह तक शैशवावस्था कहा है। इसके पश्चात् अगले 2 वर्षों तक Babyhood या शिशुकाल कहा है। उन्होंने 2 से 6 वर्ष की आयु को पूर्व-बाल्यावस्था माना है।
2. **क्रो एवं क्रो** ने शैशवावस्था का अर्थ उस अवस्था से लगाया है जो औसतन जन्म से 5 या 6 वर्ष तक चलती है जिसमें इन्द्रियाँ काम करने लगती हैं। बालक चलना, रेंगना और बोलना सीखता है।
3. **फ्रायड**—मनुष्य को जो कुछ बनना होता है प्रारम्भ के 4 या 5 वर्ष में ही बन जाता है।
4. **स्ट्रैंग**—जीवन के प्रथम 2 वर्षों में बालक अपने भावी जीवन का शिलान्यास करता है।
5. **न्यूमैन**—5 वर्ष तक की अवस्था शरीर एवं मस्तिष्क के लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है।

शैशवावस्था का महत्त्व
(Importance of Infancy)

शैशवावस्था मानव जीवन के विकास की पहली अवस्था है। इसे व्यक्ति के जीवन-विकास का उषा काल कहा जा सकता है। साधारणतया जन्म से लेकर पाँच-छह वर्ष तक का समय शैशवकाल कहलाता है। शैशवावस्था जीवन का आरम्भ काल है, अतएव आगे के विकास का आधार कहा जा सकता है। **एडलर** नामक मनोविज्ञानी का विचार है कि "शैशवावस्था द्वारा जीवन का पूरा क्रम निश्चित होता है।"

मस्तिष्क और शरीर के विचार से यह अवस्था अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। **प्रो० न्यूमैन** ने लिखा है कि "पाँच वर्ष तक की अवस्था शरीर और मस्तिष्क के लिए अत्यधिक ग्रहणशील होती है।"

इसी कारण तो शिशु के मस्तिष्क पर उसके चारों ओर के वातावरण का प्रभाव बहुत पड़ता है।

फ्रायड का विचार है कि "छोटा मानव अपने चौथे अथवा पाँचवें वर्ष में पूरा बन जाता है।"

उपर्युक्त महत्त्व को देखने से ज्ञात होता है कि शिशु के विकास को समझना शिक्षक के लिए आवश्यक है। इसी बात को ध्यान में रखकर आधुनिक समय में शिशु सम्बन्धी अध्ययन इतना अधिक किया गया है कि बीसवीं शताब्दी के लोगों ने इसे बालकों की शताब्दी कहा है और शिक्षा भी बालक-केन्द्रित बन गई। यह विचार क्रो व क्रो नामक मनोविज्ञानियों ने व्यक्त किया है। अतएव हमें विस्तार से शैशवावस्था पर विचार करना चाहिए।

प्र.2. शैशवावस्था में क्रियात्मक विकास की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर क्रियात्मक विकास की विशेषताएँ (Definition of Motor Development)—क्रियात्मक विकास सम्बन्धी विशेषताएँ प्राय: सब बच्चों में एक-सी होती हैं। जैसे—

1. **निश्चित क्रम** (Definite Sequence)—क्रियात्मक विकास के दो क्रम होते हैं तथा सभी बच्चों में पाए जाते हैं—

(i) **मस्तकाधोमुखी क्रम** (Cephalocaudal Sequence)—इस क्रम के अनुसार पहले सिर के क्षेत्र का फिर चेहरे, गर्दन, धड़ तथा पैर के क्षेत्र का विकास होता है। जब बच्चों को लिटाते हैं तो वह सबसे पहले सिर को ही ऊपर करता है फिर बैठना, फिर घिसटना, खड़ा होना तब चलने की क्रिया पर आता है अब इन क्रियाओं के क्रम पर ध्यान दें तो पहले सिर, चेहरा, गर्दन, धड़ तब पैर की मांसपेशियों पर नियन्त्रण आता है।

(ii) **निकट-दूर का सिद्धान्त**—इस नियम के अनुसार व क्षेत्र जो सुषुम्ना नाड़ी के पास के क्षेत्रों का क्रियात्मक विकास पहले होता है जो क्षेत्र सुषुम्ना नाड़ी से दूर होते हैं उनका विकास थोड़ी देर से प्रारम्भ होता है पहले बालक की कन्धे की मांसपेशियों पर, फिर कुहनी और फिर कलाई तब उँगलियों की मांसपेशियों का विकास होता है।

2. **विकास सामान्य से विशिष्ट की ओर होता है** (Motor development proceeds from general to specific responses)—पहले बच्चे की क्रियाएँ सामान्य होती हैं, जैसे-जैसे क्रियात्मक विकास बढ़ता है विशिष्ट क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं।
3. **क्रियात्मक विकास बड़ी मांसपेशियों का पहले, फिर छोटी मांसपेशियों का होता है** (Motor development proceeds from large to small muscles)—बच्चे की बड़ी मांसपेशियों का विकास पहले होता है इसका प्रमाण है कि बच्चा पहले बड़ी मांसपेशियों पर नियन्त्रण सीखता है फिर छोटी पर। उदाहरण बच्चा गिलास पकड़ कर पानी पीने की क्रिया पर नियन्त्रण पहले कर लेता है चम्मच से खाने पर बाद में। गिलास पकड़ने में हाथ की बड़ी मांसपेशियों पर नियन्त्रण होता है, चम्मच से उँगलियों की छोटी मांसपेशियों पर।
4. **विकासात्मक विकास में परिपक्वता तथा सीखना दो आवश्यक कारक से भी आगे बढ़ता है** (Motor development proceeds due to maturation and learning)—क्रियात्मक विकास के लिए सीखना तथा परिपक्वता दोनों आवश्यक हैं यदि इनमें से एक भी कम होता है तो विकास सामान्य गति से नहीं होता है। इन दोनों कारकों का प्रभाव अलग-अलग नहीं किन्तु एक साथ मिलकर पड़ता है।
5. **व्यक्तिगत विभिन्नताएँ** (Individual differences)—बच्चों के क्रियात्मक विकास की गति में अन्तर होता है क्योंकि बालक में व्यक्तिगत विभिन्नताएँ पाई जाती हैं।
   उदाहरण—कुछ बच्चे 10 माह में चलने लगते हैं कुछ 1 साल में, तो कुछ 14 माह में।
6. **यौन अन्तर** (Sex differences)—विभिन्न अध्ययनों से पता चला है कि 3 वर्ष की उम्र तक यौन अन्तर का प्रभाव क्रियात्मक विकास पर नहीं पड़ता है पर इसके बाद लड़कों का क्रियात्मक विकास लड़कियों की अपेक्षा तीव्र होता है।

प्र.3. सामाजिक विकास से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर सामाजिक विकास का तात्पर्य बालक के जन्म से प्रारम्भ होने वाली उस प्रक्रिया से है जिसमें वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए सामाजिक वातावरण के प्रति प्रतिक्रिया कर सामाजिक गुणों को सीखता है। जन्म के पश्चात् कुछ जैविक आवश्यकताओं को लेकर संसार में प्रवेश करता है। कुछ स्वाभाविक जन्मजात क्रियाएँ—श्वसन (Respiration), मूत्र स्राव (Urination), चूषण (Sucking), शयन (Sleeping), मल विसर्जन (Effication) इत्यादि। उस समय सामाजिक प्रतिक्रियाओं का अभाव होता है। सामाजिक प्रतिक्रियाओं को क्रमशः सीखता है। दूध पीने के कारण सर्वप्रथम माँ से सम्बन्धित होता है फिर माँ के अतिरिक्त पिता-भाई-बहनों व घर के अन्य सदस्यों से प्रभावित होता है। जैसे-जैसे आयु विकसित होती है, शारीरिक, मानसिक व गत्यात्मक विकास होता है, वैसे-वैसे अन्य लोगों की क्रियाओं से प्रभावित होकर उनका अनुसरण करके सामाजिक प्रतिक्रियाओं को सीखता है; जैसे—वस्त्र पहनना, भोजन करना, शब्दोच्चारण करना, नमस्ते करना, खेलना, सीखना इत्यादि। नैतिकता एवं सीखने की प्रक्रिया को समाजीकरण कहते हैं। "सामाजिक विरासत को ध्यान में रखकर व्यक्ति के कृत कार्यों द्वारा उत्तरोत्तर विकास और उन सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप व्यवस्थित चरित्र का विकास करना सामाजिक विकास है।"

प्र.4. शैशवावस्था में संवेगात्मक विकास का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

शैशवावस्था में संवेगात्मक विकास
(Emotional Development in Infancy)

संवेग एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें मानसिक एवं शारीरिक दोनों प्रकार की प्रक्रियाएँ सम्मिलित हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि शारीरिक क्रियाओं की चेतन अनुभूति को संवेग कहते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक वुडवर्थ ने लिखा है संवेग प्राणी की उत्तेजित

अथवा तीव्र अवस्था है। संवेग का तात्पर्य एक मनोशारीरिक प्रक्रिया से है जिसमें व्यक्ति किसी मनोवैज्ञानिक या संवेगात्मक परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण कर उत्तेजित हो उठता है और उस उत्तेजित अवस्था का चेतन अनुभव करते ही उसमें आन्तरिक एवं बाह्य शारीरिक परिवर्तन होने लगते हैं और वह संवेगात्मक व्यवहार करने लगता है।

संवेगात्मक विकास का तात्पर्य विकास के उस पक्ष से है जिसमें बालक या व्यक्ति अपने पूर्व अनुभवों या अनुबंधों के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार की उत्तेजित परिस्थितियों का भिन्न-भिन्न प्रकार के संवेगों; जैसे—भय, क्रोध, प्रेम, चिन्ता आदि की संवेगात्मक व्यवहार के रूप में अभिव्यक्ति करने लगता है।

मनोवैज्ञानिक वाट्सन ने नवजात शिशु में तीन मूल संवेगों (भय, क्रोध एवं स्नेह) का वर्णन किया है। डॉ० जोन्स के अनुसार सभी शिशु भय का अनुभव करते हैं किन्तु भय की अनुभूति में वैयक्तिक भिन्नता पायी जाती है। 2 वर्ष का शिशु साँप या कोई अन्य वस्तु को देखकर नहीं डरता है कि तीन वर्ष की आयु तक में वह अँधेरे से तथा पशुओं से डरने लगता है।

मनोवैज्ञानिक **ब्रिजेज** के अनुसार 2 वर्ष की आयु तक शिशुओं के लगभग सभी संवेगों का विकास हो जाता है, जिनका क्रमानुसार विवरण इस प्रकार है—

1. जन्म के समय में उत्तेजना।
2. तीन माह की आयु में उत्तेजना, कष्ट एवं प्रसन्नता।
3. छह माह की आयु में उत्तेजना, कष्ट, प्रसन्नता के अतिरिक्त भय, घृणा और क्रोध।
4. बारह मास की आयु में उपर्युक्त सभी संवेगों के साथ ही स्नेह, बड़ों तथा बच्चों के प्रति ईर्ष्या।
5. अठारह माह की आयु में लगभग सभी उपर्युक्त संवेग।
6. चौबीस मास की आयु में उपर्युक्त सभी संवेगों के साथ उल्लास भी।

प्र.5. प्याजे द्वारा प्रकार्यात्मक सिद्धान्त में आत्मसातीकरण एवं समंजन को समझाइए।

उत्तर पियाजे द्वारा प्रस्तावित दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रकार्यात्मक सिद्धान्त अनुकूलन के नाम से जाना जाता है। इसी सिद्धान्त में ये प्रक्रियाएँ अपनी भूमिका निभाती हैं। ये प्रक्रियाएँ समायोजन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं। ये प्रक्रियाएँ क्रमशः आत्मसातीकरण (Assimilation) एवं समंजन (Accomodation) के नाम से जानी जाती है।

1. **आत्मसातीकरण** (Assimilation)—उसका तात्पर्य अपने वातावरण को इस प्रकार परिमार्जित करने से है कि वह व्यक्ति के पूर्व विपरीत चिन्तन एवं व्यवहार के अनुकूल हो जाए। अतः यह और स्पष्ट रूप से इस प्रकार से समझा जा सकता है कि नवीन अनुभवों को वर्तमान संज्ञानात्मक ढाँचे में सम्मिलित करना ही आत्मसातीकरण है।

   "Assimilation is the process through which individuals take in and incorporate their environment in terms of their current understanding of the world."

   उदाहरणार्थ—जब बच्चा अपनी माँ के सान्निध्य में जन्म के बाद आता है तो वह अपनी माँ को आत्मसात कर लेता है। धीरे-धीरे वह अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है तथा अपने अनुभव के आधार पर उन व्यक्तियों में विभिन्नता होते हुए भी वह उन्हें स्वीकार करता है।

   आत्मसातीकरण में उद्दीपक की विशेषताएँ कुछ हद तक विकृत हो जाती हैं अर्थात् नए अनुभव के कारण पुराने अनुभवों को हमें परिमार्जित करना पड़ता है। इस तरह से नवीन एवं प्राचीन अनुभव एक साथ सन्निहित होकर एक नए संरचना (structure) का निर्माण करते हैं। आत्मसातीकरण में हमारा पूर्व अनुभव अपरिवर्तित होते हैं जिसमें पुराने अनुभवों को आत्मसात किया जा सके। एक दूसरे उदाहरण से यह और स्पष्ट होगा कि छोटा बच्चा किस व्यक्ति के पास आया और किसी अपरिचित महिला को मम्मी कहकर पुकार सकता है। यही पुकारने का कार्य उसके अनुभवों से उत्पन्न व्यक्तियों के आत्मसात करने की प्रक्रिया है।

2. **समंजन** (Accomodation)—**जीन पियाजे** ने इस प्रक्रिया की आत्मसातीकरण को पूरक रूप में माना है। इस प्रक्रिया के कारण बच्चा पर्यावरण परिस्थितियों के साथ समायोजन स्थापित करने का प्रयास करता है। समंजन का तात्पर्य अपने को परिभाषित करने की विशेषताओं के अनुकरण बनाने से है।

   व्यक्ति परिवेश के सम्पर्क में आने पर अपने संज्ञानात्मक ढाँचा को परिभाषित एवं संशोधित करता है। इस प्रक्रिया में वातावरणीय उद्दीपक अपरिवर्तित रहते हैं तथा व्यक्ति को अपने अनुभव में परिवर्तन करना पड़ता है। समंजन में इस प्रकार से नए अनुभवों से पुराने अनुभवों को परिमार्जित करके समायोजित करते हैं। बच्चे दूसरी महिला को देखकर माँ का

सम्बोधन प्रकट करते हैं। उसका प्रमुख कारण यह है कि बच्चा दूसरी महिला के रूप, रंग एवं आकार सम्बन्धी समानता के आधार पर ऐसा सम्बोधन करता है। इन दोनों प्रक्रियाओं में मुख्य अन्तर यह है कि जब नए अनुभव के स्वरूप को बदलकर उसे समझने का प्रयास करना आत्मसाती रूप कहलाता है तथा नए अनुभव के साथ समायोजन करना तथा पुराने अनुभवों में परिवर्तन और परिमार्जन करना समंजन कहलाता है।

उपर्युक्त विवेचना को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि नवीन अनुभवों को संगठित करने एवं समंजन स्थापित करने की अवधि में बौद्धिक ढाँचे में उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों पर संज्ञानात्मक विकास निर्भर करता है।

प्र.6. भाषा विकास का क्या महत्त्व है? समझाइए।

उत्तर

भाषा विकास का महत्त्व
(Importance of Language Development)

भाषा विचारों, भावनाओं को प्रकट करने का माध्यम होता है। इसके द्वारा प्राणी शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और शैक्षणिक सभी क्षेत्रों में सफलता प्राप्त कर लेता है।

1. भाषा के द्वारा सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण होता है। इसके द्वारा व्यक्ति समूह के सदस्यों के बीच भावनाओं के आदान-प्रदान से सामाजिकता का विकास करता है।
2. समाज के रीति-रिवाज, आदर्शों, परम्पराओं तथा नियमों को भाषा के माध्यम से ही सीखते हैं।
3. भाषा के माध्यम से व्यक्ति समाज में एक स्थान रखता है। सामाजिक समायोजन करता है। **एलिस** (Ellis) के अनुसार, "भाषा वह प्राथमिक माध्यम है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने समाज को प्रभावित करता है तथा समाज से प्रभावित होता है।"
4. भाषा के द्वारा सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण होता है। अन्तर्मुखी, बहिर्मुखी व उभयमुखी व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण होता है, साथ ही नेतृत्व क्षमता विकसित होती है।
5. व्यक्ति भाषा के माध्यम से ही स्वमूल्यांकन करता है तथा अपना समायोजन करने में सक्षम होता है।
6. शैक्षणिक उपलब्धि का सशक्त माध्यम भाषा है। बालक कैसे बोलता है? क्या बोलता है? इससे सभी शब्द भण्डार व ज्ञान बुद्धि का स्तर ज्ञात होता है।
7. भाषा मानव विकास की आधारशिला है। जीवन को विकास की ओर अग्रसर करता है।
8. किसी भी देश की भाषा वहाँ के साहित्य सृजन के आधार पर ज्ञात की जा सकती है। वेद, उपनिषद, कथाएँ व साहित्यिक गतिविधियाँ भाषा के माध्यम से ही अभिव्यक्त की गई हैं।
9. भाषा विकास स्नायुतन्त्र की संरचना तथा कार्यों पर निर्भर करता है इसलिए बचपन में सिर पर बच्चों को चोट न लगे, इसका ध्यान रखना चाहिए अन्यथा भाषा विकास अनियन्त्रित हो जाता है।

प्र.7. वाणी व भाषा में अन्तर प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर

वाणी व भाषा में अन्तर
(Difference Between Speech and Language)

वाणी व भाषा दोनों का प्रयोग एक ही अर्थ के लिए किया जाता है किन्तु इन दोनों शब्दों का अर्थ अलग-अलग होता है। वाणी का ध्वनि व शब्दों के माध्यम से अर्थ स्पष्ट किया जाता है। स्पष्ट व नियन्त्रित ध्वनि को वाणी कहा जाता है; जैसे—यदि बच्चा बा-बा ध्वनि का उच्चारण करता है किन्तु बा-बा से अपने सम्बन्ध को नहीं जानता तो यह उच्चारित ध्वनि वाणी नहीं कही जाती। बालक के आस-पास रहने वाले सभी व्यक्ति आसानी से उसकी ध्वनियाँ या उच्चारित शब्द समझ जाते हैं, इसे वाणी विकास कहते हैं।

भाषा वाणी का विस्तृत रूप है। इसके द्वारा भावों तथा विचारों को प्रकट किया जाता है; जैसे—बोलना, पढ़ना, लिखना, हाव-भाव, संकेत, कलात्मक अभिव्यक्तियाँ इत्यादि।

बच्चों के भाषा-विकास की प्रक्रिया लम्बी व जटिल होती है। क्रमशः प्रथम क्रंदन के साथ धीरे-धीरे भाषा का विकास होता है। बाद में यही भाषा किसी भी व्यक्ति, समुदाय, समाज तथा राष्ट्र की सभ्यता व संस्कृति का दर्पण होती है। धीरे-धीरे संस्कृति व सामाजिक विरासत के रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती है। **हरलॉक** के अनुसार, "भाषा में सम्प्रेषण के वे सभी साधन आते हैं जिनमें विचारों और भावों को प्रतीकात्मक बना दिया जाता है जिससे अपने विचारों और भावों को दूसरों से अर्थपूर्ण ढंग से कहा जा सके।"

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. शैशवावस्था में शारीरिक विकास की व्याख्या कीजिए। तथा इसकी विशेषताओं पर भी प्रकाश डालिए।

उत्तर

शैशवावस्था में शारीरिक विकास
(Physical Development During Infancy)

शिशु का शारीरिक विकास तो गर्भकाल से ही प्रारम्भ हो जाता है किन्तु जन्म लेने के पश्चात् उसके शारीरिक विकास की गति तीव्र हो जाती है। जन्म से लेकर 3 वर्ष तक यह गति बहुत तेज होती है और उसका भार तीन गुना तक और आकार दोगुना तक हो जाता है। जन्म के समय शिशु की हड्डियाँ बहुत कोमल होती हैं और जन्म के पश्चात् कैल्शियम, फास्फोरस तथा खनिज पदार्थों की सहायता से शिशु की हड्डियों का सुदृढ़ीकरण अथवा अस्थिकरण (Ossification) होना प्रारम्भ हो जाता है। लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में अस्थिकरण प्रक्रिया जल्दी हो जाती है। 6वें या 7वें महीने में शिशु के अस्थायी दाँत व पाँचवें वर्ष से स्थायी दाँत निकलना प्रारम्भ हो जाते हैं।

जन्म के समय शिशु की मांसपेशियाँ उसके शरीर के भार की 23.4% होती हैं और प्रथम दो वर्ष में ही दोगुनी हो जाती हैं। हाथ और पैर का विकास भी तीव्र गति से होता है। 2 वर्ष की आयु तक उसकी टाँगें डेढ़ गुना हो जाती हैं।

सिर एवं मस्तिष्क का विकास—जन्म के समय शिशु का सिर शरीर की अपेक्षा बड़ा होता है, उस समय शिशु के सिर की लम्बाई शरीर की लम्बाई के 1/4 भाग होती है। प्रथम दो वर्षों में सिर की वृद्धि तेजी से होती है उसके बाद गति धीमी हो जाती है। जन्म के समय शिशु के मस्तिष्क का भार लगभग 300 से 350 ग्राम तक होता है और प्रथम दो वर्षों में उसका वजन दोगुना हो जाता है। 6 वर्ष की आयु में मस्तिष्क का भार 1260 ग्राम हो जाता है। यहाँ यह जान लेना भी आवश्यक है कि एकवयस्क व्यक्ति के मस्तिष्क का भार 1400–1450 ग्राम होता है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य के मस्तिष्क के भार में 6 वर्ष तक की अवस्था में ही 80% वृद्धि हो जाती है।

आन्तरिक अंगों का विकास—जन्म के पश्चात् शरीर के आन्तरिक अंगों; जैसे—स्नायुमण्डल, पाचनतंत्र, श्वसन प्रणाली, परिभ्रमण प्रणाली, प्रजनन तंत्र एवं ग्रन्थियों आदि का विकास क्रमशः होता है किन्तु यौन सम्बन्धी अंगों का विकास सबसे धीमी गति से होता है। जिस प्रकार गर्भस्थ अवस्था में माता के स्वास्थ्य और खान-पान का प्रभाव शिशु के शारीरिक विकास पर पड़ता है उसी प्रकार जन्म के पश्चात् दुग्धपान की अवस्था तक माँ के स्वास्थ्य और भोजन आदि का प्रभाव शिशु पर पड़ता है। इसके पश्चात् उसके शारीरिक विकास पर पर्यावरण का प्रभाव पड़ने लगता है। दूषित और हानिकारक पर्यावरण शिशु के स्वास्थ्य पर हानिकारक प्रभाव डालते हैं। यदि शिशु को पर्याप्त पोषक आहार की प्राप्ति नहीं होती तो उसका शारीरिक विकास सही ढंग से नहीं होता। कहावत है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का निवास होता है अर्थात् स्वस्थ मस्तिष्क के लिए स्वस्थ शरीर होना अनिवार्य है।

शैशवावस्था की विशेषताएँ
(Characteristics of Infancy)

1. **सीखने की प्रक्रिया में तीव्रता**—शैशवावस्था में सीखने की गति बहुत तेज होती है। मनोवैज्ञानिक **गेसल** का कथन है कि शिशु प्रथम 3 वर्षों में बाद के 12 वर्षों से दुगुना सीख लेता है। इनके अतिरिक्त हरलॉक, जरशील्ड आदि मनोवैज्ञानिकों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।
2. **मानसिक क्रियाओं में तीव्रता**—इस काल में शिशु के द्वारा संवेदना, प्रत्यक्षीकरण, स्मृति, कल्पना और ध्यान आदि मानसिक क्रियाओं में तीव्रता होती है।
3. **काल्पनिक जगत में विचरण करना (कल्पनाशीलता)—थार्नडाइक** ने शिशु को "अर्धस्वप्न की अवस्था में रहने वाला बताया है।" **जे०एस० रास** का कथन है कि शिशु कल्पना के द्वारा जीवन की कठोरता को दूर करता है तथा कल्पना सृष्टि का नायक स्वयं बालक होता है।
4. **अपरिपक्वता**—शैशवावस्था में शिशु के शरीर एवं बुद्धि में अपरिपक्वता होती है। शारीरिक बल एवं शक्तियों की कमी के कारण वातावरण के साथ अनुकूलन करने में वह असमर्थ रहता है।
5. **दूसरों पर निर्भरता**—शारीरिक अपरिपक्वता के कारण शिशु दूसरों पर निर्भर रहता है। गर्भकाल में माँ के शरीर द्वारा उसे पोषण मिलता है और जन्म के बाद भी माँ के दूध से ही उसे पोषण मिलता है। अगले कुछ वर्षों तक उसका पालन-पोषण,

देख-रेख, सुरक्षा आदि परिवार के अन्य सदस्यों द्वारा ही होती है। शिशु अपनी सभी आवश्यकताएँ एवं कार्यव्यवहार के लिए दूसरों पर ही निर्भर रहता है।

6. **मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार की अधिकता**—शिशु के व्यवहार की प्रमुख विशेषता है मूल प्रवृत्तियों पर आधारित होना। इसके आधार पर शिशु को क्रोध, रुलाई या हँसी, जल्दी-जल्दी आती रहती है। शिशु के सभी व्यवहार मूल प्रवृत्तियों और संवेगों के द्वारा संचालित होते हैं।
7. **उत्तरोत्तर वृद्धि और विकास**—जन्म के समय मानव शिशु लगभग 15 से 18 इंच लम्बा और भार में 5 से 8 पौण्ड तक होता है। लेकिन पोषण के फलस्वरूप धीरे-धीरे लम्बाई, भार, शारीरिक शक्ति तथा अंगों के संचालन की क्षमता आदि में वृद्धि होती है और यह वृद्धि उत्तरोत्तर होती रहती है। यही नियम उसकी बौद्धिक क्षमता के साथ भी लागू होता है। शिशु जन्म के समय कुछ नहीं जानता है, किन्तु धीरे-धीरे नित्य नए अनुभव करके उसके ज्ञान में वृद्धि होती जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि शिशु का शारीरिक एवं मानसिक विकास उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है।
8. **नैतिक विकास का अभाव**—शैशवावस्था में बालक का नैतिक विकास नहीं हो पाता है, वह यह नहीं जानता है कि क्या उचित है क्या अनुचित। उसे यह भी ज्ञात नहीं होता कि कौन-सी वस्तु उसके लिए हानिकारक है या लाभदायक। छोटे या बड़े का ज्ञान भी शैशवावस्था में नहीं होता।
9. **समान क्रियाओं एवं शब्दों के पुनरावर्तन की प्रवृत्ति**—शैशवावस्था में शिशुओं में दूसरे की क्रियाओं की नकल करने एवं दोहराने की प्रवृत्ति होती है। वह दूसरों के द्वारा सुने हुए शब्दों या छोटे-छोटे वाक्यों को उसी प्रकार बोलने या दोहराने की कोशिश करता है। इसे अनुकरण की प्रवृत्ति भी कहते हैं।
10. **आत्मप्रेम एवं एकान्तप्रेम**—मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इस अवस्था में शिशु अपने आप से प्रेम करता है वह अपने खिलौनों से प्रेम करता है। खिलौनों को अपने पास रखता है तथा दूसरों को देना पसन्द नहीं करता है। शिशु को एकान्त पसन्द आता है और वह अकेले ही खेलता रहता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इसका कारण यह है कि शिशु में स्वार्थ भावना तीव्र होती है।
11. **काम प्रवृत्ति अथवा प्रेम भावना**—मनोवैज्ञानिक फ्रायड एवं अन्य मनोविश्लेषणवादियों ने यह विचार प्रकट किया है कि शैशवावस्था में बालक की काम प्रवृत्ति लिबिडो (Libido) पर आधारित होती है। ये मनोवैज्ञानिक शिशु द्वारा हाथ-पैर का अँगूठा चूसने को उसकी काम प्रवृत्ति अथवा प्रेम भावना का द्योतक मानते हैं। **फ्रायड** ने इस अवस्था को नारसीसिज्म (Narcissism) की संज्ञा दी है और कुछ विद्वानों ने इसे स्वप्रेम (Auto-Erotism) कहा है। किन्तु इस अवस्था में कामशक्ति का विकास नहीं होता है। उन्हें लिंग भेद का भी ज्ञान नहीं रहता है और लड़के तथा लड़कियाँ समान रूप से एक साथ खेलते-कूदते तथा एक-दूसरे से स्नेह करते हैं।
12. **मातृभाषा सीखने का प्रयास**—शैशवावस्था से ही भाषा विकास प्रारम्भ हो जाता है और वह अपने माता-पिता या अन्य भाई-बहनों की आवाज को सुनकर उच्चारण करने का प्रयास करता है।
13. **संवेगों का प्रदर्शन**—शिशु जन्म काल से ही भय, क्रोध, प्रेम और पीड़ा को व्यक्त करने लगता है, इन संवेगों का प्रदर्शन रोने, चिल्लाने तथा हाथ-पैर पटकने आदि क्रियाओं के रूप में होता है।
14. **स्नेह की चाह**—शिशु चाहता है कि उसे सबका स्नेह मिले और उसका सभी ध्यान रखें। यदि उसी के समान कोई अन्य शिशु घर में होता है और माता-पिता उस अन्य शिशु को गोद में ले लेते हैं तो उसमें ईर्ष्या भाव जागृत हो जाता है और वह रोने एवं मचलने लगता है। इसका तात्पर्य यह है कि शिशु चाहता है कि केवल उसे ही सबका स्नेह मिले।
15. **सामाजिक भावना का उदय**—शैशवावस्था के प्रारम्भिक काल में उनकी सामाजिक भाषा विकसित नहीं होती है। किन्तु दो-ढाई वर्ष के बाद वह दूसरे बच्चों (हम वयस्क) के साथ खेलना पसन्द करता है तथा अपने खिलौने वगैरह दूसरों को भी खेलने के लिए देने लगता है। कुछ ही समय बाद अपने समान बच्चों से उसका सम्बन्ध विकसित हो जाता है और वह उन्हीं के साथ खेलना पसन्द करता है। मनोवैज्ञानिक इस प्रवृत्ति को सामाजिक भावना का उदय मानते हैं।

प्र.2. बालकों के शारीरिक विकास को प्रभावित करने वाले तत्त्वों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

बालकों के शारीरिक विकास को प्रभावित करने वाले तत्त्व
(Factors Influencing the Physical Development of the Child)

बालकों के शारीरिक विकास पर वंशानुक्रम व पर्यावरण दोनों का समग्र रूप से प्रभाव पड़ता है। इसी कारण उनके शारीरिक विकास में भिन्नता दिखाई देती है। इसके प्रमुख तत्त्व निम्नलिखित हैं—

1. **वंशानुक्रम** (Heredity)—वंशानुगत कारक वे जन्मजात विशेषताएँ हैं जो बालक के जन्म के समय से पायी जाती हैं और प्राणी के विकास में वंशानुक्रम के द्वारा बालकों के मौलिक स्वभाव व उसके जीवन-चक्र की गति को नियन्त्रित करती हैं। बालकों की शारीरिक विशेषताओं—रूप, रंग, कद, शारीरिक अनुपात सभी का निर्धारण वंशानुक्रम द्वारा होता है।
2. **भौतिक वातावरण** (Physical Environment)—गर्भस्थ शिशु के जन्म के पश्चात् उसका सम्पर्क भौतिक वातावरण से होता है जो शारीरिक विकास को प्रभावित करता है। जलवायु, प्रकाश, हवा, घर की भौतिक दशा आदि ऐसे ही तत्त्व हैं।
3. **माँ का स्वभाव** (Nature of Mother)—माँ के स्वभाव का बालक के शारीरिक विकास पर प्रभाव पड़ता है। यदि माँ हमेशा चिंतित, दु:खी तथा क्रोधित रहती है तो गर्भावस्था में शारीरिक विकास ठीक से नहीं हो पाता है। इस अवस्था से बालक के शारीरिक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है।
4. **लैंगिक विषमता** (Sex Differences)—शारीरिक विकास में लैंगिक विषमता का प्रभाव पड़ता है। किसी अवस्था में बालकों के, कुछ समय में बालिकाओं के शारीरिक विकास क्रम में अस्थिरता बढ़ती है।
5. **बीमारियाँ** (Disease)—शैशवावस्था या बाल्यावस्था में जब बच्चा बीमार रहता है तो उसके शरीर का विकास उचित ढंग से नहीं हो पाता; जैसे—आमाशय सम्बन्धी रोग, खसरा, चेचक, काली खाँसी या शीत ज्वर इत्यादि। इससे उसका कद नहीं बढ़ता, वजन कम हो जाता है। रक्तहीनता, हड्डियों का अविकसित होना, मांसपेशियों का कमजोर होना, हृदय व मस्तिष्क को हानि पहुँचती है।
6. **शारीरिक विकृतियाँ एवं दुर्घटनाएँ** (Bodily Abnormalities and Accidents)—बालक के विकास पर शारीरिक विकृतियों एवं दुर्घटनाओं का प्रभाव बुरा पड़ता है; जैसे—यदि बच्चा मानसिक रूप से विकलांग है तो क्रियात्मक कार्य नहीं कर सकता या किसी दुर्घटना में यदि कहीं की हड्डी टूट जाए तो उसका विकास ठीक से नहीं हो पाता।
7. **आहार** (Nourishment)—बालक के शारीरिक विकास में आहार का प्रभाव बहुत पड़ता है क्योंकि बालक की पाचनशीलता यदि ठीक है तो शरीर का विकास ठीक ढंग से होता है। उनका आहार पौष्टिक तत्त्वों से परिपूर्ण है तो शारीरिक विकास उचित रूप से होता है।
8. **अन्त:स्रावी ग्रन्थियाँ** (Endocrine Glands)—अन्त:स्रावी ग्रन्थियाँ से निकलने वाले हारमोन बालक के शारीरिक विकास को प्रभावित करते हैं; जैसे—हड्डियों के विकास को पैराथाइराइड ग्रन्थियों से निकलने वाला हार्मोन्स प्रभावित करता है। इनकी मात्रा यदि कम या अधिक होती है तो विकास प्रभावित होता है।
9. **बुद्धि** (Intelligence)—बालकों के बुद्धि के स्तर के आधार पर शारीरिक विकास होता है। एक अध्ययन के अनुसार ऐसा निष्कर्ष निकाला गया है कि अधिक बुद्धि वाले बालक चलना, बैठना, उठना, दौड़ना, कूदना इत्यादि क्रियात्मक क्रियाएँ अधिक करते हैं जिससे उनके शरीर का विकास अधिक तेजी से होता है।
10. **माता-पिता का दृष्टिकोण** (Attitudes of Parents)—बालक का शारीरिक विकास सन्तुलित रूप से होने के लिए माता-पिता का दृष्टिकोण प्रभावित करता है। बालक के स्वास्थ्य के प्रति यदि उनका दृष्टिकोण ठीक रहता है, उस पर ध्यान देते हैं तो बच्चे का शारीरिक विकास उचित गति से होता है।
11. **सामाजिक-आर्थिक स्तर** (Socio-economic Status)—निम्न सामाजिक व आर्थिक स्तर के बालकों का शारीरिक व मानसिक विकास उच्च आर्थिक एवं सामाजिक स्तर के परिवारों के बालकों की अपेक्षा हीन होता है। परिवार के सामाजिक-आर्थिक स्तर का सीधा सम्बन्ध खान-पान, रहन-सहन की सुविधा से है। यदि ये सभी सुविधाएँ कम होती हैं तो बालक का शारीरिक विकास प्रभावित होता है।

12. **संवेगात्मक व्यवधान** (Emotional Disturbance)—बालकों में जब लगातार संवेगात्मक व्यवधान रहता है तो पिट्युटरी ग्रन्थि से निकलने वाले हार्मोन को अवरुद्ध कर देता है जिसे बालक के विकास में व्यवधान आ जाता है और उसकी लम्बाई नहीं बढ़ती।

प्र.3. क्रियात्मक विकास से आप क्या समझते हैं? क्रियात्मक विकास को कितने भागों में बाँटा गया है? वर्णन कीजिए।

उत्तर

शैशवावस्था में बालक का क्रियात्मक विकास
(Motor Development of Child in Infancy)

वास्तव में बालक का क्रियात्मक विकास गर्भावस्था से ही प्रारम्भ हो जाता है 2 माह का भ्रूण रेंगता है, 4 माह का गर्भस्थ शिशु हाथ, पैर, सिर हिलाने लगता है, 5वें माह के अन्त तक तो माँ स्वयं उसकी इन क्रियाओं को महसूस करने लगती है।

जब बच्चा पैदा होता है तो कुछ सहज क्रियाएँ करने लगता है जैसे माँ का स्तनपान करना, चूसना, इन सहज क्रियाओं (Reflex action) के अतिरिक्त कुछ अनैच्छिक क्रियाएँ (Involuntary) भी करता है; जैसे—हाथ-पाँव फेंकना, करवट बदलना आदि। नवजात शिशु के शरीर में हल्की-सी उत्तेजना करने पर उसका पूरा शरीर क्रियाशील हो उठता है। थोड़ा-सा शोर होने पर उसका शरीर क्रियाशील हो जाता है। जिस समय बच्चा भूखा रहता है या उसके शरीर में कहीं पीड़ा होती है तब वह अधिक क्रियाशील हो जाता है पर उसकी क्रियाओं में संयोजक की कमी रहती है।

1 माह के बच्चे को यदि पेट के सहारे लिटा दें तो सिर थोड़ा-सा उठता है 2 माह की उम्र में अपने सिर को आधा मिनट तक उठाए रख सकता है। 4 माह का बालक अपने हाथ कोहनी के सहारे अपने सिर के ऊपर उठता है। 5–6 माह का बच्चा सहारे से बैठकर अपनी गर्दन यहाँ-वहाँ घुमा सकता है।

सिर के बाद क्रियात्मक गति नेत्र की होती है। **प्रो० गेसेल** (Gesell) का विचार है कि जन्म के बाद 12 घंटे तक नेत्रों में कोई गति नहीं होती फिर धीरे-धीरे गति का विकास होता है। 2–3 माह में बच्चा दाएँ से बाएँ, बाएँ से दाएँ देख सकता है। चौथे माह में लम्बवत् देख सकता है, आँखे झपकता है। 5वें माह का हाथ से सामान पकड़ने की कोशिश करता है। 4 माह का बच्चा आधी करवट लेता है, 6 माह की उम्र में पूरी करवट ले सकता है। 5वें माह में सहारा देकर बिठाने पर बेठता है पर धड़ आगे को झुका रहता है। 7–8 माह में बिना सहारे बैठने लगता है। 6 माह की उम्र तक आँखों तथा हाथ में समन्वय आ जाता है। वस्तु पकड़ने की क्रिया में बच्चा पहले पूरी बाजू, फिर कोहनी, फिर कलाई और तब उँगलियों की क्रिया करता है। **उदाहरण**—5 माह का बच्चा क्यूब हाथ से पकड़ता है आठ माह का बच्चा अलग-अलग हाथ से उठा लेता है 9 माह में इच्छानुसार चुन कर उठाता है।

क्रियात्मक विकास के प्रकार
(Types of Motor Development)

बालक के क्रियात्मक विकास की विभिन्न क्रियात्मक योजनाओं की विशेषताओं के आधार पर इन्हें दो भागों में बाँटा गया है—

1. **स्थूल क्रियाएँ**—जीवन के प्रारम्भ के 4–5 वर्षों तक स्थूल क्रियाएँ प्रमुख होती हैं ये वे क्रियाएँ हैं जिनमें करीब-करीब शरीर के समस्त अंगों का प्रयोग होता है इसके अन्तर्गत चलना, दौड़ना, कूदना, तैरना, फैंकना, साइकिल चलाना आदि गतिविधियाँ आती हैं।
2. **सूक्ष्म क्रियाएँ**—5 वर्ष की उम्र के बाद इन सूक्ष्म क्रियाओं कौशलों का विकास होता है। इन क्रियाओं में शरीर छोटी, सूक्ष्म मांसपेशियों का संयोजन होता है इसके अन्तर्गत पकड़ना, लिखना, चित्र बनाना, उपकरणों का प्रयोग तथा सोना आते हैं।

शारीरिक कौशलों का विकास—शारीरिक कौशल के विकास को हम इस प्रकार बाँट सकते हैं—

1. हाथ के कौशल
2. पैर के कौशल
3. देखने-सुनने की क्रियाओं के कौशल।

(I) हाथ के कौशल (Hand Skills)

इसके अन्तर्गत स्वयं खाना, कपड़े पहनना, बाल बनाना, कापी करना, गेंद फेंकना, पकड़ना, लिखना आदि आते हैं।

1. **स्वयं खाना**—1 वर्ष का होते-होते बाल स्वयं खाना मुँह में ले जाने लगता है। 9 माह का बालक अपनी दूध की बोतल स्वयं पकड़ लेता है। 1 साल का होते-होते कप पकड़ कर मुँह तक ले जाकर 1–2 घूँट रखा द्रव्य पी लेता है शेष गिर ही जाता है। 1 साल का बच्चा चम्मच का भी प्रयोग करने की कोशिश करता है और सफल होता है। 2 वर्ष की उम्र में 3 साल

का बच्चा छुरी से ब्रेड पर मक्खन लगा सकता है। 4 साल का बच्चा काँटे-छुरी को प्रयोग कर लेता है। 6 साल का बच्चा खाने के साथ-साथ बातें भी करता है 10 साल का बच्चा एक प्रौढ़ के समान खाने के टेबिल मैनर्स सीख कर उन्हीं जैसा व्यवहार करता है। खाने का टेबिल लगाने में भी मदद करता है।

2. **कपड़े पहनना**—(i) यह कला लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में जल्दी विकसित होती है।
   (ii) डेढ़ से 4 वर्ष की उम्र में बच्चों को यह क्रिया बहुत पसन्द होती है।
   (iii) 1 साल की उम्र का बालक सर पर रखी टोपी उतार लेता है।
   (iv) 3 साल का बच्चा इलास्टिक वाली नेकर पहन-उतार सकता है।
   (v) 5 साल का बच्चा बटन खोल लेता है। कपड़े उतार लेता है। 6 साल का बच्चा होते-होते वह मोजे-जूते भी पहन उतार लेता है।
3. **बाल बनाना**—एक-डेढ़ वर्ष की उम्र में बच्चों का मनपसन्द खेल ही शीशे के आगे खड़े होकर बाल बनाना होता है। 3–4 वर्ष की उम्र में बच्चा बालों पर ब्रश कर लेता है इस क्रिया में पूर्ण परिपक्वता 6वें वर्ष की उम्र तक आती है।
4. **गेंद से खेलना**—बालक की हाथ तथा शरीर की गतियों में जितनी जल्दी सामंजस्य होता है उतनी ही शीघ्रता से बच्चा गेंद खेलने की प्रक्रिया में कुशलता प्राप्त करता है। 2 वर्ष की उम्र में बालक गेंद फेंकना सीखता है किन्तु 4 वर्ष की उम्र में कुशलता प्राप्त करता है। 4 वर्ष का बच्चा गेंद लपक कर पकड़ नहीं पाता है गेंद लपकने में भी 6 वर्ष की उम्र में सफल हो पाता है किन्तु गेंद का व्यास 1/2" से अधिक न हो।
5. **लिखना**—दो-ढाई वर्ष की उम्र में बच्चा ज्यामिति आकृतियाँ बनाने लगता है। बनी आकृतियों को देख कर नकल करता है। उम्र बढ़ने के साथ-साथ बनी आकृतियों को देख कर बनाने में दक्ष होता जाता है। 2 साल का बच्चा लिख सकता है। साढ़े तीन साल का बच्चा बड़े अक्षर लिख सकता है। 6 साल की उम्र में बालक वर्णमाला लिख सकता है। पर अक्षर बड़े होते हैं। 7वें वर्ष में लिखावट में अक्षर मध्यम आकार के और 9वें वर्ष में पहुँचने तक अक्षर छोटे व साफ लिखता है।

इन 5 हस्त कौशलों के अतिरिक्त 2 साल का बच्चा ब्लाक्स में खेलने लगता है। 3 साल का बच्चा ब्लाक्स से अलग-अलग आकृतियाँ बना लेता है 6 वर्ष की उम्र तक काफी जटिल आकृतियाँ बना लेता है।

(II) पैरों के कौशल (Legs Skills)

इसके अन्तर्गत निम्नलिखित कौशल आते हैं—

1. **चलना**—1 वर्ष तक बच्चे के पैरों का कौशल का विकास प्रारम्भ हो जाता है। 1 वर्ष का बालक चलने लगता है 2 साल का बच्चा आगे, पीछे दोनों ओर चल लेता है। 6 साल की उम्र तक पैरों का कौशल एक वयस्क के समान हो जाता है।
2. **दौड़ना**—3 वर्ष का बच्चा दौड़ सकता है पर दौड़ने में उसके कदम छोटे-छोटे पड़ते हैं। वह गिर भी जाता है। 5–6 साल का बच्चा अच्छी तरह सन्तुलित होकर दौड़ लेता है। मोटे बच्चों की अपेक्षा पतले बच्चे तेजी से दौड़ते हैं।
3. **कूदना, रस्सी कूदना**—2 साल का बच्चा 2–3 बार कूद लेता है। 4 साल का बच्चा अच्छे से सन्तुलित होकर कूद लेता है। 5 साल का बच्चा कूदते हुए छोटी बाधाएँ भी पार कर लेता है।
   3 साल का बच्चा छलांग (Hopping) भी लगा लेता है। 5 साल का बच्चा छलांग लगाते-लगाते घूम भी जाता है। रस्सी भी कूद सकता है। 8 वर्ष की उम्र तक छलांग लगाना, चौकड़ी भरना क्रियाओं में भी दक्षता प्राप्त कर लेता है।
4. **तीन पहिए की साइकिल चलाना**—2 साल का बच्चा तीन पहिए की साइकिल चलाने लगता है। 3–4 साल का बच्चा तीन पहिए की साइकिल चलाते हुए मोड़ भी लेता है। 5 साल की उम्र तक ठीक से साइकिल चला, मोड़, घुमा लेता है। 6 साल का बच्चा 2 पहिए की साइकिल भी चला लेता है। 5 साल का बच्चा साइकिल पर डबलिंग भी कर लेता है। इस कौशल में कुशलता अभ्यास द्वारा होती है।
5. **सीढ़ी चढ़ना**—1 साल की उम्र में बच्चा छोटी 2–3 सीढ़ी चढ़ सकता है पर सीढ़ी से उतर नहीं सकता है। 3 साल की उम्र में सीढ़ी उतर सकता है पर प्रारम्भ में वे सीढ़ी उल्टी उतरता है। 4 साल का बच्चा सीढ़ी पकड़कर चढ़ना तथा उतरना दोनों क्रिया कर लेता है। 6 वर्ष का बच्चा एक वयस्क की भाँति सीढ़ी चढ़ तथा उतर लेता है। यह कौशल लड़के, लड़कियों की तुलना में जल्दी सीखते हैं। 5 साल का बच्चा पेड़ पर चढ़ने लगता है।

6. **तैरना**—यदि बच्चे को सिखाया जाए तो 4 साल का बच्चा तैर सकता है। 8 साल का बच्चा अभ्यास द्वारा कुशल तैराक बन जाता है। इस कौशल में मांसपेशियों के सम्बन्ध की तथा अभ्यास की आवश्यकता होती है।
7. **नृत्य**—नृत्य सिखाने पर 3 साल का बच्चा नृत्य सीख लेता है। 6 वर्ष की उम्र तक पैरों की क्रियाओं में सन्तुलन आ जाता है। वह सही ढंग से नृत्य करने लगता है।

प्र.4. शैशवावस्था में सामाजिक विकास का वर्णन कीजिए। शैशवावस्था में शिक्षा के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

शैशवावस्था में सामाजिक विकास
(Social Development in Infancy)

सामान्य अर्थों में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए सामाजिक वातावरण से प्रभावित होकर शिशु द्वारा क्रमशः सामाजिक गुणों को अर्जित करने या सीखने की प्रक्रिया को सामाजिक विकास कहा जाता है। कुछ विद्वानों ने इसे समाजीकरण अथवा सामाजिक शिक्षण कहा है।

मनोवैज्ञानिक **हरलॉक** ने लिखा है कि "सामाजिक विकास का तात्पर्य सामाजिक सम्बन्धों में परिपक्वता को प्राप्त करना है।"

जन्म के समय शिशु न तो सामाजिक प्राणी होता है और न ही असामाजिक। सामाजिकता के गुण धीरे-धीरे अर्जित किए जाते हैं अर्थात् सीखने की प्रक्रिया के माध्यम से सामाजिक गुणों का विकास होता है। शैशवावस्था में सामाजिक विकास की विशेषताएँ अवलोकनार्थ प्रस्तुत हैं—

1. **मिल-जुलकर रहने की भावना**—लगभग एक वर्ष की आयु पूर्ण होने तक शिशु अपने माता-पिता तथा घर के अन्य सदस्यों से हिल-मिल जाता है और अकेला रहने पर उसे अच्छा नहीं लगता। दो-ढाई वर्ष का होने पर उसे एक साथी की आवश्यकता महसूस होती है और हमवयस्क साथी मिलने पर वह आनन्दित होता है।
2. **मैं और तुम की भावना**—शैशवावस्था में दो-ढाई साल की उम्र में 'मैं' और 'तुम' की भावना विकसित हो जाती है अर्थात् यह मेरा है और वह तुम्हारा है—यह भावना स्पष्ट होने लगती है।
3. **आदान-प्रदान की भावना**—तीन वर्ष की आयु तक शिशु घर के बाहर जाकर पड़ोस के अन्य शिशुओं के साथ खेलने लगता है। वह अपने खिलौने दूसरों को खेलने के लिए सहर्ष देता है तथा दूसरों के खिलौने लेता भी है। इस प्रकार सहयोग और सहकारिता की भावना इस आयु में दिखाई पड़ती है।
4. **सामूहिक भावना**—शैशवावस्था के अन्तिम चरण में शिशुओं में सामाजिक भावना का विकास तीव्र गति से होता है। समूह में उठना-बैठना, खेलना व अन्य क्रियाओं में शिशु भाग लेते हैं।
   मनोवैज्ञानिक मर्फी ने लिखा है—"वह (शिशु) एक छोटे से बालकों की दुनिया का सदस्य बन जाता है जिसमें सब उसके हम-उम्र होते हैं। यह दुनिया इसी समय से आगे तक उसके सामाजिक भोजन का अधिकांश भाग देती है।"
5. **व्यक्तिगत भिन्नता**—अधिकांश शिशुओं में सामाजिक व्यवहार के विकास में लगभग एक समान प्रतिमान (Patterns) दिखायी पड़ते हैं किन्तु पर्याप्त व्यक्तिगत भिन्नता भी होती है अर्थात् सामाजिक गुणों के विकास की मात्रा या सीमा में भिन्नता दिखायी पड़ती है।
6. **वातावरण का प्रभाव**—शिशुओं के सामाजिक विकास में उनके वातावरण का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। मॉण्टेसरी या किण्डर गार्टन विद्यालयों में जाने वाले शिशुओं का सामाजिक विकास अधिक होता है। इसी प्रकार अच्छे परिवारों के शिशुओं में भी सामाजिक विकास अधिक होता है।
7. **आदतों का निर्माण**—मनोवैज्ञानिकों के अनुसार सामाजिक व्यवहार की दृष्टि से यह व्यवस्था बहुत महत्त्वपूर्ण होती है क्योंकि इसी आयु में सामाजिक व्यवहार के प्रतिमानों का निर्माण होता है।
8. **नैतिक भावना का विकास**—शिशुओं में नैतिक भावना और नैतिक दृष्टिकोण का विकास 5–6 वर्ष में होने लगा है। इसी आयु में उचित और अनुचित या सही और गलत की भावना भी विकसित हो जाती है।

शैशवावस्था में शिक्षा का स्वरूप
(Nature of Education During Infancy)

मनुष्य के भावी जीवन के स्वरूप का निर्धारण मुख्य रूप से शैशवावस्था में ही होता है, क्योंकि मनुष्य का अधिकांश विकास इस अवस्था में हो जाता है और यही निर्माण-काल है। शिक्षाशास्त्रियों के अनुसार औपचारिक शिक्षा 5 वर्ष के पश्चात् दी जानी चाहिए किन्तु वर्तमान समय में नर्सरी विद्यालयों, मॉण्टेसरी एवं किण्डर गार्टन विद्यालयों में तीन वर्ष का होने पर शिशुओं को प्रवेश दिया

जाता है और उन्हें खेल के माध्यम से शिक्षा तथा खानापान एवं रहन-सहन की आदतों को सिखाया जाता है। अधिगम की प्रक्रिया के दृष्टिकोण से यह अवस्था बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। **फ्रायड** का कथन है, "मनुष्य चार-पाँच वर्षों में ही जो कुछ बनना होता है, बन जाता है।" **एडलर** ने भी कहा है, "शैशवावस्था सम्पूर्ण जीवन का क्रम निर्धारित कर देती है।" अर्थात् यह अवस्था निर्माण की दृष्टि से व्यक्ति के जीवन में बहुत अधिक महत्त्व रखती है। इस अवस्था में शिक्षा की व्यवस्था और उसका स्वरूप इस प्रकार होना चाहिए—

1. **शारीरिक विकास का प्रयास**—शिशु का शरीर बहुत नाजुक होता है और उसके शरीर का अधिकांश विकास भी इस अवस्था तक हो जाता है। अस्तु उसकी देख-रेख की बहुत आवश्यकता है। माता-पिता को बालक के स्वास्थ्य और शरीर का विशेष ख्याल रखना चाहिए और उसका पालन-पोषण बहुत सतर्कता से करना चाहिए।
2. **जिज्ञासा की सन्तुष्टि**—इस अवस्था में जिज्ञासा की प्रवृत्ति बहुत तीव्र हो जाती है। जो बालक जितना अधिक जिज्ञासु होगा, उसके अन्दर उतनी ही अधिक ज्ञान-पिपासा होगी और वह उतना ही अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अत: शिशु के सामने नयी-नयी वस्तुएँ प्रस्तुत करते रहना चाहिए और उसके द्वारा पूछे गए प्रश्नों का भरसक उचित उत्तर देना चाहिए, ताकि उसकी जिज्ञासा की शान्ति हो सके।
3. **शिशु की क्षमताओं का ज्ञान**—शिशुओं के अनेक गुण और विशेषताएँ तभी सामने आती हैं, जब उनको प्रकट होने का अवसर दिया जाता है। इसलिए शिशुओं को तरह-तरह के कार्य करने की क्षमताओं को समझना चाहिए, ताकि उनको अभिव्यक्ति का अवसर दिया जा सके।
4. **शारीरिक दोषों का निराकरण**—इस काल में आए हुए शारीरिक दोषों को शीघ्र दूर कर देने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि बड़े होने पर फिर कठिनाई का सामना करना पड़ता है। शरीर पुष्ट होने के साथ-साथ दोष भी पुष्ट हो जाते हैं।
5. **भावात्मक दमन से सुरक्षा**—बालक की मूल-प्रवृत्तियों और उचित इच्छाओं का दमन नहीं करना चाहिए।
6. **उचित वातावरण**—घर में और बाहर शिशुओं के लिए स्वस्थ और शान्त वाावरण का सृजन करना चाहिए, ताकि उनके विकास में कोई बाधा न आ सके।
7. **भाषा विकास का अवसर**—शिशु को भाषा का विकास करने का अच्छा अवसर देना चाहिए, क्योंकि उसकी बाद की शिक्षा भाषा के अधिकार पर ही आधारित होती है। बालक की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से होती है और भाषा का अधिकार वातावरण से अनुकूलन करने में सहायक होता है।
8. **अभिव्यक्ति का अवसर**—शिशु को आत्म-प्रदर्शन (Self-expression) का पूरा अवसर देना चाहिए, ताकि उससे व्यक्ति को समझने में कोई कठिनाई न हो।
9. **प्यार एवं सहानुभूति का व्यवहार**—आरम्भ से ही घर में माता-पिता को और पाठशाला में शिक्षकों को शिशुओं से प्यार और सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिए। उनका स्वभाव बड़ा कोमल होता है, अत; कठोर व्यवहार करने से उनका स्वभाव भी कठोर और उद्दण्ड हो जाता है।
10. **आदर्शों द्वारा चरित्र-निर्माण**—माता-पिता तथा शिक्षकों को चाहिए कि वे अपने व्यवहार को आदर्श बनाने की कोशिश करें ताकि शिशु उनकी नकल करके उसको सीखे। यदि बड़ों का व्यवहार अनुचित हुआ, तो बालक भी अनुकरण द्वारा उसी प्रकार का व्यवहार सीखेंगे।
11. **क्रिया के माध्यम द्वारा शिक्षा**—शिशुओं में क्रियाशीलता बहुत अधिक होती है अस्तु उन्हें कार्यों के माध्यम से ही पढ़ाया जाय तो अच्छा हो। 'Learning by Doing' की विधि बालकों की शिक्षा के लिए बहुत उपयागी सिद्ध होती है।
12. **ज्ञानेन्द्रियों का प्रशिक्षण**—संवेदना और प्रत्यक्षीकरण का उपयुक्त विकास करने के लिए शिशुओं की ज्ञानेन्द्रियों को प्रशिक्षित करना आवश्यक है। उनकी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों दोनों के प्रयोग के लिए उन्हें पूरा अवसर देना चाहिए।
13. **समाजीकरण द्वारा अच्छी आदतों का निर्माण**—शिशुओं के समाजीकरण पर प्रारम्भ में ही शिक्षकों को ध्यान देना चाहिए। उन्हें समाज के अन्य लोगों के साथ व्यवहार के तौर-तरीकों का ज्ञान प्रारम्भ से ही देना चाहिए।
14. **खेल-कूद द्वारा शिक्षा**—खेल का शिशु के जीवन में बड़ा महत्त्व है अस्तु उसकी शिक्षा खेलों पर ही आधारित होनी चाहिए।
15. **स्वतन्त्रतापूर्ण व्यवहार**—शिशु को आरम्भ से ही तरह-तरह के बन्धनों में नहीं जकड़ना चाहिए। उसे वांछित स्वतन्त्रता देना आवश्यक है।

प्र.5. संज्ञानात्मक विकास का अर्थ बताते हुए इसकी अवस्थाओं का भी उल्लेख कीजिए।

उत्तर नवजात शिशु में संज्ञानात्मक क्षमता का अभाव पाया जाता है। परन्तु आयु में वृद्धि होने के साथ-साथ उसकी शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक जगत के साथ परिचय होता है जिसके आधार पर वह अपनी संज्ञानात्मक योग्यता में वृद्धि करता है। बच्चों में समानता व असमानता के आधार पर वस्तुओं को वर्गीकृत करने की क्षमता पर्यावरण से तादात्मीकरण करने के फलस्वरूप होता है। पर्यावरण के साथ समायोजन स्थापित करने में संज्ञान का विशेष महत्त्व होता है। संज्ञान मानसिक क्रियाओं में निहित प्रक्रियाओं **उदाहरणार्थ**—प्रत्यक्षीकरण, स्मरण, समस्या समाधान, चिंतन आदि का एक जटिल स्वरूप है। इसी के आधार पर बच्चा वातावरण से सम्बन्ध स्थापित करता है। सही अर्थों में यदि संज्ञान को बाह्य जगत से ज्ञान प्राप्त करना कहा जाए तो कोई त्रुटि न होगी। सम्प्रति संज्ञान का अध्ययन सूचना संसाधन प्रक्रिया के रूप में किया जा रहा है।

जन्म के समय शिशु में संज्ञान का अभाव रहता है। परन्तु आयु एवं अधिगम में वृद्धि होने के साथ-साथ शिशु में संज्ञानात्मक ढाँचा बनता है जिसके कारण उसका व्यवहार परिमार्जित होता है। बाह्य पर्यावरण उपस्थित विभिन्न उद्दीपकों के स्वरूपों का ज्ञानात्मक बोध कराने वाली सम्पूर्ण मानसिक प्रक्रिया या प्रतिक्रियाओं को संज्ञान कहा जा सकता है।

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार, "संज्ञान के अन्तर्गत उन समस्त प्रक्रियाओं की गणना की जाती है जिनका सम्बन्ध किसी संज्ञानात्मक अनुभव से होता है। संक्षेप में उसके अन्तर्गत चेतना की प्राप्ति से सम्बन्धित समस्त क्रियाएँ निहित होती हैं। अपने अधिक प्रचलन एवं विकसित रूप में, यह किसी विशेष वस्तु को अन्य वस्तुओं से अलग करने के निर्णय के रूप में जाना जाता है।"

संज्ञान का क्षेत्र काफी व्यापक है। इसका सामान्य अर्थ यह है कि व्यक्ति अपने तथा अपने परिवेश के विषय में किस प्रकार का मानसिक चित्र निर्माण करता है। यह मानसिक चित्र बच्चे में जितना गहन, स्पष्ट एवं संगति होगा उसका संज्ञानात्मक व्यवहार पर्यावरण के प्रति उतना ही उपयुक्त होगा। **हिलगार्ड** एवं उनके सहयोगियों (1975) ने लिखा है कि, "किसी व्यक्ति का स्वयं अपने विषय में तथा अपने पर्यावरण के विषय में जो विचार, ज्ञान, व्याख्या, समय या धारणा का भाव अंकित किया है वही संज्ञान है।"

संज्ञानात्मक योग्यता एक अर्जित योग्यता है। बालक के सामाजीकरण के विकास के साथ-साथ संज्ञानात्मक योग्यता का भी विकास होता है। इस संदर्भ में **स्टौट** (Stott 1975) का विचार है, "समाज एवं प्रभाविकता के साथ कार्य करने एवं बाह्य पर्यावरण से सुविधाजनक ढंग से व्यवहार करने की योग्यता ही संज्ञान है।"

अत: स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने विशिष्ट संज्ञानों के आधार पर ही बाह्य जगत की वस्तुओं के प्रति चित्र निर्मित करता है। ये चित्र प्राय: एक-दूसरे से भिन्न होता है। संज्ञानात्मक शैली की विशेषताओं के ही कारण कोई वस्तु या विचार किसी व्यक्ति को दु:खद प्रतीत होता है तो दूसरे को सुखद। अतएव यह कहना उचित होगा कि जाति की वस्तुओं के प्रति व्यक्ति की प्रक्रिया कुछ कारकों पर निर्भर करती है। ये निम्नलिखित चार कारक **क्रच, क्रचफोल्ड** एवं **वैलेची** (1962) द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं—

1. एक प्रणाली के रूप में संज्ञानों का विकास उद्दीपक, संगठन और अधिगम सिद्धान्तों से प्रभावित होती है।
2. संज्ञान चयनात्मक रूप से संगठित ही नहीं होता है बल्कि वह व्यक्तित्व और उद्दीपक कारणों से प्रभावित भी होता है।
3. संज्ञानात्मक परिवर्तन उस समय प्रारम्भ होता है जब व्यक्ति की आवश्यकताओं और सूचनाओं में परिवर्तन होता है।
4. पूर्व उपस्थित संज्ञानात्मक प्रणाली तथा व्यक्तित्वकारण कारक संज्ञानात्मक परिवर्तनों का प्रभावित करती है।

संज्ञानात्मक विकास की अवस्थाएँ
(Stages of Cognitive Development)

पियाजे ने अपने अध्ययनों के आधारों पर यह कहा है कि यह आवश्यक नहीं है कि सभी बच्चों में विकासात्मक अवस्थाएँ एक ही समय पर परिलक्षित हों परन्तु यह सत्य है कि सभी बच्चों को विकास की सभी अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। पियाजे ने संज्ञानात्मक विकास की चार अवस्थाओं को बताया है जो निम्नलिखित हैं—

संवेदी पेशीय अवधि (Sensory Motor Period)—यह अवस्था जन्म से लेकर 2 वर्ष तक की मानी जाती है। इस अवधि में शिशु में जन्मजात संवेदीय पेशीय क्षमताओं का विकास होता है। उसमें अनुकरण करने का व्यवहार आने लगता है। इस अवधि में बड़ों के प्रति उचित व्यवहार प्रदर्शित होने लगता है। प्रत्यक्षीकरण के आधार पर दूरी, ऊँचाई, समय एवं दिन सम्प्रत्यय का भी ज्ञान आरम्भ होने लगता है। **हेसेट** (1984) के अनुसार इस अवस्था में बच्चे तादात्मीकरण का आद्यमान विकसित कर लेता है। शेष जगत से अपना अलग विभेदन कर सकता है तथा कार्य प्रभाव को समझने में सक्षम हो जाता है। जन्मोपरान्त शिशु में मात्र सहज

क्रियाएँ (Reflexes) ही पाई जाती हैं। **उदाहरणार्थ**—आँखों का बन्द कर लेना। मुँह में दूध की बोतल डालने पर चूसने की क्रिया करना आदि। **पियाजे** के शब्दों में यह नैसर्गिक आकृति कल्प (Innate schemate) होता है। वाह्य संसार के विषय में ज्ञानार्जन हेतु बच्चा इन्हीं सहजक्रियाओं से मदद लेता है। तथा ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अनुक्रियाएँ करने में सक्षम होता है। जन्मोपरान्त आयु में वृद्धि होने के साथ-साथ वह अपनी आवश्यकतानुसार व्यवहार को प्रदर्शित करता है। आयु में बढ़ने के साथ-साथ वह सहज क्रियाओं को सही व्यवहार में परिमार्जित करता है। इसके लिए वह कल्पना चिन्तन आदि को विकसित करता है। वस्तुओं पर ध्यान केन्द्रण 5–6 माह में परिलक्षित होने लगता है। परिणामस्वरूप उसे अपने अनुभवों का आत्मसातीकरण एवं समंजन करना पड़ता है। इसी में प्रतीकात्मक चिंतन कल्पना आदि विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। इस प्रकार से बच्चे का नैसर्गिक आकृति कला का रूप ले लेता है। पियाजे ने उस अवस्था में अहम्वाद (Ego-centrism) को भी एक लक्षण के रूप में प्राप्त किया है। बच्चा सर्वप्रथम अपने अहम् पर अधिक केन्द्रण करता है और उस पर ध्यान केन्द्रित नहीं करता है कि अन्य व्यक्ति अमुक घटना की व्याख्या किसी और प्रकार से करेंगे लेकिन जैसे-जैसे बौद्धिक विकास होता है उसके अहम् भाव में कमी आती है। प्राय: यह भी देखा जाता है कि 10–12 माह की आयु में बच्चे में अनुकरण व्यवहार प्रदर्शित होता है। 12–18 माह की उम्र में बच्चे प्रयत्न और मूल विधि के माध्यम से नवीन घटनाओं एवं वस्तुओं को समझने का प्रयास करने लगता है। तत्पश्चात् ही प्रतीकात्मक चिन्तन, कल्पना आदि का विकास सम्भव होता है।

प्र.6. शैशवावस्था में भाषा के विकास एवं प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

शैशवावस्था में भाषा का विकास
(Development of Language in Infancy)

मनोवैज्ञानिकों ने भाषा विकास को चार अवस्थाओं में विभाजित करके स्पष्ट करने का प्रयास किया है—(1) बोलने की तैयारी, (2) आकलन शक्ति का विकास, (3) शब्द प्रयोग एवं वाक्य प्रयोग, (4) शुद्ध उच्चारण करना।

1. **बोलने की तैयारी**—इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम बालक का रुदन (Crying) आता है। यह क्रिया ही शिशु के भाषा सीखने का सबसे पहला कदम है। शिशु को जब भूख लगती है, पीड़ा होती है, तेज रोशनी या तेज आवाज होती है तब शिशु रोकर या चीखकर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है अर्थात् रोने के द्वारा ही उसकी भाषा प्रकट होती है। इस प्रक्रिया को बोलने की तैयारी कहा जा सकता है।
2. **आकलन शक्ति का विकास**—आकलन शक्ति का तात्पर्य उस योग्यता से है जिससे वह दूसरों की क्रियाओं तथा भाव भंगिमाओं को समझ लेता है। गैरीसन, मैकार्थी आदि मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि शब्दों का प्रयोग करने के पूर्व बालक में आकलन शक्ति (Comprehension) का विकास हो चुकता है। एक शिशु में अपनी माँ की बोलचाल द्वारा, क्रियाओं द्वारा तथा भाव भंगिमाओं के आधार पर आकलन शक्ति का विकास होता है।
3. **शब्द प्रयोग**—एक से डेढ़ वर्ष की आयु में बालक 10–12 शब्दों को बोलना सीख लेता है जैसे-जैसे उसकी उम्र बढ़ती है उसके शब्द भण्डार में वृद्धि होती जाती है। बालक पहले से ही शब्दों का उच्चारण नहीं करता किन्तु पहले वह अस्पष्ट ध्वनियों (Babbling) का उच्चारण करता है। इन ध्वनियों के उच्चारण से सम्बन्धित मांसपेशियों को नियन्त्रित करने में अभ्यास का अवसर प्राप्त होता है। धीरे-धीरे एक शिशु दो से ढाई वर्ष की आयु में दो सौ से तीन सौ शब्द बोलने लगता है। तीन वर्ष में लगभग 1000 शब्द बोलने लगता है। दो वर्ष की आयु के बाद वह छोटे-छोटे सरल वाक्यों को सुनकर दोहराने लगता है और पाँचवें वर्ष तक शिशु संयुक्त वाक्यों को बोलने का प्रयास करने लगता है।
4. **शुद्ध उच्चारण**—18 महीने की उम्र के पश्चात् बालक का उच्चारण सुधरने लगता है और तीन वर्ष की आयु तक उसमें पर्याप्त सुधार आने लगता है। किन्तु इस उच्चारण शक्ति में वैयक्तिक भिन्नता पायी जाती है। अधिकांश बालक छोटी आयु में अशुद्ध बोलते हैं किन्तु कुछ बालक इसी आयु में अत्यन्त शुद्ध बोलने लगते हैं।

भाषा विकास की प्रक्रिया
(Process of Language Development)

बोलने की योग्यता के विकास की प्रक्रिया जन्मजात न होकर अर्जित प्रक्रिया है। भाषा का विकास दूसरों की आवाजों को सुनकर ही होता है। जन्म के समय बालक में जो स्वर यन्त्र होते हैं उनका बाद में विकास होता है। बोलने की क्रिया तभी सम्भव होती है जब होंठ, जीभ, दाँत और तालू, कण्ठ, स्वर यन्त्र आदि का समन्वय ठीक से (Co-ordination) होने लगे। इन स्वर अंगों के

अतिरिक्त भाषा विकास की प्रक्रियाओं में अनुकरण, प्रयास एवं भूल सम्बद्धता एवं प्रेरणा का अत्यधिक योग होता है। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

1. **अनुकरण द्वारा सीखना** (Learning by Imitation)—शिशु को माँ की बोली का अनुकरण करने का अवसर प्राप्त होता है और वह माँ के द्वारा कहे हुए शब्दों का उच्चारण करने का प्रयास करता है। प्रारम्भ में शिशु बिना जाने-समझे अनुकरण करता है। किन्तु बाद में अनुकरण करने में उसे आनन्द का अनुभव होने लगता है। शिशु पहले स्वरों का अनुकरण करता है बाद में व्यंजनों का क्योंकि स्वर का उच्चारण करना सरल होता है जबकि व्यंजनों का उच्चारण करना अपेक्षाकृत कठिन होता है।
2. **प्रयास एवं भूल द्वारा सीखना** (Learning by Trial and Error)—कुछ मनोवैज्ञानिकों की यह मान्यता है कि बालक केवल अनुकरण द्वारा ही बोलना नहीं सीखता बल्कि प्रयास एवं भूल द्वारा भी सीखता है। शिशु के मुख से जो ध्वनियाँ निकलती हैं वे निरर्थक-सी मालूम पड़ती हैं किन्तु उनके पीछे भाव निहित होता है। कई बार प्रयास तथा भूल की क्रिया के पश्चात् बालक शब्दों का सही उच्चारण कर पाता है।
3. **सम्बद्धता द्वारा सीखना** (Learning by Conditoning)—मनोवैज्ञानिक पावलव (Pavlov) ने सम्बद्धता द्वारा सीखने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। बालक जो अन्य निरर्थक ध्वनियाँ करता है उनकी किसी वस्तु प्राणी या व्यक्ति से सम्बद्धता स्थापित हो जाती है जिससे वह अनेक शब्दों को सार्थक रूप से बोलना सीख जाता है। भाषा विकास के अतिरिक्त बालक इस प्रक्रिया के द्वारा अपने वातावरण को समझता है एवं अनेक कौशलों कुशलताओं का विकास करता है।
4. **प्रेरणा** (Motivation)—**हरलॉक** (Hurlock) आदि मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि बालकों के बोलने-सीखने की प्रक्रिया पर माता-पता की प्रशंसा का बहुत प्रभाव होता है। अपने समवयस्क बालकों से प्रतियोगिता हो जाने पर भी बालक बहुत जल्दी सीखता है। बालक की वे आवश्यकताएँ जो उसको बोलना सीखने के लिए प्रेरित करती हैं, निम्नलिखित हैं—
   (i) अपनी आवश्यकताओं को माता-पिता के सामने व्यक्त कर सकना।
   (ii) अपने विचारों को दूसरों के सामने प्रकट करने की तीव्र इच्छा।
   (iii) वातावरण सम्बन्धी अनेक बातों के विषय में जाग्रत हुई जिज्ञासा की पूर्ति करने की इच्छा होना।
   (iv) खेलने की इच्छा की तुष्टि करना।
   (v) अन्य बालकों से सम्पर्क स्थापित करना।
   (vi) माता-पिता से प्रशंसा पाने का कार्य करना।
   (vii) आत्म-प्रदर्शन की भावना।

❐

TOUCH 'n' PASS

UNIT-VIII

पूर्व बाल्यावस्था
Early Childhood

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. बाल्यावस्था में खेल का क्या महत्त्व है?

उत्तर खेल का महत्त्व सम्पूर्ण बाल्यकाल में सबसे अधिक होता है। खेलों के द्वारा शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक एवं सामाजिक विकास होता है। बालकों में आत्म-नियन्त्रण, सामूहिक व्यवहार आदि कई सामाजिक गुण विकसित होते हैं। बालकों में सामूहिकता की भावना सबसे अधिक होती है। खेल के माध्यम से उनकी इस भावना की सन्तुष्टि होती है।

प्र.2. शारीरिक वकास को प्रभावित करने वाले कारक बताइए।

उत्तर बालक-बालिकाओं के शारीरिक विकास की सामान्य विशेषताएँ उपरलिखित हैं किन्तु इन विशेषताओं में अन्तर पाया जाता है। एक ही उम्र के अनेक बालक-बालिकाओं का शारीरिक विकास एक समान नहीं होता है क्योंकि अनेक तत्त्व शारीरिक विकास पर प्रभाव डालते हैं। ये तत्त्व निम्नलिखित हैं—

(1) वंशानुक्रम, (2) पर्यावरण, (3) स्वास्थ्य प्रदायक पौष्टिक भोजन, (4) नियमित दिनचर्या, (5) परिवार की आर्थिक स्थिति, (6) स्नेहपूर्ण व्यवहार, (7) शारीरिक दोष, (8) संवेदनशीलता, (9) निद्रा एवं विश्राम, (10) बीमारियाँ, (11) व्यायाम तथा खेलकूद, (12) दुर्घटनाएँ।

प्र.3. प्रारम्भिक बाल्यावस्था में होने वाली अनुभवों में वृद्धि को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर इस अवस्था में बालक को परिवार के बाहर स्कूल, पड़ोस तथा संगी-साथियों से नित नए अनुभव प्राप्त होते हैं, जिनसे न केवल उसके ज्ञान में वृद्धि होती है बल्कि वह जीवन की वास्तविकता से भी परिचित होने लगता है।

प्र.4. प्रारम्भिक बाल्यावस्था में ध्यान रखने योग्य एक मुख्य बात बताइए।

उत्तर प्रारम्भिक बाल्यावस्था में बच्चों के माता-पिता तथा शिक्षकों का दायित्व है कि यदि बच्चे में स्वास्थ्य सम्बन्धी कोई दोष या समस्या हो तो उसके निराकरण के लिए यथा शीघ्र प्रयास करने चाहिए।

प्र.5. बाल्यावस्था को गन्दी आयु क्यों कहा गया है?

उत्तर बाल्यावस्था में बालक अधिकांश समय अपनी टोली में व्यतीत करते हैं। वे खेल-कूद एवं अन्य कार्यों में व्यस्त रहते हैं। इसलिए वे धूल और गन्दगी से ग्रसित होते हैं और अपनी शारीरिक एवं वस्त्रों की स्वच्छता पर ध्यान नहीं देते इसलिए इस आयु को गन्दी आयु कहा गया है।

प्र.6. बाल्यावस्था में भाषा विकास की विशेषताओं को लिखिए।

उत्तर बाल्यावस्था में भाषा विकास की निम्न विशेषताएँ हैं—

1. छह से सात वर्ष की आयु में बालक शिष्टाचार सम्बन्धी शब्दों से परिचित हो जाते हैं जैसे नमस्कार, प्रणाम, हाय-हैलो आदि। खानपान सम्बन्धी सभी शब्दों तथा रुपये, पैसे सम्बन्धी शब्दों की पहचान हो जाती है।
2. सात से आठ वर्ष की आयु में बालक समय सूचक शब्द जैसे प्रात:काल, दोपहर, सायं, रात्रि, आज और कल आदि को समझकर उनका प्रयोग करने लगता है।

TOUCH 'n PASS

3. आठ से नौ वर्ष की आयु में बालक बच्चों की पत्रिकाएँ, कहानियाँ एवं चुटकुले आदि पढ़ने लगते हैं उन्हें याद कर लेते हैं तथा नए-नए शब्दों का प्रयोग करने लगते हैं। इस समय वे अर्थपूर्ण वाक्यों का प्रयोग कर लेते हैं। उन्हें दिन, तारीख, माह और वर्ष सम्बन्धी शब्दों का भी ज्ञान हो जाता है।
4. 10 से 11 वर्ष की आयु में बालक शुद्ध उच्चारण करने लगते हैं और अपने विचारों को शुद्ध तथा उपयुक्त शब्दों में व्यक्त करने लगते हैं। किन्तु जिन बालकों में हकलाने आदि की समस्या होती है या जो बालक शर्मीले स्वभाव के होते हैं उनका भाषा विकास अपेक्षाकृत कम होता है।
5. 11 से 12 वर्ष की आयु में बालक व्यंगात्मक शब्द, संकेत शब्द तथा गुप्त भाषा के शब्द भी सीख लेते हैं वे अपनी प्रशंसा करने, दूसरों की निन्दा करने तथा डींगे मारने (शेखी बघारना) आदि क्रियाओं का अपनी भाषा में पर्याप्त प्रयोग करते हैं।

प्र.7. प्रारम्भिक बाल्यावस्था की मुख्य समस्याएँ कौन-कौन सी हैं?

उत्तर प्रारम्भिक बाल्यावस्था की मुख्य समस्याएँ हैं—अनावश्यक गुस्सा करना, बिना कारण ही भयभीत हो जाना, बिस्तर गीला करना तथा दाँतों से नाखून काटना।

प्र.8. बालकों में अनावश्यक गुस्सा करने की आदत कैसे प्रबल हो जाती है?

उत्तर यदि बच्चे की अधिकांश इच्छाओं की पूर्ति न करके उनकी निरन्तर अवहेलना की जाती है तो बच्चे में गुस्से की आदत प्रबल हो जाती है।

प्र.9. अनावश्यक रूप से भयभीत रहने वाले बच्चे पर इस आदत का क्या प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है?

उत्तर अनावश्यक रूप से भयभीत रहने वाले बच्चे दब्बू बन जाते हैं तथा उनमें समुचित आत्मविश्वास का भी विकास नहीं हो पाता।

प्र.10. जिज्ञासा प्रवृत्ति की तीव्रता से आप क्या समझते हैं?

उत्तर जिज्ञासा प्रवृत्ति की तीव्रता से तात्पर्य है कि बालक का नए तथ्यों के बारे में जानने का प्रयास करना, इस प्रक्रिया में बालक क्यों, कब, कहाँ और कैसे आदि प्रश्नों के माध्यम से शीघ्र ही सब कुछ जान लेना चाहता है।

प्र.11. स्पष्ट कीजिए कि बच्चे झूठ क्यों बोलते हैं?

उत्तर बच्चों से जब कोई गलती हो जाती है तो वे समझते हैं कि गलती के कारण उन पर मार पड़ेगी। उदाहरण के लिए यदि बच्चे से गिलास टूट जाता है तो वह नहीं बताना चाहता कि गलती उससे हो गई है। ऐसी अवस्था में बच्चे को समझाना चाहिए कि गिलास टूट जाने दो, घबराने की कोई बात नहीं है लेकिन झूठ न बोलो। जब बच्चे के मस्तिष्क से भय निकल जाएगा तो वह झूठ नहीं बोलेगा।

कुछ बच्चे माता-पिता से झूठ बोलना सीख जाते हैं वे झूठ बोलने में कोई बुराई नहीं समझते। झूठ बोलना साधारण बात समझते हैं। बच्चों को झूठ बोलने से बचाने के लिए उनके हृदय से भय निकाल देना चाहिए। यदि बच्चे से गलती हो जाए तो उसे समझाना चाहिए तथा उसे माफ कर देना चाहिए। बच्चों को झूठ बोलने से रोकने के लिए ऐसी कहानी सुनानी चाहिए जिससे वे यह अनुभव करने लगें कि झूठ बोलने का परिणाम अच्छा नहीं होता। आजकल दूरदर्शन पर भी बच्चों के कुछ शिक्षाप्रद कार्यक्रम प्रसारित होते हैं जो सच बोलने तथा अन्य सद्गुणों को अपनाने की व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करते हैं।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. बाल्यावस्था की अवधि से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

बाल्यावस्था की अवधि
(Period of Childhood)

विभिन्न पश्चिमी विद्वानों ने आयु को आधार मानते हुए विकास की अवस्थाओं को भिन्न-भिन्न प्रकार से विभाजित किया है। जैसा कि पृष्ठ 38 पर प्रदर्शित है।

इस प्रकार जे०एस० रॉस को छोड़कर सभी मनोवैज्ञानिकों ने 5 से 12 वर्ष की अवस्था को बाल्यावस्था बतलाया है। रास महोदय ने शैशवावस्था के उत्तरभाग अर्थात् 3 से 6 वर्ष की उम्र को पूर्व-बाल्यावस्था बतलाया है। इसी प्रकार काल्सेनिक महोदय ने भी

ढाई वर्ष से 5 वर्ष की आयु को पूर्व-बाल्यावस्था कहा है। इस सम्बन्ध में **हरलॉक** महोदय का कथन है, "उत्तर-बाल्यावस्था 6 वर्ष की आयु से लेकर यौनिक परिपक्वता तक 11 और 12 के बीच तक होती है।"

बाल्यावस्था में बालक-बालिकाओं में अनेक परिवर्तन होते हैं। शिक्षा आरम्भ करने के लिए यह सबसे उपयुक्त आयु मानी जाती है, इसलिए शिक्षाशास्त्रियों ने 5 वर्ष की आयु पूर्ण होने पर ही औपचारिक विद्यालयों में बच्चों के प्रवेश की अनुशंसा की है। इस अवधि को बालक-बालिकाओं में सामूहिक भावना बहुत अधिक पायी जाती है। बच्चे अपना-अपना अलग समूह बना लेते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने बाल्यावस्था को 'समूह की आयु' (Gang age) कहा है। इस अवस्था में बालक-बालिकाओं में स्फूर्ति बहुत अधिक रहती है, इसलिए इसे Smart age भी कहा गया है। बाल्यावस्था में बच्चे अपने समूह के साथ लगभग पूरे दिन खेल-कूद तथा भाग-दौड़ में लगे रहते हैं। इस कारण वे शारीरिक स्वच्छता पर ध्यान नहीं दे पाते हैं और इसके प्रति लापरवाह दिखाई पड़ते हैं इसीलिए इस आयु को गन्दी आयु (Dirty age) भी कहा गया है। तात्पर्य यह है कि बाल्यावस्था को 'समूह की आयु', 'चुस्ती की आयु' एवं 'गन्दी आयु' आदि शब्दों से व्यक्त किया गया है।

प्र.2. बाल्यावस्था की शारीरिक विकास की व्याख्या कीजिए।

उत्तर

बाल्यावस्था में शारीरिक विकास
(Physical Development During Childhood)

बाल्यावस्था के प्रारम्भिक तीन वर्षों अर्थात् 6 से 9 वर्ष में विकास काफी तेजी से होता है और बाद के तीन वर्षों में यही शारीरिक विकास दृढ़ता को प्राप्त करता है इसीलिए इस अवधि को परिपाक काल (Consolidation period) कहते हैं।

1. **भार एवं आकार में वृद्धि**—12 वर्ष के अन्त तक स्वस्थ बालक का भार 80 से 95 पौण्ड के बीच होना जरूरी है। इसी उम्र की बालिकाओं का भार बालकों से कुछ अधिक होता है क्योंकि उनकी किशोरावस्था जल्दी प्रारम्भ होती है। इस आयु में लम्बाई में वृद्धि धीमी होती है किन्तु एक समान गति में होती है। लगभग 2-3 इंच लम्बाई प्रतिवर्ष बढ़ जाती है। लम्बाई पर वंश-परम्परा का प्रभाव पड़ता है। बालकों की तुलना में उसी उम्र की बालिकाओं की लम्बाई एक इंच अधिक होती है।
2. **हड्डियाँ एवं दाँत**—इस आयु में प्रथम चार-पाँच वर्षों में हड्डियों की वृद्धि होती है और लगभग 6 वर्ष की आयु से हड्डियों में ठोसपन आने लगता है। 10 से 12 वर्ष की आयु में हड्डियों का सुदृढ़ीकरण (अस्थिकरण—Ossification) होता है। बालिकाओं का अस्थिकरण बालकों की तुलना में एक वर्ष पहले प्रारम्भ हो जाता है। अस्थिकरण के परिणामस्वरूप बालक मांसपेशियों पर पूर्ण नियन्त्रण करने लगता है। 6 वर्ष की आयु में दूध के दाँत गिरने लगते हैं तथा स्थायी दाँत निकलना प्रारम्भ हो जाता है। 12 या 13 वर्ष तक लगभग सभी स्थायी दाँत निकल आते हैं जिनकी संख्या 27 या 28 होती हैं। दाँतों के निकल आने से मुँह के आकार में भी परिवर्तन दिखाई देता है और शैशव काल का भोलापन समाप्त हो जाता है।
3. **सिर व मस्तिष्क में वृद्धि**—इस अवस्था में सिर के आकार में क्रमशः परिवर्तन होता है किन्तु अन्य अंगों के अनुपात में यह बड़ा होता है, धीरे-धीरे यह अनुपातहीनता दूर हो जाती है। बाल्यावस्था में मस्तिष्क की तौल व आकार की दृष्टि से लगभग पूर्ण विकास हो जाता है और उनका भार कुल शरीर के भार का 90% होता है।
4. **दाँत**—6 वर्ष की आयु में दूध के दाँत गिरने लगते हैं। 12 या 13 वर्ष तक सब स्थायी दाँत निकल आते हैं और दाँतों की संख्या 27, 28 होती है। दाँतों के निकल आने से मुखाकृति में भी परिवर्तन दिखाई देता है। शैशवकाल का भोलापन दूर हो जाता है।
5. **सामान्य स्वस्थ्य**—इस अवस्था में बालक खेल-कूद तथा अन्य क्रियाओं में अधिक लगा रहता है इसलिए सामान्य रूप से स्वास्थ्य अच्छा रहता है।
6. **शारीरिक गति पर नियन्त्रण**—इस अवस्था में बालक बहुत सक्रिय रहता है। उसके लगभग सब अंगों का विकास हो जाता है। फलस्वरूप वह शारीरिक अवयवों, शारीरिक शक्तियों एवं गति पर नियन्त्रण करना जान जाता है। अपनी इच्छानुसार सभी कार्य स्वयं करने लगता है।

प्र.3. भावनाओं पर नियन्त्रण रखने की प्रमुख विधियाँ कौन-कौन सी हैं?

उत्तर

संवेगों पर नियन्त्रण
(Control on Emotions)

1. **शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए संवेगों पर नियन्त्रण की आवश्यकता है**—संवेगात्मक व्यवहार का बालक के शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य पर बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि संवेगों को नियन्त्रित न किया जाए तो हानिकारक सिद्ध होते हैं। संवेगों की अनुभूति के समय बालक में अनेक आन्तरिक एवं बाह्य शारीरिक परिवर्तन होते हैं जिससे कभी-कभी संवेगात्मक अस्थिरता के कारण बालक मानसिक रोग से ग्रसित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में संवेगों पर समुचित नियन्त्रण करने की आवश्यकता होती है।
2. **संवेगों पर नियन्त्रण की विधियाँ**—संवेगों पर नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। कुछ मनोवैज्ञानिक विधियाँ निम्नलिखित हैं—
   (i) **दमन** (Repression)—यदि बालक संवेगात्मक व्यवहार करना प्रारम्भ कर दें तो दमन करना जरूरी है। जैसे—किशोरावस्था में कामुकता के संवेग की जागृति होती है तो उसे दबा देना चाहिए अन्यथा हानिकारक भावना का निर्माण हो जाता है।
   (ii) **व्यक्त करना** (Expression)— बालकों को संवेगों को व्यक्त करने का अवसर देना चाहिए जिससे अनेक संवेगों को समझकर उचित प्रशिक्षण दिया जा सके।
   (iii) **मार्गान्तीकरण** (Redirection)—संवेगों को प्रशिक्षित करने के लिए उन्हें उचित दिशा देनी चाहिए, जैसे—बालक को भय हो तो उसकी दिशा मोड़ देने से संवेग परिवर्तित हो जाता है।
   (iv) **शोधन** (Sublimation)—संवेगों के प्रशिक्षण की सबसे उपयुक्त विधि है शोधन। जैसे—कोई संवेग उत्पन्न होने पर यदि उचित नहीं है तो ध्यान दूसरी ओर मोड़ दिया जाता है। जैसे कालिदास का कामुकता के प्रति संवेग प्रेम साहित्य के प्रति परिवर्तित हो गया।
   (v) **रेचन** (Catharsis)—समय-समय पर बालकों को संवेगात्मक व्यवहार करने के लिए अवसर देना चाहिए जिससे बुरे संवेग बाहर हो जाते हैं।

प्र.4. बाल्यावस्था में भाषा के विकास की विवेचना कीजिए।

उत्तर

बाल्यावस्था में भाषा विकास
(Language Development in Childhood)

इस अवस्था में बालक की मानसिक शक्तियों का विकास पूर्णता को प्राप्त होता है। विद्यालय का वातावरण, सामूहिक क्रियाकलाप, संगी-साथियों का प्रभाव, पुस्तकें एवं पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन, रेडियो एवं दूरदर्शन के कारण बालकों के शब्द-भण्डार में बहुत वृद्धि हो जाती है। इन सब कार्यों तथा अध्ययन के लिए बालकों में भाषा योग्यता अति आवश्यक होती है, इसलिए बालक स्वयं रुचि लेकर भाषा सीखने का प्रयास करता है। इस आयु में एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि बालिकाओं का भाषा विकास बालकों की तुलना में अधिक होता है।

बालक-बालिकाओं के भाषा विकास में अन्तर होने के कारणों पर मनोवैज्ञानिकों ने निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त किए हैं—

1. बालकों की अपेक्षा बालिकाओं में भाषा का विकास अधिक तीव्रता से होता है।
2. बालिकाओं द्वारा प्रयुक्त वाक्यों में बालकों की तुलना में अधिक शब्द होते हैं।
3. बालिकाओं में भाषा के माध्यम से भाव-अभिव्यक्ति की क्षमता बालकों से अधिक होती है।
4. बालिकाएँ बालकों की तुलना में वार्तालाप करने में अधिक रुचि लेती हैं।

TOUCH 'n' PASS

5. बालकों के शब्द-ज्ञान में वृद्धि के सम्बन्ध में प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक **सी० सोर** ने चार से दस वर्ष की आयु के बालकों का अध्ययन करके निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त किए हैं—

आयु (वर्ष में)	शब्द ज्ञान
4	5600
5	9600
6	14700
7	21200
8	26300
10	34300

डॉ० मैकार्थी ने अपने अध्ययन के द्वारा बताया है कि छठी श्रेणी के छात्रों का शब्द भण्डार पचास हजार शब्दों का होता है।

प्र.5. भाषा की सामग्री से क्या तात्पर्य है? इसकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

भाषा की सामग्री
(Contents of Speech)

बालक जब स्पष्ट उच्चारण करना सीख जाते हैं, तब उनकी भाषा में कुछ विशेषताएँ दिखाई देती हैं। इसे भाषा की सामग्री कहते हैं।

1. **अहं की भावना** (Ego Centricity)—बच्चों की बातचीत का अधिकांश भाग स्वयं उनसे सम्बन्धित होता है क्योंकि यह अवस्था स्वप्रेम की अवस्था होती है। उनकी भाषा में मेरा, मुझको, मुझे, मैं की बहुलता होती है। थोड़े और बड़े हाने पर भाषा में अहं भाव अधिक होता है। साथ ही आज्ञासूचक व प्रश्नसूचक शब्दों का प्रयोग अधिक होता है।
2. **प्रश्नों की अधिकता** (Excess of Questions)—बालकों की बातचीत में प्रश्नों की अधिकता होती है क्योंकि नए वातावरण में समायोजन को लेकर जिज्ञासाएँ होती हैं जिसकी पूर्ति के लिए तमाम प्रश्न पूछते हैं, साथ ही माता-पिता व अन्य लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए भी बहुत प्रश्न पूछते हैं।
3. **भावात्मक सामग्री** (Emotional Contents)—बालकों की भाषा भावात्मकता से परिपूर्ण होती है। वह अपनी बातों को भावात्मक ढंग से प्रस्तुत करते हैं जिससे इनका संवेग प्रदर्शित होता है। उनकी भाषा में प्रसन्नता, क्रोध, भय, प्रेम, घृणा, आशा, निराशा सभी संवेग सम्मिलित रहते हैं।
4. **शब्दों की पुनरावृत्ति** (Repeatition of Words)—बच्चों की भाषा में शब्दों की भरमार होती है। एक ही शब्द कई बार बोलते हैं। यदि बच्चा चार शब्द बोलता है तो निश्चित रूप से एक शब्द की पुनरावृत्ति होती है। बातचीत में कुशल न होने के कारण वह शब्दों को वाक्य में जोड़ता जाता है। किसी विचार को आदेश के साथ व्यक्त करता है। आगे क्या बोलना है, यह समझ नहीं पाता तो पुन: शब्दों को दोहरा देता है।

प्र.6. बालकों में भाषा सम्बन्धी दोष के प्रकार बताइए।

उत्तर

भाषा दोष के प्रकार
(Types of Speech Defects)

भाषा दोष कई प्रकार के होते हैं—

1. **गलत उच्चारण** (Mispronounce)—गलत उच्चारण भाषा दोष का सामान्य दोष है। यह बालकों में कई रूपों में दिखाई देता है। अक्षरों की ध्वनियों को बदलकर जब बच्चा बोलता है, जैसे—र को ल। स श ष में कोई फर्क नहीं समझता। ड़ को र बोलता है। कभी-कभी स को फ बोलता है।

   कारण—(i) जबड़ों व दाँतों की रचना ठीक प्रकार न होना।

   (ii) भाषा का गलत उच्चारण यदि माता-पिता करते हैं।

   (iii) कभी-कभी बच्चों के आगे के दाँत टूट जाने पर बीच में रिक्त स्थान हो जाता है।

   (iv) शैशवावस्था की भाषा को बच्चे दोहराते हैं क्योंकि घर वाले उसे दोहराने के लिए प्रोत्साहित करते हैं।

2. **अस्पष्ट उच्चारण** (Slurring)—लगभग 4 वर्ष की आयु के बालक अस्पष्ट उच्चारण करते हैं जिससे उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दों का उच्चारण समझ में नहीं आता। यह दोष स्वत: दूर हो जाता है परन्तु यदि यह स्थायी रूप ले लेता है तो बड़े होने पर यह दोष दिखता है। कभी-कभी बालक एक अक्षर छोड़कर बोलता है।
   कारण—(i) होंठ, जीभ व जबड़े की मांसपेशियों की क्रियाशीलता में कमी।
   (ii) अधिक उत्तेजना के कारण जल्दी-जल्दी बोलना।
   (iii) स्वर यन्त्र का अविकसित होना या गतिविहीन होना।
   (iv) अत्यधिक भय व तनाव के कारण।
3. **तुतलाना** (Stuttering)—बालक बोलते-बोलते किसी शब्द के उच्चारण के पूर्व रुकावट महसूस करता है या प्रथम अक्षर या अक्षर समूह को कई बार दोहराता है। जीवन की प्रारम्भिक अवस्था से ही भाषा दोष शुरू हो जाते हैं।
   कारण—(i) तुतलाने की कोई निश्चित अवस्था या कारण नहीं होते हैं।
   (ii) अजनबी व्यक्ति या समूह के साथ समायोजन स्थापित न कर पाने के कारण बच्चा तुतलाता है।
4. **हकलाना** (Stammering)—हकलाने व तुतलाने में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। तुतलाने में किसी शब्द को बार-बार दोहराया जाता है व हकलाने में एक शब्द उच्चारित करने पर व्यक्ति आगे की बात थोड़ी देर में कह पाता है, जैसे—मैं जा रहा हूँ यदि कहना है तो मैं मैं जा कहकर आगे के शब्द बोलने की कोशिश करता है किन्तु जल्दी नहीं बोल पाता है। कुछ देर बाद वह तनावमुक्त होता है तो शेष शब्दों का उच्चारण करता है।
   कारण—(i) हकलाने का कारण भय व घबराहट है।
   (ii) स्वर यन्त्र, गला, जीभ, फेफड़ा, होंठ सभी का सन्तुलन ठीक न होने पर।
   (iii) हकलाने का कारण मस्तिष्क में श्रवण व वाक् केन्द्रों का विकृत होना।
   (iv) शारीरिक स्थितियों के कारण जैसे मुँह टेढ़ा हो जाना।
   (v) हकलाने का वंशानुक्रमिक दोष भी माना जाता है।

प्र.7. बच्चों के भाषा दोष दूर करने के उपाय बताइए।

उत्तर भाषा दोष के कारण बालकों में हीन भावना उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण स्वस्थ व्यक्तित्व के विकास में बाधाएँ उत्पन्न होती हैं। इसलिए भाषा दोष के विकसित न होने का उपाय करना चाहिए। अन्यथा भाषा दोष जीवन-भर बना रहता है।

1. जिन बालकों में भाषा दोष हो, उनका उपहास नहीं करना चाहिए।
2. बालकों को प्रारम्भ से ही उच्चारण का प्रशिक्षित देना चाहिए।
3. बच्चों की तोतली भाषा सभी को अच्छी लगती है परन्तु उसे सुधारने का प्रयास करना चाहिए।
4. बालकों में अनुकरण की आदत होती है। वे वही शब्द बोलते हैं जिन्हें अपने माता-पिता या आस-पास के व्यक्तियों से सुनते हैं। इसलिए वयस्कों को बच्चों के सामने गलत उच्चारण नहीं करना चाहिए। शुद्ध व स्पष्ट उच्चारण करने से बच्चे में भी आदत पड़ जाती है।
5. बालकों को अपनी उम्र के अन्य बच्चों के साथ उठने-बैठने या खेलने का पर्याप्त अवसर देना चाहिए जिससे भाषा दोष को समझ सकें व अपनी गलती सुधार सकें।
6. बच्चे को यदि अत्यधिक अनुशासन में रखा जाता है। तो बच्चा संवेगात्मक तनाव के कारण भय व घबराहट में स्पष्ट नहीं बोल पाता। इस प्रकार के संवेगात्मक तनाव को दूर करने का प्रयास करना चाहिए।

प्र.8. भाषा विकास को प्रभावित करने वाले तत्त्वों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

भाषा विकास को प्रभावित करने वाले तत्त्व
(Factors of Effecting Language Development)

सभी बच्चों के भाषा विकास की गति एक जैसी नहीं होती है। किसी बच्चे को बोलना जल्दी आता है तो किसी बच्चे को देर से समझ में आता है। यह अन्तर विभिन्न कारणों के कारण उत्पन्न होता है—

1. **शारीरिक स्वास्थ्य**—यदि बच्चा स्वस्थ रहता है तो उसके भाषा विकास का क्रम ठीक रहता है। शारीरिक परेशानी यदि बच्चे में होती है तो भाषा विकास देर से होता है। बच्चा शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाता है।

2. **आर्थिक सामाजिक स्तर**—वे बच्चे जिन्हें उच्च आर्थिक सामाजिक स्तर का वातावरण प्राप्त होता है उनका भाषा विकास निम्न आर्थिक सामाजिक स्तर वातावरण वाले बच्चे की अपेक्षा अधिक अच्छा होता है। उच्च स्तर के बच्चों को सभ्य-शिष्ट वातावरण मिलने से उनके शब्द भण्डार में शिष्टाचार के शब्द अधिक होते हैं। भाषा ज्ञान शीघ्र विकसित होता है।
3. **यौन**—लड़कियाँ प्रत्येक उम्र में लड़कों से जल्दी बोलना सीखती हैं। लड़कियों का शब्द भण्डार, शब्दों का प्रयोग, वाक्यों की लम्बाई लड़कों की अपेक्षा अधिक होती है।
4. **निर्देशन**—जिन बच्चों को शब्दों के प्रयोग उच्चारण के लिए जितने सही निर्देश प्राप्त होंगे। उनका उच्चारण उतना ही शुद्ध होगा। सही शब्द का सही स्थान पर प्रयोग होगा। यदि बच्चे को नए शब्द उनके चित्र या मॉडल दिखाकर सिखाए जाएँ तो बच्चे सही शब्द तथा उनका सही प्रयोग जल्दी सीखेंगे।
5. **वातावरण**—वे बच्चे जो संयुक्त परिवार में रहते हैं वे परिवार के अन्य सदस्यों को बोलते सुनकर उसकी नकल से शीघ्र बोलना सीख जाते हैं। एकाकी परिवार में यह समस्या आती है। अत: माता-पिता को बच्चे से बातें करनी चाहिए। उसे पड़ोस के बच्चों के साथ खेलने दें ताकि उसका सही विकास हो सके।
6. **परिपक्वता**—बोलने का सम्बन्ध शरीर के विभिन्न अंगों से है, जैसे—होंठ, दाँत-जीभ, फेफड़े, स्वर यन्त्र आदि। बोलने के यह सहायक अंग जितने अधिक परिपक्व होंगे बालक का भाषा-विकास उतनी ही गति से होगा।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. बाल्यावस्था से आप क्या समझते हैं? इसकी प्रमुख विशेषताओं का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

बाल्यावस्था का अर्थ
(Meaning of Childhood)

शैशव अवस्था के बाद 6 से 12 वर्ष तक की अवस्था को बाल्यावस्था के नाम से जाना जाता है। मनोवैज्ञानिकों ने इस अवस्था को मानव विकास का 'अनोखा काल' कहा है। इस अवस्था को समझ पाना बहुत कठिन होता है क्योंकि विकास की दृष्टि से यह एक जटिल अवस्था है। इस अवस्था में विभिन्न प्रकार के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा नैतिक परिवर्तन बालक में होते हैं। फ्रायड एवं उनके समर्थकों ने इस अवस्था को विशेष महत्त्व दिया है। इस अवस्था में बालक पहले 3 वर्षों में बहुत तेजी से बढ़ता है। लेकिन 3 से 6 वर्ष में धीमी गति से बढ़ता है। बाल्यावस्था के भी दो स्तर होते हैं—पूर्व-बाल्यकाल तथा उत्तर-बाल्यकाल। पूर्व-बाल्यकाल में बालक तेजी से बढ़ता है जबकि उत्तर-बाल्यकाल में उसके विकास में स्थायित्व आ जाता है। फ्रायड के अनुसार इस अवस्था में बालक में तनाव की स्थिति समाप्त हो जाती है तथा वह बाहर की दुनिया को समझने लगता है, लेकिन वह परिपक्व नहीं होता।

इससे स्पष्ट है कि बाल्यावस्था 6 से 12 वर्ष तक होती है। शिक्षाशास्त्रियों के द्वारा इस अवस्था को 'प्रारम्भिक विद्यालय की आयु' (Elementary School Age) कहा गया है क्योंकि इस अवस्था में नियमित रूप से बालक विद्यालय में जाने लगता है। कुछ अभिभावक इस अवस्था को 'चुस्ती की आयु' (Smart Age) कहते हैं क्योंकि इसमें बालक दौड़-धूप, काम आदि में लगा रहता है। कुछ अन्य अभिभावकगण इसे 'गन्दी आयु' (Dirty Age) कहते हैं, क्योंकि इस समय बालक गन्दा, मैला-सा और लापरवाह दिखाई पड़ता है। मनोविज्ञानियों के द्वारा इस अवस्था को 'समूह की आयु' (Gang Age) भी कहा गया है क्योंकि इसमें लड़के-लड़कियाँ अपना-अपना समूह या वर्ग बनाते हैं और उसके सदस्य होते हैं। **हार्लिंगवर्थ** नामक मनोविज्ञानी ने इसे 'Moron Hurdle' (क्षीण बौद्धिक बाधा) की अवस्था कहा है जिसमें आगामी वयस्क जीवन को प्राप्त करने के लिए सफल प्रयास किए जाते हैं क्योंकि बाल्यावस्था में **हार्लिंगवर्थ** के अनुसार भावावेश और आगम दृष्टि का अभाव पाया जाता है। "वह अपनी नाक से आगे नहीं देख सकता और वह क्षणिक भावावेश में परिणाम की परवाह न करके काम करता है।"

इससे स्पष्ट है कि बाल्यावस्था 6 वर्ष से लेकर 12 वर्ष तक की आयु के बीच का समय होता है तथा इसमें बालक क्रियाशील रहता है, समूह में काम करता है और भावावेशी भी होता है, परन्तु वयस्क जीवन में प्रवेश के लिए सफल प्रयास करता है।

मनोवैज्ञानिकों ने बाल्यावस्था को अनोखा काल कहा है। **कोल** एवं **ब्रुस** ने इस काल के सम्बन्ध में लिखा है, "वास्तव में माता-पिता के लिए बाल-विकास की इस अवस्था को समझना कठिन है।" इस अवस्था को समझना कठिन क्यों है? इस सन्दर्भ में श्री **कुप्पूस्वामी** ने लिखा है कि इस अवस्था में बालक में अनोखे परिवर्तन होते हैं जैसे—शैशवावस्था को पार करते ही बालक का स्वभाव अत्यधिक उग्र हो जाता है।

बाल्यावस्था की प्रमुख विशेषताएँ
(Main Characterisitics of Childhood)

बाल्यावस्था की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं—

1. **शारीरिक और मानसिक विकास में स्थायित्व** (Stability in physical and mental growth)—बाल्यावस्था में शारीरिक एवं मानसिक विकास में स्थिरता या स्थायित्व पाया जाता है अर्थात् शैशवावस्था में विकास की जो तीव्रता रहती है वह बाल्यावस्था में ठहर-सी जाती है और विकास की गति में धीमापन आ जाता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वृद्धि एवं विकास की प्रक्रिया रुक गई हो। स्थायित्व या दृढ़ता आना भी विकास का एक अंग भी है। इस अवस्था में शारीरिक एवं मानसिक क्षमताएँ परिपक्व होने लगती हैं।
2. **आत्मनिर्भरता या आत्माश्रितता** (Self-dependence)—शैशवावस्था में बालक अपने समस्त दैनिक कार्यों के लिए दूसरों पर आश्रित रहता है किन्तु बाल्यावस्था में परनिर्भरता की भावना में कमी आ जाती है और बालक अधिकांश कार्य स्वयं करने को तत्पर रहता है। उसकी शारीरिक शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि वह दूसरों की सहायता नहीं लेना चाहता है, जैसे—भूख लगने पर खाना निकालकर खा लेना, अपने कपड़े स्वयं पहनना, अपने जूते-मोजे साफ करना एवं पहनना तथा अपने स्कूल बैग को ठीक ढंग से रखना आदि।
3. **सामूहिकता की प्रबलता** (Strength of Gregariousness)—बाल्यावस्था में बालक अपना अधिक समय समूह में बिताना पसन्द करते हैं। माता-पिता के द्वारा बार-बार बुलाए जाने पर भी वे अपने साथियों से अलग नहीं होते। उसका कारण है कि इस आयु में बच्चों में सामूहिकता की भावना अत्यन्त प्रबल होती है। इस सम्बन्ध में **जे०एस० रास** ने लिखा है, "बालक प्राय: अनिवार्य रूप से किसी-न-किसी समूह का सदस्य हो जाता है, जो अच्छे खेल खेलने और ऐसे कार्य करने के लिए नियमित रूप से एकत्र होता है जिसके बारे में बड़ी आयु के लोगों को कुछ भी बताया नहीं जाता है।"
4. **जिज्ञासा की तीव्रता** (Intensity of curiosity)—जैसे-जैसे बालक की मानसिक शक्तियों का विकास होता है और उसे परिपक्वता आती जाती है, वैसे-वैसे उसकी जिज्ञासा प्रवृत्ति भी बढ़ती जाती है। शैशवावस्था के अन्तिम चरण से ही जिज्ञासा प्रवृत्ति बढ़ती जाती है और बाल्यावस्था में इसमें तीव्रता आ जाती है। बालक अपने आस-पास के वातावरण से सम्बन्धित सभी तथ्यों को जानना चाहता है और वह तरह-तरह के प्रश्नों के माध्यम से अपने से बड़े व्यक्तियों से जानकारियाँ प्राप्त करने का प्रयास करता है।
   प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक **जे०एस० रॉस** ने बालकों की जिज्ञासा प्रवृत्ति के विषय में इस प्रकार लिखा है—"किस प्रकार संसार की चीजें कार्य करती हैं अर्थात् वास्तविकता क्या है और इसके बारे में विचार क्या हैं इसी को जानने के लिए बालक विभिन्न विषयों पर ढेर सारी सूचना एकत्र करता है। इससे बड़ों को भी आश्चर्य होता है।"
5. **रचनात्मक कार्यों में रुचि** (Interest in Constructive works)—जैसे-जैसे बालक बड़ा होता है वह अपने घर एवं परिवार, विद्यालय एवं पास-पड़ोस में विविध प्रकार के कार्यों के प्रति आकर्षित होता है और कार्य सम्पादन में स्वयं भी भाग लेने लगता है। उसे रचनात्मक कार्यों में विशेष आनन्द मिलता है; जैसे बगीचे में कार्य करना लकड़ी, कागज या अन्य किसी वस्तु से कुछ बनाना आदि। बालिका भी घर में कोई-न-कोई कार्य करना चाहती है, जैसे सिलाई, बुनाई, कढ़ाई आदि।
6. **संग्रह प्रवृत्ति या संचय प्रवृत्ति का विकास** (Development of Acquisition Instinct)—बाल्यावस्था में विभिन्न प्रकार के छोटे-मोटे सामान खिलौने, गोलियाँ, पत्थर के टुकड़े आदि बच्चे अपनी जेबों में भरे रहते हैं। स्कूल के बस्तों में भी इसी प्रकार के विभिन्न पदार्थ रखे रहते हैं। इसका कारण यह है कि बाल्यावस्था में संग्रह करने की मूल प्रवृत्ति जाग्रत हो जाती है। इस प्रवृत्ति का सम्बन्ध रचनात्मकता की भावना से भी है। बालक विभिन्न प्रकार की वस्तुओं से खेल-खेल में घर बनाते हैं या सजावट करते हैं और अपनी मनोभावनाओं को व्यक्त करते हैं।
7. **बहिर्मुखी भावना का विकास** (Development of Extrovert Tendency)—बाल्यावस्था में समूह में रहने की प्रवृत्ति विकसित हो जाती है जिसके कारण वह समूह में रहना अधिक पसन्द करता है। उसमे जिज्ञासा की भावना भी तीव्र हो जाती है और वह अपने वातावरण से सम्बन्धित सभी बातों को जानने और समझने का प्रयास करता है। इस प्रकार उसके व्यक्तित्व में बहिर्मुखी भावना का विकास हो जाता है। इस प्रक्रिया में बालक ऐसे कार्य करना चाहता है जिससे उसको मान्यता मिले या उसकी प्रशंसा हो।

8. **सामूहिक खेलों में सहभागिता** (Participations in Group games)—इस अवस्था में बालक अकेले नहीं खेलता बल्कि वह समूह में खेलना पसन्द करता है, क्योंकि इस उम्र में उसमेंसामूहिकता की प्रवृत्ति तीव्र हो जाती है। खेल बालकों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं। खेलों के माध्यम से उनका शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक एवं सामाजिक विकास होता है। खेल के महत्त्व के सम्बन्ध में कुछ मनोवैज्ञानिकों के विचार इस प्रकार हैं—
   (i) **कार्लग्रूस** (Karlgroos)—"खेलों के द्वारा व्यक्ति अपने भावी जीवन की तैयारी करता है।"
   (ii) **स्टेनले हाल** (Stanely Hall)—"बालकों के खेल उन कार्यों की पुनरावृत्ति हैं जो सृष्टि के प्रारम्भ से उनके पूर्वज करते आए हैं।"
   (iii) **स्पेन्सर** (Spencer)—"बालक खेल द्वारा अपनी अतिरिक्त शक्ति का व्यय करता है।"
   इस समय बालक बालकों के साथ और बालिकाएँ बालिकाओं के साथ खेलना पसन्द करते हैं और उनमें सखा-भाव एवं सखी-भाव विकसित होता दिखाई देता है। बालक एवं बालिका के खेलों में अन्तर भी होता है।
9. **सामाजिक एवं नैतिक विकास** (Social and moral development)—बाल्यावस्था में बालक अपने समूह के सदस्यों के साथ अधिक समय बिताता है और वह समूह के आज्ञाओं या निर्देशों का पालन करता है। उसका व्यवहार दूसरों की प्रशंसा तथा निन्दा पर आधारित होता है। उनमें अनेक सामाजिक गुण का विकास होता है, जैसे—आज्ञाकारिता, सहयोग, सद्भावना, सहनशीलता आदि। नैतिक गुणों के विकास के सम्बन्ध में **स्ट्रांग** का विचार है—"छह, सात और आठ वर्ष के बालकों में अच्छे-बुरे का ज्ञान एवं न्यायपूर्ण व्यवहार, ईमानदारी और सामाजिक मूल्यों की भावना का विकास होने लगता है।"
10. **सुषुप्त कामप्रवृत्ति** (Dormant tendencies)—इस अवस्था में यद्यपि शारीरिक वृद्धि होती है। विभिन्न अंगों एवं इन्द्रियों में विकास होता है किन्तु कामप्रवृत्ति में विकास नहीं होता है वह सुषुप्तावस्था में ही रहती है। इस उम्र में काम प्रवृत्ति में अपरिपक्वता रहती है। पितृ तथा मातृविरोधी भावना ग्रन्थियाँ भी इस अवस्था में नहीं होती हैं किन्तु बालक एवं बालिकाओं में समलिंगीय प्रेम-भावना का उदय होता है।
11. **मानसिक योग्यताओं में वृद्धि** (Growth in mental abilities)—इस अवस्था में बालक-बालिकाओं की मानसिक योग्यता में वृद्धि होती रहती है, स्मरण शक्ति का विकास तीव्र गति से होता है, संवेदना एवं प्रत्यक्षीकरण क्षमताओं में भी वृद्धि होती है, वस्तुओं के प्रति रुचि एवं अवधान भी बढ़ने लगता है। बालक अतीत के अनुभवों को स्मरण कर सकता है तथा सोच-विचार करके उनसे लाभ भी उठा सकता है। इससे बालक को ज्ञानार्जन में भी सहायता मिलती है।

प्र.2. बाल्यावस्था में सामाजिक विकास का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

उत्तर

बाल्यावस्था में सामाजिक विकास
(Social Development During Childhood)

सामाजिक विकास का अर्थ है बालक में ऐसे सामाजिक गुणों का विकास होना जो उसके सामाजिक व्यवस्थापन में सहायक हो। इन गुणों को प्राप्त कर बालक अपने को समाज के रूप में ढाल सके, वह समाज का एक उपयोगी सदस्य बन सके और व्यक्तिगत कल्याण के साथ-साथ सामाजिक कल्याण भी कर सके। सामाजिक गुणों के अन्तर्गत सहयोगी भावना, समूह के प्रति उत्तरदायित्व की भावना आदि सामाजिक गुणों के कुछ उदाहरण हैं। इस प्रकार सामाजिक विकास एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है जो शैशवावस्था, बाल्यावस्था एवं किशोरावस्था में क्रमशः पूर्णता की ओर विकसित होती रहती है।

इसी प्रकार समाजीकरण (Socialization) भी एक निरन्तर चलने वाली गतिशील सामाजिक एवं शैक्षणिक प्रक्रिया है, यह प्रक्रिया आजीवन चलती रहती है। समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा बालक परिवार, पड़ोस, समुदाय व समाज के सम्पर्क में आता है। इनके बारे में जानने का प्रयास करता है तथा धीरे-धीरे आचार-व्यवहार के तरीके, सामाजिक मूल्यों, सामाजिक आदर्शों तथा सामाजिक मानकों (Social values, social ideals, social norms) को समझता है। मनोवैज्ञानिकों ने समाजीकरण को सीखने की एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया है जिसके द्वारा एक शिशु क्रमिक रूप से सामाजिक विशेषताओं तथा लक्षणों को सीखकर सामाजिक प्राणी होने लगता है।

बाल्यावस्था अर्थात् 6 से 12 वर्ष की उम्र में बालकों में सामाजिक विकास का स्वरूप अग्रलिखित प्रतिरूप (pattern) में पाया जाता है—

1. **सामाजिक गुणों का विकास**—बालक समूह में रहना पसन्द करते हैं इससे उनमें आत्म-नियन्त्रण, साहस, सहयोग, न्यायप्रियता, नेता के प्रति भक्ति तथा दूसरों के प्रति सद्भावना आदि गुणों का विकास होता है।
2. **सामूहिकता एवं सहकारिता का उदय**—मनोवैज्ञानिकों ने बाल्यावस्था को टोली या समूह की आयु (The age of gang or group) कहा है। इस स्वाभाविक मनोवृत्ति के कारण प्रत्येक बालक किसी टोली या समूह से जुड़ जाता है। समूह में बालक टोली नायक द्वारा निर्धारित आदेशों का पालन करता है तथा समूह के उचित या अनुचित आदर्शों का अनुसरण करता है। इसके फलस्वरूप बालकों में सामूहिकता, सहयोग, सहकारिता एवं उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है।
3. **मित्रों का चुनाव**—बालक अपने समूह के अतिरिक्त भी कक्षा के अन्य सहपाठियों को अपना मित्र बनाते हैं। मित्रों के चुनाव में जाति, धर्म, सम्प्रदाय, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का प्रभाव पड़ता है। यह मित्रता कई कारणों से विकसित होती है, जैसे—समान, अभिरुचि, शैक्षणिक कार्यों में सहायता, पाठ-सहगामी क्रियाओं (Co-curricular activities) में सहभागिता तथा हॉबी (Hobby) में समानता आदि।
4. **शिष्टतापूर्ण व्यवहार का विकास**—बाल्यावस्था में बालक प्राय: घर से बाहर रहना चाहता है, किन्तु माता-पिता एवं शिक्षकों का सम्मान भी करता है। घर के अन्दर तथा घर के बाहर अन्य लोगों से व्यवहार अच्छा करने का प्रयास करता है।
5. **समाज में समायोजन**—शैशवावस्था में बालकों में आत्मकेन्द्रित स्वार्थी भावना होती है, किन्तु बाल्यावस्था में यह भावना नहीं पायी जाती अथवा इस भावना में क्रमश: कमी आती जाती है। बालक अन्य लोगों से अपना समायोजन करने का प्रयास करता है और इस प्रक्रिया में उसमें अनेक सामाजिक गुणों का विकास उचित रूप से होता है।
6. **खेल द्वारा सामाजिकता का विकास**—बाल्यावस्था में सबसे अधिक खेल भावना पायी जाती है। बालक खेल में व्यस्त रहने के कारण खाना-पीना तक भूल जाते हैं। बच्चों के लिए खेलों में भाग लेना एक अति आवश्यक कार्य है। खेल के द्वारा बालकों में अनेक सामाजिक गुण विकसित होते हैं।
7. **सामाजिक स्वीकृति एवं प्रशंसा पाने की प्रवृत्ति**—बाल्यावस्था में इस प्रवृत्ति में तीव्रता रहती है अर्थात् बाल्यावस्था में बालक अपने द्वारा किए गए कार्यों की सामाजिक स्वीकृति एवं प्रशंसा पाना चाहता है। इस प्रवृत्ति के कारण बालक घर, परिवार, विद्यालय एवं समाज में ऐसे कार्यों को करने का प्रयास करता है जिनसे उसे स्नेह और प्रसन्नता प्राप्त हो। यह प्रशंसा और स्नेह बालकों में अनेक सामाजिक गुणों का विकास करने में सहयोग देते हैं।
8. **नेतृत्व का विकास**—बाल्यावस्था की उम्र टोली या समूह की उम्र कही गई है। प्रत्येक बालक किसी-न-किसी समय समूह में अवश्य सम्मिलित हो जाता है और उस समूह का नेता बनने का प्रयास करता है। प्रत्येक बालक में यह स्वाभाविक इच्छा होती है, क्योंकि नेतृत्व के गुणों का विकास हो जाता है। कभी-कभी बालक कुछ ऐसे साहसिक कार्य भी कर जाते हैं जिसके कारण उनका समूह या टोली उसे अपना नेता मान लेते हैं।
9. **प्रतियोगिता एवं प्रतिद्वन्द्विता की भावना**—बाल्यावस्था में प्रतियोगिता एवं प्रतिद्वन्द्विता दोनों प्रकार की भावनाएँ विकसित हो जाती हैं। बालक खेलकूद में, पढ़ने-लिखने में तथा अन्य क्रियाओं में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेने लगता है, साथ ही अपने अन्य साथियों से वह आगे भी रहना चाहता है। ये दोनों स्थितियाँ प्रतियोगिता एवं प्रतिद्वन्द्विता की परिचायक हैं। बालकों की इन क्रियाओं में शिक्षक को सदैव प्रोत्साहन देना चाहिए।
10. **समाज विरोधी व्यवहार का विकास**—जिन बालकों को परिवार, विद्यालय या समाज से स्नेहपूर्ण व्यवहार, अच्छे कार्यों की प्रशंसा एवं आवश्यक सहयोग नहीं प्राप्त होता है तो ऐसे बालकों में समाज विरोधी व्यवहार विकसित होने लगता है। इसके परिणामस्वरूप बालक उदण्ड बन जाते हैं तथा नियमों का उल्लंघन करके अपने अहं भावना का प्रदर्शन करते हैं। यदि परिवार, विद्यालय या समाज उचित समय पर ऐसे बालकों पर ध्यान नहीं देता है और उन्हें उपेक्षित कर देता है, तब ऐसी स्थिति में बालक समस्यात्मक बालक (Problem child) या बाल अपराधी (Juvenile delinquents) बन जाते हैं।

समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से यह ज्ञात हुआ है कि जिन बालकों के माता-पिता दोनों नौकरी करते हैं या किन्हीं कारणों से हमेशा घर से बाहर रहते हैं तो ऐसे बालकों का सामाजिक विकास सही ढंग से नहीं होता है। कुछ बालक घर से विद्यालय के लिए निकलते हैं किन्तु रास्ते में उन्हें ऐसे साथी मिल जाते हैं जो कि ताश खेलते हैं, बंटी खेलते हैं या नशा या अन्य किसी कार्य में व्यस्त हो जाते हैं। वे दूसरे बालकों को भी अपने साथ में बैठा लेते हैं और स्कूल की छुट्टी के समय तक रोके रहते

हैं। चूँकि उनके अभिभावक घर में रहते नहीं हैं तथा विद्यालय से कोई सम्पर्क रख नहीं पाते हैं, ऐसे ही बालक आगे चलकर बाल अपराधी बन जाते हैं। यह प्रवृत्ति बाल्यावस्था से प्रारम्भ होकर किशोरावस्था में प्रबल रूप धारण कर लेती है और उन्हें सुधारना अत्यन्त कठिन कार्य हो जाता है।

प्र.3. बाल्यावस्था के सामाजिक विकास पर प्रभाव डालने वाले कारकों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

बाल्यावस्था के सामाजिक विकास पर प्रभाव डालने वाले कारक (Factors Influencing Social Development of Childhood)

बाल्यावस्था के सामाजिक विकास पर प्रभाव डालने वाले कारक निम्नलिखित हैं—

1. **वंशानुक्रम**—बालकों को अपने पूर्वजों से प्राप्त गुणों के समुच्चय को वंशानुक्रम (Heredity) कहा जाता है। वंशानुक्रम से प्राप्त ये गुण जिस प्रकार शारीरिक, मानसिक एवं संवेगात्मक विकास पर प्रभाव डालते हैं उसी प्रकार सामाजिक विकास पर भी प्रभाव डालते हैं क्योंकि विकास के सभी पक्ष अन्तर्सम्बन्धित होते हैं।
2. **पर्यावरण**—बालक का सामाजिक विकास उसके पर्यावरण पर आधारित होता है। पर्यावरण के अनेक पक्ष हैं जो बालक के सामाजिक विकास को अनेक प्रकार से प्रभावित करते हैं। मनोवैज्ञानिकों का यह निष्कर्ष है कि दो जुड़वाँ बालकों को भी यदि अलग-अलग पर्यावरण में रखकर उन्हें शिक्षित किया जाता है तो उनके परिणामों में भिन्नता आती है। पर्यावरण के अन्तर्गत प्राकृतिक, भौतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पक्ष होते हैं जो कि बालक के सामाजिक विकास में बहुत प्रभाव डालते हैं।
3. **परिवार**—परिवार को बालक का प्रथम स्कूल तथा माता को प्रथम शिक्षक कहा गया है। परिवार के सदस्यों का व्यवहार उनकी कार्य प्रणाली, उनके आदर्श नियम (Norms) आदि सभी तत्त्व बालक के सामाजिक विकास को प्रभावित करते हैं। परिवार की सामाजिक-आर्थिक स्थिति, माता-पिता की शिक्षा-दीक्षा तथा उनका व्यवसाय भी बालक के सामाजिक विकास पर प्रभाव डालता है।
4. **बालक का शारीरिक, मानसिक एवं संवेगात्मक विकास**—जैसा कि पूर्व में लिखा जा चुका है कि बालक का विकास एक संश्लिष्ट प्रक्रिया (Complex process) है और विकास के सभी पक्ष एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं और प्रभावित भी करते हैं। बालक का जिस प्रकार शारीरिक, मानसिक एवं संवेगात्मक विकास होगा उसी के आधार पर बालक का सामाजिक विकास होगा। बालक का स्वरूप, शरीर, स्वस्थ मानसिक विकास एवं उपयुक्त संवेगात्मक विकास के द्वारा बालक का उचित सामाजिक विकास होगा।
5. **समूह का प्रभाव**—समूह में रहना बालक का स्वाभाविक गुण है। यदि कोई बालक अलग या एकाकी रहता है अथवा किसी समूह का सदस्य नहीं होता है तो यह माना जाता है कि बालक का स्वाभाविक विकास नहीं हो रहा है। बालकों के समूह में रहने की प्रवृत्ति उसके सामाजिक विकास को प्रभावित करती है। किसी अच्छे समूह का सदस्य बन जाने पर बालक इतना व्यवहार कुशल हो जाता है कि वह समाज में सरलता से समायोजन (Adjustment) कर लेता है। इस विषय में **हरलॉक** ने लिखा है, "समूह के प्रभावों के कारण बालक सामाजिक व्यवहार का ऐसा महत्त्वपूर्ण प्रशिक्षण प्राप्त करता है जितना प्रौढ़समाज द्वारा निर्धारित की गई दशाओं में सफलता से प्राप्त नहीं किया जा सकता।"
6. **विद्यालय का वातावरण एवं शिक्षकों का प्रभाव**—जिस विद्यालय का वातावरण जनतान्त्रिक होगा उस विद्यालय के छात्रों का सामाजिक विकास स्वस्थ एवं उत्तम रूप से होता है। इसके विपरीत जिन विद्यालयों का वातावरण निरंकुश एवं तानाशाही होता है और जहाँ पर दण्ड का भय ही अनुशासन का आधार होता है ऐसे विद्यालय के छात्रों का सामाजिक विकास स्वाभाविक रूप से नहीं होता।

   विद्यालय के वातावरण में शिक्षक एक महत्त्वपूर्ण इकाई है, शिक्षक बालक का केवल गुरु ही नहीं बल्कि मित्र एवं मार्गदर्शक भी होता है। वह अपने छात्रों के लिए एक आदर्श व्यक्ति होता है। छात्र अपने शिक्षक का अनुकरण करते हैं और उसी के आचार व्यवहार के आधार पर स्वयं आचरण करते हैं। जिस विद्यालय के शिक्षकों में आदर्शात्मक गुण होते हैं उने छात्रों का सामाजिक विकास भी सही ढंग से होता है।

   एक विद्वान् ने कहा है कि "शिक्षक में कीर्ति, मूर्ति एवं स्फूर्ति" तीनों गुण होने चाहिए तभी वह आदर्श शिक्षक हो सकता है। यहाँ पर कीर्ति का तात्पर्य है उसकी बौद्धिक योग्यता एवं शुद्ध आचरण, मूर्ति का तात्पर्य है शारीरिक रूप से स्वस्थ एवं

सांगोपांग (शरीर के सभी अंगों का होना) तथा स्फूर्ति का तात्पर्य है शिक्षण कार्य में चैतन्यता एवं अभिरुचि होना। जिस विद्यालय में ऐसे आदर्श शिक्षक होते हैं उनके छात्रों का सामाजिक विकास भी उत्तम ढंग से होता है।

7. **खेल-कूद**—खेलकूद का बालक के सामाजिक विकास पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। मॉण्टेसरी एवं किण्डरगार्टन शिक्षा प्रणाली में खेल को बहुत महत्त्व दिया गया है। यहाँ तक कि खेल द्वारा शिक्षा नाम से एक नयी प्रणाली का विकास भी हो चुका है। विद्यालयीन पाठ्यक्रम में खेल को एक अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकार किया गया है।
खेल के महत्त्व के सम्बन्ध में **स्किनर** एवं **हैरीमैन** (Skinner and Harrimen) ने लिखा है, "खेल का मैदान बालक का निर्माण स्थल है। वहाँ उसे प्रदान किए जाने वाले सामाजिक एवं यान्त्रिक उपकरण उसके सामाजिक विकास को निश्चित करने में सहायता करते हैं। खेल के द्वारा बालकों में सहयोग, सामंजस्य, सहिष्णुता, नेतृत्व, आज्ञाकारिता, उत्तरदायित्व एवं विनम्रता आदि सामाजिक गुणों का विकास होता है। बालक खेल में सामाजिक व्यवहार का प्रदर्शित करते हैं जिनके माध्यम से उनमें सामाजिक गुणों का विकास भी होता है।"

प्र.4. बाल्यावस्था में संवेगात्मक विकास से क्या तात्पर्य है? बाल्यावस्था में संवेगात्मक विकास की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर

बाल्यावस्था में संवेगात्मक विकास
(Emotional Development During Childhod)

मनोवैज्ञानिक **क्रो** एवं **क्रो** (Crow and Crow) के अनुसार बाल्यावस्था के सम्पूर्ण वर्षों में संवेगों की अभिव्यक्ति में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक **कोल** एवं **ब्रूस** (Cole and Bruce) ने बाल्यावस्था को संवेगात्मक विकास का अनोखा काल कहा है। बालक जब बाल्यावस्था में प्रवेश करता है तब उसके संवेगों के स्तर में तीव्रता एवं उग्रता के स्थान पर सामाजिकता का भाव विकसित हो जाता है और इस प्रकार बालक अपने संवेगों पर नियन्त्रण करने लगता है। जैसे बाल्यावस्था में बालक को छोटी-छोटी बातों में क्रोध या रुलाई नहीं आती और न ही वह सभी अवसरों पर हँसने की अभिव्यक्ति करता है। जल्दी प्रसन्न होना या नाराज हो जाना या मचल जाने की प्रवृत्ति में कमी आती जाती है।
बाल्यावस्था के अन्तिम चरण में अभिभावक बालकों को निर्देश देते रहते हैं और कहते हैं, "अब तुम बड़े हो गए हो, बच्चों जैसा व्यवहार न करो।" इन बातों का प्रभाव बालकों पर पड़ता है और उनमें संवेगात्मक नियन्त्रण की क्षमता का विकास होता है।

बाल्यावस्था में संवेगात्मक विकास की विशेषताएँ
(Characteristics of Emotional Development During Childhood)

मनोवैज्ञानिक हरलॉक ने उत्तर-बाल्यावस्था के सामान्य संवेगात्मक प्रतिरूप या प्रतिमान (Common Emotional Patterns) को भय, चिन्तन, व्यग्रता, कुण्ठा, ईर्ष्या, जिज्ञासा, स्नेह और प्रफुल्लता के आधार पर वर्णन किया है। यहाँ पर इन सभी विशेषताओं का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है—

1. **भय एवं चिन्ता** (Fear and Worry)—शैशवावस्था की भाँति बाल्यावस्था में न तो भय उत्पन्न होता है और न ही उसकी अभिव्यक्ति में उग्रता पायी जाती है। फिर भी अनेक कारणों से बालकों में भय एवं चिन्ता की उत्पत्ति होती है, जैसे—न पढ़ने पर दण्ड मिलने का भय, परीक्षा में असफल होने का भय, माता-पिता के निर्देशों का पालन न करने पर कड़े व्यवहार का भय। इस अवस्था में भय प्रायः आगामी कार्यों से सम्बन्धित होता है। सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक **कारमाइकेल** (Charmichael) ने लिखा है, "कोई भी बात जो बालक के आत्म-विश्वास को ठेस पहुँचाती है अथवा उसके कार्यों में बाधा पहुँचाती है अथवा उसके महत्त्वपूर्ण समझे जाने वाले लक्ष्यों की प्राप्ति में अवरोध उत्पन्न करती है उसकी चिन्तित एवं भयभीत रहने की प्रवृत्ति में वृद्धि कर सकती है।"
2. **निराशा एवं असहायपन** (Frustration and Helplessness)—बाल्यावस्था में कुण्ठा और निराशा एवं असहायपन की भावना अधिक पायी जाती है। इसके प्रमुख कारण हैं पारिवारिक तथा सामाजिक वातावरण का बालकों पर कड़ा नियंत्रण एवं बालक की इच्छापूर्ति में अवरोध। इन कारणों से बालक उग्र होकर क्रोध प्रकट करता है और इच्छा की पूर्ति न होने पर उसमें कुण्ठा या निराशा तथा असहायपन की भावना का विकास होता है।
3. **ईर्ष्या** (Jealousy)—बाल्यावस्था में प्रत्येक बालक किसी-न-किसी समूह का सदस्य अवश्य होता है और ये समूह सामान्यतया उसके समवयस्क बालकों के द्वारा ही निर्मित होते हैं। इन समूहों में बालक अनेक क्रियाकलापों में भाग लेते हैं और उनमें अनेक कारणों से ईर्ष्या, द्वेष एवं घृणा की भावनाएँ विकसित हो जाती हैं। उदाहरण के लिए कक्षा में अपने से

तेज साथी के प्रति ईर्ष्या, खेल-कूद में भाग न ले सकने के कारण द्वेष या खेल में हार-जीत होने के कारण ईर्ष्या एवं द्वेष की भावनाएँ विकसित हो जाती हैं। ईर्ष्या की भावना सबसे पहले अपने परिवार में भाई-बहनों के प्रति विकसित होती है और बाद में अपने संगी-साथी अथवा कक्षा में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के प्रति विकसित होती है। बालक अपनी इस ईर्ष्या की भावना को अधिकतर परोक्ष रूप से व्यक्त करते हैं, जैसे—व्यंग करना, झूठे आरोप लगाना, तिरस्कार करना, चिढ़ाना एवं निन्दा करना आदि।

4. **क्रोध** (Anger)—बाल्यावस्था में क्रोध का कारण बालकों की निराशा, हताशा या कुण्ठा (Frustation) होती है। बालक की स्वतन्त्रता एवं इच्छापूर्ति में जब कोई बाधा आ जाती है तब उसे क्रोध आ जाता है। वयस्कों द्वारा उसके कार्यों की आलोचना करना भी बालक में क्रोध उत्पन्न करता है। दूसरे के बच्चों की प्रशंसा तथा अपने बच्चों की निन्दा करना भी क्रोध का कारण होता है। बालक के अपने क्रोध की अभिव्यक्ति तनावपूर्ण मौनमुद्रा या भाई-बहनों से मारपीट व झगड़ा करने के रूप में होती है।
   माता-पिता को चाहिए कि वे अपने बच्चों से अमनोवैज्ञानिक व्यवहार न करें जिससे बालकों में कुण्ठा या हताशा विकसित हो क्योंकि कुण्ठा के द्वारा मानसिक ग्रन्थियों का विकास होता है तो कि संवेगात्मक विकास को बिगाड़ देते हैं।
5. **स्नेह** (Affection)—उत्तर-बाल्यावस्था में बालक में स्नेह भाव की अभिव्यक्ति कम मात्रा में होती है। बालक अधिकांशतया अपने मित्रों के प्रति स्नेह का प्रदर्शन करते हैं। बाल्यावस्था में स्नेह भाव व्यक्त करने का तरीका भी शैशवावस्था से भिन्न होता है। इस अवस्था में प्राय: अप्रत्यक्ष रूप से स्नेह भाव व्यक्त होता है।
6. **प्रफुल्लता** (Happiness)—बाल्यावस्था में बालक अत्यन्त सरलता से अपनी प्रफुल्लता को व्यक्त करता है। प्रफुल्लता का तात्पर्य है आनन्दित होना या आनन्द का अनुभव करना। बाल्यावस्था में बालक विनोदप्रिय अधिक होता है और व्यंग विनोद में उसे आनन्द की अनुभूति होती है। किसी असाधारण घटना को देखकर, किसी को गिरते हुए देखकर, किसी को लड़ते-झगड़ते या मारपीट करते देखकर बालक बहुत आनन्दित होते हैं।
7. **जिज्ञासा** (Curiosity)—जिज्ञासा मूल प्रवृत्ति के साथ आश्चर्य संवेग जुड़ा रहता है, बालकों में जिज्ञासा प्रवृत्ति बहुत अधिक होती है और प्रत्येक नयी घटना या वस्तु के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने की अभिलाषा होती है। इसी जिज्ञासा प्रवृत्ति के कारण खिलौनों को खोलकर या तोड़कर उसकी कार्यप्रणाली को जानने का प्रयास करता है। घरेलू उपकरण जैसे—घड़ी, रेडियो, टेलीविजन, टेलीफोन, ग्रामोफोन आदि के सम्बन्ध में भी प्रश्नों के माध्यम से जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करता है। अभिभावकों तथा शिक्षकों को चाहिए कि बालकों की इस जिज्ञासा प्रवृत्ति को दबाए नहीं बल्कि सरल तरीके से उनकी जिज्ञासा को शान्त करने या उनका समाधान करने का प्रयास करें।

प्र.5. बाल्यावस्था में शिक्षा के स्वरूप का सविस्तार वर्णन कीजिए।

उत्तर

बाल्यावस्था में शिक्षा का स्वरूप
(Education in Childhood)

बाल्यावस्था औपचारिक शिक्षा का प्रारम्भ काल है, वह 5 वर्ष की उम्र के पश्चात् विद्यालय में प्रवेश लेता है और सम्पूर्ण बाल्यावस्था विद्यालय में व्यतीत करता है। बालक के व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से यह अवधि बहुत महत्त्वपूर्ण मानी गई है। यह अवधि शिक्षा की बुनियाद भी कही जाती है इसलिए बाल्यावस्था में शिक्षा का स्वरूप किस प्रकार का होना चाहिए? इसका निरूपण आगे पृष्ठों में किया जा रहा है—

1. **शारीरिक विकास पर विशेष ध्यान**—इस अवस्था में बालकों को सन्तुलित एवं पौष्टिक भोजन मिलना चाहिए जिससे कि उनका शारीरिक विकास सही ढंग से हो सके। शिक्षक द्वारा छात्रों को सन्तुलित भोजन (Balance diet) की जानकारी देनी चाहिए तथा उनके अभिभावकों को भी इस ओर प्रेरित करना चाहिए।
   इसके अतिरिक्त विद्यालय में खेलकूद एवं अन्य शारीरिक क्रियाओं की उचित व्यवस्था होनी चाहिए जिससे कि बालकों का शारीरिक विकास सही ढंग से हो सके। इस दृष्टिकोण से खेल द्वारा शिक्षा एवं क्रिया द्वारा शिक्षा विधि का प्रयोग करना चाहिए। विद्यालय में पी०टी०, योग, N.C.C., स्काउटिंग आदि विधाओं का प्रयोग किया जाना चाहिए।
2. **भाषा विकास पर बल**—शिक्षण प्रक्रिया में भाषा विकास नींव का पत्थर माना जाता है, भाषा विकास के अन्तर्गत पढ़ना-लिखना अर्थात् अक्षर ज्ञान तो प्रारम्भिक बिन्दु है जिनके आधार पर बालक अपने विचारों को लिखकर या बोलकर व्यक्त करते हैं। भाषा के आधार पर ही साहित्य एवं संस्कृति का ज्ञान भी होता है। इसलिए विद्यालयों में छात्रों को ऐसे

अवसर एवं सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए जो उनके भाषा विकास में सहायक हों। इस हेतु वार्त्तालाप, व्याख्यान, वाद-विवाद, कहानी प्रतियोगिता एवं काव्यपाठ में भाग लेने के लिए छात्रों को प्रोत्साहित करना चाहिए। सुलेख, निबन्ध प्रतियोगिता, कहानी प्रतियोगिता आदि का आयोजन भी छात्रों के भाषा विकास में सहायता पहुँचाता है। विद्यालय में समाचारपत्र, पत्रिकाएँ एवं उपयोगी बाल साहित्य भी उपलब्ध होना चाहिए और इनके नियमित अध्ययन हेतु दैनिक समय विभाग चक्र में समय निर्धारित करना चाहिए।

3. **उपयुक्त पाठ्यक्रम**—बालक की रुचियों, आवश्यकताओं और शिक्षा के उद्देश्यों पर आधारित पाठ्यक्रम का निर्माण किया जाना चाहिए। पाठ्यक्रम नीरस तथा यंत्रवत् न हो तथा विषयों एवं पुस्तकों का अनावश्यक बोझ छात्रों पर न डाला जाए।
4. **शिक्षण विधि**—पाठ्यक्रम के अतिरिक्त शिक्षण विधि का भी विशेष महत्त्व होता है। शिक्षण विधि ऐसी होनी चाहिए जो उम्र के अनुसार छात्रों के लिए सटीक उपयोगी और रुचिकर हो। शिक्षण विधि ऐसी हो जो बालकों को क्रियाशील रख सके। शिक्षण विधि में रटन्त विद्या के स्थान पर आधुनिक तकनीक का प्रयोग करना चाहिए। वर्तमान समय में शैक्षिक तकनीकी का पर्याप्त विकास हो चुका है, शैक्षणिक प्रक्रिया में आडियो-वीडियो टेप्स या कैसेट्स, प्रोजेक्टर (स्लाइड प्रोजेक्टर एवं फिल्म प्रोजेक्टर) टेलीविजन एवं इन्टरनेट आदि उपकरण शिक्षण को बहुत प्रभावकारी एवं रुचिकर बना सकते हैं। अत: विद्यालयों में सुविधानुसार इनका प्रयोग करना चाहिए।
5. **खेल तथा क्रिया द्वारा शिक्षा**—बाल्यावस्था में केवल सैद्धान्तिक या किताबी ज्ञान ही पर्याप्त नहीं होता है, अत: कक्षा शिक्षण के अतिरिक्त खेल एवं अन्य क्रियाओं द्वारा शिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए।
6. **रचनात्मक प्रवृत्ति का विकास**—विद्यालयों में ऐसे कार्यक्रम आयोजित किए जाएँ जिससे बालकों की रचनात्मक प्रवृत्ति का विकास हो सके। मिट्टी, कागज, दफ्ती या लकड़ी आदि का प्रयोग करके बालकों से रचनात्मक कार्य कराए जा सकते हैं।
7. **संग्रह प्रवृत्ति को प्रोत्साहन**—बालकों में वस्तुओं को संग्रह करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। इस प्रवृत्ति के विकास हेतु डाक टिकट, महापुरुषों के चित्र, पुराने सिक्के, खिलौने तथा बाल उपयोगी पुस्तकें आदि का संग्रह छात्रों से करवाया जाना चाहिए। इससे बालक क्रियाशील होते हैं और विद्यालयी क्रियाओं में रुचि लेते हैं।
8. **जिज्ञासा प्रवृत्ति**—प्रत्येक बालक में नयी विषय एवं वस्तु के बारे में जानने की उत्कण्ठा रहती है। वह कैसे, कब और क्यों आदि प्रश्नों के माध्य से अपनी जिज्ञासा प्रकट करता है। शिक्षकों द्वारा बालकों को इस सम्बन्ध में प्रोत्साहित करना चाहिए तथा उनकी जिज्ञासाओं का उचित समाधान करते रहना चाहिए।
9. **सामूहिक प्रवृत्ति की सन्तुष्टि**—बालकों में प्रारम्भ से ही समूह में रहने की प्रवृत्ति पायी जाती है इसलिए विद्यालयों में सामूहिक खेलों तथा सामूहिक कार्यों का आयोजन करना चाहिए। बाल-सभा, ब्वायस्काउट, गर्ल्स गाइड टीम आधारित खेल तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों के आयोजन से बालकों की सामूहिक प्रवृत्ति की सन्तुष्टि होती है।
10. **पाठ-सहगामी क्रियाओं की व्यवस्था**—इसके अन्तर्गत् खेल-कूद के अतिरिक्त भ्रमण, नाटक, प्रहसन, सरस्वती-यात्राएँ आदि कार्यक्रमों का आयोजन किया जाना चाहिए।
11. **मानसिक विकास पर ध्यान**—विद्यालय में उपयुक्त बौद्धिक वातावरण का विकास किया जाना चाहिए। अध्ययन की पर्याप्त सुविधा छात्रों को मिलनी चाहिए, मानसिक विकास के लिए स्मृति कल्पना, तर्क, निर्णय आदि शक्तियों का प्रयोग करने की सुविधा विद्यालय में होनी चाहिए। इसके लिए आवश्यक उपकरण एवं साधनों का प्रयोग करना चाहिए।
12. **संवेगों का शोधन एवं मार्गान्तरीकरण**—बालकों में जन्मजात मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं और उनसे संवेग भी जुड़े हाते हैं। ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, क्रोध आदि ऐसे संवेग हैं जो कि स्वयं बालक के लिए तथा दूसरों के लिए हानिप्रद होते हैं। शिक्षण प्रक्रिया के द्वारा हानिप्रद संवेगों का शोधन एवं मार्गान्तरीकरण करना चाहिए।
13. **नैतिक एवं चारित्रिक गुणों का विकास**—बालक के समाजीकरण में परिवार के बाद विद्यालय की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। विद्यालय में ऐसा वातावरण निर्मित होना चाहिए जिनसे कि बालकों में स्वस्थ सामाजिक गुणों का विकास हो सके।

बालकों में व्यक्तिगत स्वच्छता, नियमित दिनचर्या एवं सन्तुलित भोजन की आदत का विकास करना चाहिए। इसके अतिरिक्त उन्हें समाज के नैतिक मूल्यों, परम्पराओं एवं मान्यताओं की जानकारी देते हुए इन गुणों का विकास करने के लिए विद्यालय में उपयुक्त कार्यक्रमों का आयोजन करना चाहिए।

प्र.6. संज्ञानात्मक विकास के निर्धारक तत्त्वों का विस्तार पूर्वक उल्लेख कीजिए।

उत्तर

संज्ञानात्मक विकास के निर्धारक तत्त्व
(Determinants of Cognitive Development)

संज्ञानात्मक विकास को प्रभावित करने वाले तत्त्व निम्नलिखित हैं—

1. **आनुवंशिक एवं संरचनात्मक कारक** (Genetic and Constitutional Factors)—संज्ञानात्मक विकास को आनुवंशिक एवं संरचनात्मक कारक महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करते हैं। जैसा कि हम सभी लोग जानते हैं कि बौद्धिक विकास में आनुवंशिकता एवं संरचनात्मक कारक का विशेष हाथ होता है इसलिए चूँकि संज्ञानात्मक विकास बौद्धिक क्षमता पर निर्भर करती है इससे इस कारक का महत्त्व और बढ़ जाता है। समरूप यमजों पर किए गए अध्ययनों से यह निष्कर्ष मिलता है कि आनुवंशिक कारक एवं संरचनात्मक कारक दोनों संज्ञानात्मक विकास को प्रभावित करते हैं। (**इरलेनमेयर किमर्लिंग** और **जारविक**, 1963) **बेले** (Baylay, 1970) ने अपने अध्ययन के परिणामस्वरूप यह निष्कर्ष दिया कि परिवेशीय परिस्थितियों का बालिकाओं की अपेक्षा बालकों के संज्ञान पर काफी प्रभाव देखा जा सकता है। इन सभी कारकों के अतिरिक्त गर्भावस्था एवं जन्म के समय की परिस्थिति, पोषण (आहार), दवाएँ, बीमारियाँ तथा शारीरिक चोट एवं मस्तिष्क आघात भी संज्ञानात्मक विकास में अपना प्रभाव डालते हैं।
2. **सामाजिक वंचन** (Social Deprivation)—सामाजिक वंचन का भी संज्ञानात्मक योग्यता में प्रभाव देखा गया है। **गोर्डन** (Gordon, 1923) के अध्ययनों से यह निष्कर्ष मिलता है कि सामाजिक अधिगम के अवसर के प्रभाव में संज्ञानात्मक विकास की प्रक्रिया में बाधा पहुँचती है। प्राय: यह देखा गया है कि जन्मोपरान्त सामाजिक वंचन होने के कारण जंगली वातावरण में पाले गए मानव प्राणियों में उचित संज्ञान का विकास काफी प्रयासोपरान्त भी परिलक्षित नहीं हो पाया। इसलिए सामाजिक वंचन विकास को बुरी तरह प्रभावित करती है। **शेरमैन** एवं **की** (Sherman and Key, 1932) तथा **कैनेडी** (Kennedy, 1969) ने अपने अध्ययनों के आधार पर यह निष्कर्ष दिया है कि ग्रामीण बच्चों का संज्ञान शहरी बच्चों की तुलना में कम पाया जाता है। इसका कारण उचित सामाजिक अधिगम का अवसर न प्रदान करने से है। इसलिए यह आवश्यक है कि बच्चों को सामाजिक अधिगम का यथासम्भव अवसर प्रदान करना चाहिए।
3. **सामाजिक वर्ग एवं प्रजातियाँ** (Social class and Races)—सामाजिक वर्ग एवं प्रजातियाँ भी संज्ञानात्मक विकास पर प्रभाव डालते हैं। **ड्रेगर** एवं **मिलर** (Dreger and Miller, 1960, 1968) **जेन्सेन** (Jensen, 1969) आदि मनोवैज्ञानिक ने अपने अध्ययनों द्वारा सामाजिक वर्ग एवं प्रजातियों के प्रभावों को संज्ञानात्मक विकास पर प्राप्त किया। इनके अनुसार काले अमेरिकी बच्चों में श्वेत अमेरिकी बच्चों की तुलना में संज्ञानात्मक योग्यता कम होती है एवं निम्न आर्थिक स्तर के बच्चे मध्यवर्गीय बच्चों की तुलना में संज्ञानात्मक योग्यता कम रखते हैं।
4. **यौन भिन्नता** (Sex Differences)—लैंगिक भिन्नताओं का भी प्रभाव संज्ञानात्मक विकास पर प्राप्त किया गया है। **उदाहरणार्थ**—बालकों की अपेक्षा बालिकाएँ भाषा विकास एवं शब्द प्रवाह (Word Fluency) में प्राय: अधिक अंक प्राप्त करती है। उसके विपरीत वाचिक तर्क (Verbal reasoning) में बालक बालिकाओं में श्रेष्ठ पाए गए। विस्तार, प्रत्यक्षीकरण लिपिकाएँ योग्यता, हस्तकौशल एवं रटकर याद करने में बालिकाएँ बालकों से अधिक अंक प्राप्त करती हैं जबकि दैशिक विन्यास (Spatial orientation), प्रत्यक्षीकरण, गणितीय तर्क एवं सामान्य ज्ञान में बालक अधिक अंक प्राप्त करते हैं। ऐसे ही परिणाम Carter, 1952, Coleman, 1961, Hanron 1959 ने भी अपने अध्ययनों में प्राप्त किए। Torance, (1962) के अनुसार रचनात्मक विचारों की योग्यता में बालक बालिकाओं की तुलना में आगे रहते हैं।

5. **संरक्षकीय प्रभाव** (Parental Influence)—ऐसे बच्चे जिनको अतिसंरक्षण माता-पिता द्वारा मिलता है तथा उन्हें अच्छे उच्चलक्ष्य निर्धारित करने हेतु प्रेरित किया जाता है तो उनमें संज्ञानात्मक योग्यता का विकास शीघ्र होता है। इस प्रकार का परिणाम अपने अध्ययन में कैण्डल एवं उनके सहयोगी (Crandalt, el. al. 1960), रोजेन एवं डी अनड्रेड (Rosen and D'Andrade, 1959) ने प्राप्त किए। ऐसा भी देखा गया है कि बच्चों के संज्ञानात्मक विकास को माता ज्यादा प्रभावित करती है ऐसा इसलिए होता है कि बच्चे ज्यादातर अपना समय पिता की तुलना में माता के साथ व्यतीत करते हैं। माता का स्नेह एवं प्यार भी बच्चों के संरचनात्मक योग्यता को विकसित करने में मदद पहुँचाते हैं।
6. **उम्र एवं शिक्षा** (Age and Education)—यह सर्वविदित है कि आयु में वृद्धि होने के साथ-साथ बच्चों में संज्ञानात्मक योग्यता भी बढ़ती है। इसके अतिरिक्त शिक्षा का स्तर भी संज्ञानात्मक विकास को प्रभावित करता है। शिक्षित बच्चों की तुलना में अशिक्षित बच्चों का संज्ञानात्मक विस्तार कम पाया जाता है। ऐसे परिणाम दास एवं दास (Das adn Das, 1984) ने अपने अध्ययन में प्राप्त किए। **गारगियुलो** (Gargiulo 1984) ने भी यह निष्कर्ष दिया है कि विकलांगता भी संज्ञानात्मक विकास में बाधक होती है। अत: इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बच्चों में शिक्षा का उचित अवसर प्रदान करना चाहिए जिससे इनमें उचित समय पर उचित संज्ञानात्मक योग्यता का विकास हो सके।
7. **स्वास्थ्य** (Health)—ऐसे बालक जिनका स्वास्थ्य प्रारम्भ से ही अच्छा रहता है तथा विकारियों आदि के प्रभाव से मुक्त रहते हैं। उनमें मानसिक विकास की गति रोगग्रस्त बच्चों की तुलना में तीव्र रहती है। Terman (1925) के अनुसार स्वास्थ्य एवं बुद्धि में सम्बन्ध है। यदि मानसिक विकास की गति तीव्र है तो संज्ञानात्मक विकास की भी गति तीव्र ही रहेगी। ऐसे ही परिणाम Ruch (1970), Harrel, Wood gard and Gates (1955) ने भी प्राप्त किए हैं।
8. **परिवार का आकार** (Size of the family)—कुछ अध्ययनों में यह पाया जाता है कि निम्न आर्थिक पर्यावरण के परिवारों में यदि बच्चे अधिक हैं तो उसकी संज्ञानात्मक क्षमता में कमी पाई जाएगी। Gille, 1954 and Heuyler, 1950) ने भी ऐसे ही परिणाम पाए हैं। इसका भौतिक कारण यह हो सकता है कि निम्न आर्थिक स्तर होने के कारण उनका पालन पोषण, शिक्षा तथा खेलकूद की पर्याप्त व्यवस्था नहीं हो पाती है जिससे उसका संज्ञानात्मक जगत प्रभावित होता है। साथ ही साथ उचित मनोवैज्ञानिक पर्यावरण के अभाव में भी ऐसा ही पाया जाता है कि संज्ञानात्मक विकास अवरुद्ध होता है।

प्र.7. बालक का संवेगात्मक विकास किन कारकों से प्रभावित होता है? उल्लेख कीजिए।

उत्तर

संवेगात्मक विकास को प्रभावित करने वाले कारक
(Factors affecting Emotional Development)

संवेगात्मक विकास का स्थान बालक के विकास की प्रत्येक अवस्था में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। बालक का संवेगात्मक विकास जन्म के कुछ समय के पश्चात् ही प्रारम्भ हो जाता है। बालक का संवेगात्मक विकास अनेक कारकों पर निर्भर करता है। उनके कारकों में से कुछ कारक निम्नलिखित हैं—

1. **विद्यालय वातावरण** (School Environment)—बालक के संवेगात्मक विकास को प्रभावित करने वाले कारकों में विद्यालय वातावरण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। विद्यालय का अच्छा वातावरण और पाठ्यचर्या कार्यक्रम बालक के संवेगों को सन्तुष्ट कर उसे आनन्द की अनुभूति प्रदान करता है। उपयुक्त विद्यालयी वातावरण में बालक का संवेगात्मक विकास अत्यन्त प्रभावी ढंग से हो पाता है। विद्यालय स्तर पर होने वाली पाठ्य-सहगामी क्रियाओं के माध्यम से बालक के संवेगात्मक विकास को एक दिशा प्रदान की जाती है जो बालक के लिए हितकर होती है। बालक का संवेगात्मक विकास मुख्याध्यापक, अध्यापक एवं विद्यार्थियों के व्यवहार पर भी निर्भर करता है।
2. **परिवार तथा आस-पड़ोस का वातावरण** (Family and Neighbourhood Environment)—बालक के संवेगात्मक विकास पर बालक के परिवार, पारिवारिक सदस्यों एवं आस-पड़ोस के वातावरण का प्रभाव पड़ता है। बालक के सन्तुलित संवेगात्मक विकास के लिए यह आवश्यक है कि बालक के परिवार एवं आस-पड़ोस का वातावरण आनन्दमय, शान्तिपूर्ण और सुरक्षायुक्त हो। बालक के परिवार एवं आस-पड़ोस का वातावरण जैसा होगा बालक का व्यवहार भी वैसा ही होगा। परिवार के सदस्यों का नकारात्मक दृष्टिकोण बालक के संवेगात्मक विकास को असन्तुलित कर देता है।

3. **स्वास्थ्य और शारीरिक विकास** (Health and Physical Development)—बालक के स्वास्थ्य का उसके संवेगात्मक विकास पर अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ता है साथ ही साथ बालक का शारीरिक विकास भी बालक के संवेगात्मक विकास को प्रभावित करता है। बालक के शारीरिक विकास एवं स्वास्थ्य का उसके संवेगात्मक विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। शारीरिक रूप से अविकसित एवं अस्वस्थ बालकों में स्वस्थ एवं शारीरिक रूप से विकसित बालकों की तुलना में अधिक अस्थिरता होती है। बालकों के सामान्य संवेगात्मक विकास के लिए यह आवश्यक है कि उनका शारीरिक विकास एवं स्वास्थ्य सामान्य हो।
4. **थकान** (Fatigue)—संवेगात्मक विकास पर थकान का भी स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। थकावट की वजह से अक्सर बालक चिड़चिड़ाने लगता है, बालक को शीघ्र क्रोध आने लगता है। जिसका परिणाम यह होता है कि बालक में अवांछनीय संवेगात्मक विचार एवं व्यवहार उत्पन्न होने लगते हैं। **क्रो एवं क्रो** के अनुसार, "जब बालक थका हुआ होता है तब उसमें क्रोध या चिड़चिड़ेपन के समान अवांछनीय संवेगात्मक प्रवृत्ति होती है।"
5. **बुद्धि तथा मानसिक योग्यता** (Intelligence and Mental Aptitude)—बालक का संवेगात्मक विकास उसकी बुद्धि एवं मानसिक योग्यता पर भी निर्भर करता है। संवेगों के विकास एवं बुद्धि के बीच में सह-सम्बन्ध पाया जाता है। संवेगात्मक कुण्ठा एवं कष्ट बौद्धिक विकास में बाधा उत्पन्न करता है। संवेगात्मक रूप से स्थिर बालक अपने मन को पढ़ाई में लगाते हैं। बौद्धिक रूप से दक्ष बालक अपने को संवेगात्मक रूप से स्थिर बनाए रखता है।
6. **सामाजिक स्थिति** (Social Status)—बालक को संवेगात्मक रूप से प्रभावित करने का एक अन्य कारक बालक की सामाजिक स्थिति है। **क्रो एवं क्रो** के अनुसार, "निम्न सामाजिक स्थिति के बालकों में उच्च सामाजिक स्थिति के बालकों की अपेक्षा अधिक असन्तुलन और अधिक संवेगात्मक अस्थिरता होती है।"
7. **आर्थिक स्थिति** (Financial Status)—बालक के संवेगात्मक विकास को प्रभावित करने वाले कारकों में से एक कारक परिवार की आर्थिक स्थिति भी है। सामान्यत: धनाढ्य परिवार के बालक और निर्धन परिवार के बालकों के संवेगात्मक व्यवहार में भिन्नता पाई जाती है। अनेक ऐसे कारण हैं जिनकी वजह से उनमें ईर्ष्या-द्वेष की भावना उत्पन्न हो जाती है।
8. **अभिभावकों का दृष्टिकोण** (Parent's Point of View)—संवेगात्मक विकास पर अभिभावकों के दृष्टिकोण का भी बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। **क्रो एवं क्रो** के अनुसार, "बच्चों की उपेक्षा करना, बहुत कम समय तक घर के बाहर रहना, बच्चों के बारे में आवश्यकता से अधिक चिन्तित रहना, बच्चों के सामने उनके रोगों के बारे में बातचीत करना, बच्चों की आवश्यकता से अधिक रक्षा करना, बच्चों को अपनी इच्छा के अनुसार कोई भी कार्य करने की आज्ञा न देना, बच्चों को प्रौढ़ों के समान नए अनुभव न देना और बच्चों को सम्पूर्ण घर के प्रेम का पात्र बनाना, माता-पिता की ये समस्त बातें बच्चों के अवांछनीय संवेगात्मक व्यवहार के विकास में योग देती हैं।"
9. **सामाजिक स्वीकृति** (Social Acceptance)—सामाजिक स्वीकृति भी बालक के संवेगात्मक विकास को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। बालक सदैव अपने द्वारा किए गए कार्यों की प्रशंसा का इच्छुक रहता है। यदि ऐसा नहीं होता तो बालक में संवेगात्मक तनाव उत्पन्न हो सकता है। **क्रो एवं क्रो** के अनुसार, "यदि बालक को अपने कार्यों की सामाजिक स्वीकृति नहीं मिलती तो उसके संवेगात्मक व्यवहार में उग्रता या शिथिलता आ जाती है।"
10. **आयु** (Age)—संवेगात्मक विकास को आयु भी प्रभावित करती है। आयु का संवेगात्मक विकास पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। आयु बढ़ने के साथ-साथ संवेगात्मक परिपक्वता आने लगती है।

❐

- *यद्यपि इस पुस्तक को यथासम्भव शुद्ध एवं त्रुटिरहित प्रस्तुत करने का भरसक प्रयास किया गया है, तथापि इसमें कोई कमी अथवा त्रुटि अनिच्छाकृत ढंग से रह गई हो तो उससे कारित क्षति अथवा सन्ताप के लिए लेखक, प्रकाशक तथा मुद्रक का कोई दायित्व नहीं होगा। सभी विवादित मामलों का न्यायक्षेत्र मेरठ न्यायालय के अधीन होगा।*
- *इस पुस्तक में समाहित सम्पूर्ण पाठ्य-सामग्री (रेखा व छायाचित्रों सहित) के सर्वाधिकार प्रकाशक के अधीन हैं। अत: कोई भी व्यक्ति इस पुस्तक का नाम, टाइटिल-डिजाइन तथा पाठ्य-सामग्री आदि को आंशिक या पूर्ण रूप से तोड़-मरोड़कर प्रकाशित करने का प्रयास न करें, अन्यथा कानूनी तौर पर हर्जे-खर्चे व हानि के जिम्मेदार होंगे।*
- *इस पुस्तक में रह गई तथ्यात्मक त्रुटियों तथा अन्य किसी भी कमी के लिए विद्वत् पाठकगण से भूल-सुधार/सुझाव एवं टिप्पणियाँ सादर आमन्त्रित हैं। प्राप्त सुझावों अथवा त्रुटियों का समायोजन आगामी संस्करण में कर दिया जाएगा। किसी भी प्रकार के भूल-सुधार/सुझाव आप* info@vidyauniversitypress.com *पर भी ई-मेल कर सकते हैं।*

मॉडल पेपर

पोषण एवं मानव विकास के आधारभूत सिद्धान्त

B.A.-I (SEM-I) [पूर्णांक : 75

नोट—सभी खण्डों को निर्देशानुसार हल कीजिए।

खण्ड-अ : अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

***निर्देश—सभी पाँच प्रश्नों** के उत्तर दीजिए। प्रत्येक प्रश्न **3 अंक** का है। अधिकतम 75 शब्दों में अतिलघु उत्तर अपेक्षित हैं।*

1. हरित क्रान्ति का जनक किसे कहा जाता है?

2. टायलिन नामक एन्जाइम आहार के किस तत्त्व के पाचन में सहायक होता है?

3. अपोषण के अर्थ को समझाइए।

4. भोज्य पदार्थों में पौष्टिकता को बढ़ाने के लिए विभिन्न विधियाँ कौन-कौन सी हैं?

5. शारीरिक वकास को प्रभावित करने वाले कारक बताइए।

खण्ड-ब : लघु उत्तरीय प्रश्न

***निर्देश—**निम्नलिखित तीन प्रश्नों में से किन्हीं **2 प्रश्नों** के उत्तर दीजिए। प्रत्येक प्रश्न **7.5 अंक** का है। अधिकतम 200 शब्दों में लघु उत्तर अपेक्षित हैं।*

6. जीवन की गुणवत्ता बनाए रखने के लिए गृहविज्ञान की प्रासंगिकता को स्पष्ट कीजिए।

अथवा दाँत की संरचना का सचित्र वर्णन कीजिए।

7. सुपोषण से आप क्या समझते हैं?

अथवा बालक के लिंग का निर्धारण किस प्रकार होता है?

8. सामाजिक विकास से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।

अथवा बाल्यावस्था की शारीरिक विकास की व्याख्या कीजिए।

खण्ड-स : विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

***निर्देश—**निम्नलिखित पाँच प्रश्नों में से किन्हीं **3 प्रश्नों** के उत्तर दीजिए। प्रत्येक प्रश्न **15 अंक** का है। अधिकतम 500-800 शब्दों में विस्तृत उत्तर अपेक्षित हैं।*

9. गृहविज्ञान का परिचय देते हुए गृहविज्ञान का महत्त्व स्पष्ट कीजिए।

अथवा पाचन से क्या तात्पर्य है? आहारनाल के विभिन्न भागों में होने वाली पाचन क्रिया का वर्णन कीजिए।

10. आहार एवं पोषण विज्ञान का महत्त्व एवं उद्देश्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

अथवा भोजन पकाने की आवश्यकताओं का विस्तृत वर्णन कीजिए।

11. वातावरण से आप क्या समझते हैं? वातावरण के प्रकारों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

अथवा भ्रूण के विकास का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

12. गर्भावस्था के लक्षणों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

अथवा शैशवावस्था में शारीरिक विकास की व्याख्या कीजिए। तथा इसकी विशेषताओं पर भी प्रकाश डालिए।

13. बाल्यावस्था से आप क्या समझते हैं? इसकी प्रमुख विशेषताओं का विस्तृत वर्णन कीजिए।

अथवा संज्ञानात्मक विकास के निर्धारक तत्त्वों का विस्तार पूर्वक उल्लेख कीजिए।

❑

TOUCH 'n' PASS